दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

कार्यकारी संपादक

डॉ. पुष्प राज गौतम

प्राचार्य, बी.पी.एस. कॉलेज, भोरे, गोपालगंज

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली–110045

वर्ष : 5 **अंक :** 6 ❑ नवम्बर–दिसम्बर, 2013

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड

डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन

डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरवोरोग, ओन्टारियो

डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग

डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची

डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका

डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना

डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा

डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I, दिल्ली–110091
फोन : 011–22753916, 49050844, 64683387
e-mail : editorialindia@yahoo.com

©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

मूल्य: ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक निर्मल कुंमार सिंह द्वारा WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली–110045 से प्रकाशित तथा प्राइमा प्रिंटर्स, वाई–56, ओखला, औद्योगिक क्षेत्र, फेस–2, नई दिल्ली से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

दिल्ली विश्वविद्यालय के कई महाविद्यालयों में वर्षों बाद प्राध्यापकों की स्थायी नियुक्ति की प्रक्रिया शुरू हो गई है। इसके लिए कुछ महाविद्यालयों में आवेदन पत्र आमंत्रित किए गए हैं। ज्यादातर महाविद्यालयों में अभ्यर्थी की शैक्षणिक और निजी पृष्ठभूमि संबंधी एक समान सूचनाएं मांगी गई हैं। लेकिन कुछ महाविद्यालयों ने अभ्यर्थी से असामान्य सूचनाएं जानने की कोशिश की है। इनमें से एक महाविद्यालय ने पांच सौ शब्दों में अभ्यर्थी से यह जानने की कोशिश की है कि वह किस प्रकार प्राध्यापक पद के लिए सबसे ज्यादा योग्य उम्मीदवार है। सवाल है कि प्राध्यापक के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से निर्धारित मानदंडों से इतर महाविद्यालयों द्वारा अभ्यर्थी से इस तरह की जानकारी प्राप्त करना किस विशेष प्रक्रिया का हिस्सा है। क्या महाविद्यालय अभ्यर्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का आकलन इन पांच सौ शब्दों में करना चाहता है या फिर यह नियुक्ति की प्रक्रिया में होने वाली राजनीतिक पृष्ठभूमि की तैयारी है। चूंकि नियुक्ति उच्च शिक्षा के लिए प्राध्यापकों की है, जिनसे सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक सूझ-बूझ की अपेक्षा होती है। इस प्रक्रिया में अभ्यर्थी की प्राध्यापकीय दृष्टि के लिए चुनौती और खतरे भी हैं, जिनका सामना उसे करना है। महात्मा गांधी ने कहा था- 'शिक्षा जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है तथा अनुभव के द्वारा हमारे जीवन में जो परिवर्तन आते हैं, वे सभी शिक्षा के फलस्वरूप हैं।' महात्मा गांधी का यह कथन शिक्षा को सतत चलने वाली प्रक्रिया मानता है, वहीं खुद गांधीजी शिक्षा को परिवर्तन के नियामक तत्त्व के रूप में रेखांकित करते हैं।

शिक्षा के दूरगामी महत्त्व को देखते हुए राज्य इसे हथियार के तौर पर इस्तेमाल करते रहे हैं। विभिन्न तरह की विचारधाराओं का इस पर जोर रहा है। ये विचारधाराएं अपने अनुरूप शिक्षा की व्याख्या करती रही है। ज्यादातर राज्य सरकारें अपनी दलगत विचारधारा के अनुसार शिक्षा का स्वरूप तय करती रही है। उदाहरण के तौर पर किसी भी विचारधारा का अनुसरण करने वाली सरकारें अपनी विचारधारा और सिद्धान्तों के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था करती रही हैं। इन स्थितियों को देखते हुए कई बार ऐसा लगता है कि विद्यार्थी, राज्य द्वारा संचालित शैक्षणिक मशीनरी के उत्पाद भर हैं। ऐसी शैक्षणिक प्रक्रिया में विद्यार्थी समूह का कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रह जाता।

यह तथ्य है कि दुनिया के सर्वश्रेष्ठ दो सौ विश्वविद्यालयों की सूची में भारत का एक भी विश्वविद्यालय नहीं आता। कई मामलों में इस सूची में हमारे देश के विश्वविद्यालय नीचे ही खिसकते नजर आते हैं। वहीं देश की जनसंख्या की दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप उच्च शिक्षा में जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या विकसित देशों की तुलना में बहुत ही कम है। वहीं भारत में महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की भारी कमी है। ये तमाम तथ्य भारत में उच्च शिक्षा के दरवाजे पर चुनौती के रूप में खड़े हैं। आजादी के सड़सठ वर्षों के बाद भी हम उच्च शिक्षा में अपनी आवश्यकताओं और समस्याओं को न ठीक से समझ पाए हैं, न सुलझा पाए हैं।

दृष्टिकोण

हमारा देश बहुलतामूलक विविधता से भरा हुआ है। इसलिए हमारी समस्याएं पश्चिमी देशों से अलग हैं। हमें इस विविधता के स्वभाव के अनुरूप उसका सम्मान करते हुए अपनी समस्याओं का समाधान ढूंढ़ना चाहिए। यह कोशिश होनी चाहिए कि सम्पूर्णता में हमारी नीतियां सर्व-समावेशी हों। हमेशा से अकादमिक संस्थाएं नए-नए विचारों और सिद्धान्तों की जननी रही है। आज यह सिलसिला लगभग रुक-सा गया है। जरूरत ऐसे क्रांति-धर्म की है जो भारतीय जीवन को परिस्थितियों के अनुरूप सम्पूर्ण व्यवस्था में बदलाव के लिए वैचारिक क्रांति की शुरुआत करे।

संपादक

इस अंक में

इतिहास

भारतीय पुर्नजागरण के जनक: राजा राममोहन राय–शीतांशु शेखर 7
बिहार में कांग्रेस मंत्रिमंडल और किसान आन्दोलन–राजीव कुमार 11
लोककला का उद्‌भव एवं विकास–डॉ० राकेश रंजन 21
प्राचीन काल में नियोग प्रथा–जय प्रकाश भगत 26
वैदिककालीन शिक्षा में संस्कार की प्रासंगिकता (वर्तमान संदर्भ में)–अमित कुमार जायसवाल 31
भारतीय संविधान में राष्ट्रपति शासन की पृष्ठभूमि–गौरव कुमार 35
शीत युद्ध के बाद काश्मीर पर अमेरिकी रुख और भविष्य की भूमिका–चरण दास 39
स्वतंत्रता संग्राम में मुंगेर जिला के किसानों का योगदान: एक अध्ययन–विकास कुमार 44
भारत की सैन्धव सभ्यताओं का सरल आधुनिक विवेचन–डॉ० प्रवीण कुमार 48
भारतीय धर्म की बुनियाद खड़ी है सैंधव काल के धर्म पर–डॉ० रश्मि सिन्हा 55
औपनिवेशिक शासन के अधीन भारतीय अर्थव्यवस्था–डॉ० रितेश कुमार 59

राजनीति विज्ञान

संयुक्त राष्ट्र संघ तथा निरस्त्रीकरण–अमलेष कुमार 64
जातीय चेतना के संदर्भ में डॉ० राम मनोहर लोहिया के विचार–राजेश कुमार 68
भारतीय राजनीतिक चिन्तक विपिनचन्द्र पाल के राजनीतिक विचार–डॉ० मुखलाल राय 72
प्राचीन भारत में मौर्यकालीन राजनैतिक व्यवस्था–विपिन दूबे 79

हिन्दी साहित्य

नेपाली के काव्य में प्रेम–दिवाकर चौधरी 84
हिन्दी कविता में दलित चेतना–डॉ० महेश प्रसाद सिंह 94
भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भारत का योगदान: एक सर्वेक्षण–डॉ० पूजा कुमारी 98
भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में मानव मूल्य–डॉ० प्रमिला यादव 103
डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि में 'निराला' और 'प्रेमचंद'–डॉ० अशोक कुमार सिन्हा 110

संस्कृत

गीता-ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का समन्वय–सुमन्त कुमार 116
द्वैत वेदान्त दर्शन–आशुतोष कुमार 122
श्रीहरिनामामृत व्याकरण: एक विहंगमावलोकन–चित्रा भारद्वाज 136
चिकित्सा विज्ञान एवं नैतिक मूल्य–डॉ० किरण कुमारी 143
अष्टांग योग–डॉ० मनीषा भट्ट 151
भगवद्‌गीता में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान योग की अवधारणा–डॉ० वीरेन्द्र कुमार सिंह 156

दृष्टिकोण

भूगोल

बदलते परिवेश में बिहार का रेशम उद्योग—डॉ० गोपाल कुमार एवं डॉ० संतोष कुमार 160
गिरता भू-जल स्तर: एक भावी समस्या और निदान के प्रयास—डॉ० मौसमी 169
कन्या भ्रूण हत्या: एक सामाजिक, सांस्कृतिक समस्या, कारण एवं निवारण—डॉ० नूतन कुमारी 175
भारत में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग: प्रगति, बाधाएँ तथा भविष्य (फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग के संदर्भ में)—मनोज कुमार 180

वाणिज्य

भाषाओं के आईने में भोजपुरी भाषा की लिपि कैथी लिपि की दशा एवं दिशा—डॉ० अरूप कुमार श्रीवास्तव 196

अर्थशास्त्र

कृषि विविधिकरण एवं औषधीय पौधों की खेती: बिहार के विकास के लिए आवश्यक—मोहन कुमार लाल 204

मनोविज्ञान

कन्या भ्रूण हत्या पर व्यक्तित्व के बहिर्मुखी-अन्तर्मुखी चर का प्रभाव: एक अध्ययन—मधु कुमारी 210

गृहविज्ञान

प्राचीन भारतीय आहार, पोषण का आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता—नीलम कुमारी 214

चित्रकला

छापा चित्रकला (ग्राफिक्स) में निहित हैं असीम सम्भावनाएं—संजीव किशोर गौतम 217

संगीत

लोक-साहित्य एवं लोकगीतों की परम्परा—डॉ० किरण कुमारी 220

शिक्षा

स्वतंत्रतोत्तर भारत में महिला शिक्षा की समस्या—कनक चर्तुवेदी 225

भारतीय पुर्नजागरण के जनक
राजा राममोहन राय

शीतांशु शेखर

यू०जी०सी० (नेट), शोध छात्र, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग
तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

आधुनिक भारत के निर्माण और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अनेक विचारकों, क्रांतिकारियों तथा समाजवादियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यदि राष्ट्रशिल्पियों की शृंखला बनाई जाए तो इसमें राजा राममोहन राय का नाम प्रथम आता है। वे आधुनिक भारत के मंत्रद्रष्टा थे। राम मोहन राय का सामाजिक महत्व ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में इसलिए है कि उनका जन्म भारत के उस संक्रमणकाल में हुआ जब मुगल सल्तनत का सूर्य अस्ताचल की ओर एवं ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में सूर्योदय हो रहा था। इन परिस्थितियों में जहाँ भारतीय समाज चिन्तनविहीन हो गया था और सामाजिक राजनीतिक संक्रमण से गुजरते हुए भारत को एक ऐसी रोशनी के रूप में रूप में राम मोहन राय का उद्‌भव आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में हुआ तथा उनके विचारों एवं कार्यों से भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तेज हुई।

हाँ, इस बात का उल्लेख किया जाना चाहिए कि जब सोलहवीं शताब्दी में यूरोप के राष्ट्रों ने विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का विकास प्रारम्भ किया तो एशिया के लिए यूरोप के सामने खड़ा रहना कठिन हो गया। सोलहवीं एवं सतरहवीं शताब्दियों से एशिया तो यूरोप साम्राज्यवाद का उपनिवेश बन गया। औद्योगिक क्रांति ने उन्हें बहुत मजबूत कर दिया था। अठारहवीं शताब्दी एवं उन्नींसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में एशियाई देशों में विशेषकर भारत में राजनीतिक जर्जरता, आर्थिक गिरावट, सामाजिक गतिहीनता, अशिक्षा, कुरीतियाँ तथा सांस्कृति पराभव के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत पर अधिपत्य जमा लिया।[1]

जिस प्रकार इटली के पुनर्जागरण और जर्मनी के धर्मसुधार आंदोलन यूरोपीय राष्ट्रवाद उदय के लिए बौद्धिक आधार का काम किया था उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत्त तथा आत्मनिर्भर पर आधारित राजनीतिक जीवन की आकांक्षा उत्पन्न की। भारतीय आत्मा के जागरण के पीछे दर्शन, धर्म तथा सांस्कृतिक आत्मचेतना का योगदान रहा है। भारतीय पुनर्जागरण में मूलत: नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं का समावेश रहा तथा यह बताने का प्रयास किया गया कि भारतीय अतीत समृद्ध रहा है उसे पुनर्जीवित करने की बलवती इच्छा की आवश्यकता है और पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ।[2]

इस प्रकार यूरोप का पुनर्जागरण ही भारत के नवजागरण का संदेश लाया। जहाँ एक ओर पाश्चात्य संस्कृति/भौतिकवाद, के चकाचौंध में नवयूरोपीय भारतीयों ने देश की आध्यात्मिक सत्ता को चुनौती दी और पश्चिमी आचार-व्यवहार को सब कुछ समझा, वहीं भारतीय विचारकों में अकेल राम मोहन राय ने ढकोसलों, कुरीतियों और अंधविश्वासों के विरूद्ध जेहाद छेड़ा। भारत की युगों पुरानी अस्वस्थ रूढ़ियों एवं परम्पराओं पर कटु प्रहार किया जाने लगा जिससे देश की सोई हुई आस्था अंगराई ले उठी। राम मोहन राय तथा उनके बाद के विचारकों ने भारतीय जनजीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में कोई कसर न उठा रखी। बौद्धिकवाद ने भारत में वैज्ञानिक चिंतन का सूत्रपात किया।[3]

भारत में पुनर्जागरण सर्वप्रथम बौद्धिक ही रहा जिसने हमारी साहित्य, शिक्षा एवं विचारधारा को प्रभावित किया। दूसरे चरण में पुनर्जागरण एक नैतिक शक्ति हो गया जिसका हमारे धर्म और समाज पर सुधारात्मक प्रभाव पड़ा। तीसरे चरण के पुनर्जागरण ने भारत का आर्थिक, राजनीतिक और आधुनिकीकरण करने का प्रास किया और चौथे चरण में राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की।[4] यद्यपि भारत में पुनर्जागरण की लहर पाश्चात्य सम्पर्क के कारण आई, परन्तु आध्यात्मिक चेतना और गौरवशाली अतीत मूल्यों के कारण भारतीय पुनर्जागरण यूरोपीय पुनर्जागरण से बहुत भिन्न थी। वैसे इस पुनर्जागरण की लहर व्यवहार के धार्मिक सामाजिक क्षेत्रों में तो आई ही और इसने सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों का सूत्रपात किया। जिसका समाज पर व्यापक असर पड़ा और सामाजिक परिवर्त्तन तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ। इस परिवर्तन का नेतृत्व किया- समकालीन चिंतक, विचारक, नेता राजा राम मोहन राय ने।[5]

हम देखते हैं कि जहाँ यूरोप में पुनर्जागरण हेतु ढेर सारे कवि, कलाकार, विद्वान, वैज्ञानिक थे, वहीं भारत में अकेले पुनर्जागरण का शंखनाद राम मोहन राय ने फूँका। नवजागरण की भावना को भारतीय स्वरूप प्रदान करने वाले राममोहन राय ने एक बार पादरी एलेक्जंडन ङ से कहा था कि "मुझे लगता है कि यूरोपीय रेनांसां के सामानांतर कुछ भारत में भी घटित हो रहा है।"[6] राममोहन राय ने सबसे प्रथम कार्य किया बंगला, अंग्रेजी में अनुवाद का। जिसमें वेदान्त सूत्र, वेदांत सार, कठोपनिशद्, मण्डुकोपनिशद थे। राम मोहन राय ने उपनिशद् के अद्वैतवाद और वैदिक एकेश्वरवाद की श्रेष्ठता को प्रभावित किया ताकि लोगों का ध्यान व ज्ञान इन पुस्तकों की ओर बढ़े तथा सच्चाई की जानकारी हो सके।

राम मोहन राय ने ज्ञात्मीय सभा की स्थापना करके सती प्रथा बहु विवाह, कन्या विक्रय, जाति-भेद, पति और पति की सम्पत्ति में नारी का समानाधिकार जैसे मूल प्रश्नों पर सफलतापूर्वक आंदोलन का नेतृत्व किया। यहाँ यह नोट करने लायक है कि पुनर्जागरण काम भारत के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेस की स्वाधीनता के लिए माना जाता है। लार्ड सेसिंग सिस्टम के विरूद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील करने वाले भारतीय विचारक राम मोहन राय कही थे और विरोध स्वरूप फारसी अखबार मिरातउल अखबार बंद कर दिया। उन्होंने संवाद कौमुदी (बंगला) दि बंगाल गजट "बंगाल होराल्ड" (अंग्रेजी) बंगदूत का प्रकाशन किया। भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता व संस्थापकों में राममोहन का महत्वपूर्ण स्थान है। राम मोहन राय युग से बहुत आगे थे वे आधुनिक भारत के स्वप्नद्रष्टा थे। शायद राममोहन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इतिहास की पगध्वनि को पहचान कर अनुभव किया कि देश को आधुनिक बनाने के लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विषयों पर

इस देश की आवश्यकताओं के अनुरूप विचार करना होगा। अंग्रेजी और वैज्ञानिक शिक्षा के लिए जी-तोड़ कोशिश के साथ भारतीय वांड्मय को आधुनिकीकरण की ओर मोड़ा। राम मोहन ने अंग्रेजी, बंगला में ही नहीं अपितु हिन्दी में भी महत्वपूर्ण अनुवाद प्रकाशित कराये।[7]

पूर्व और पश्चिमी की विचारधाराओं के चौराहे पर खड़े होकर राम मोहन एक युग प्रतिनिधि के रूप में उभरे। राममोहन के सामने तक तरफ तो पश्चिम का उपयोगवादी बुद्धिवाद तो दूसरी ओर सूफी रहस्यवाद का इस्लामी दर्शन और तीसरी ओर ईसा मसीह के जीवन की नीति कथा और करूणाधारा का प्रबल वेग था। राममोहन के सामने ये सभी तत्व थे। जब पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की बाढ़ आई तो राम मोहन को चिंता हुई कि भारत को कैसे बचाया जाए। कहीं इस आधुनिकता के दलदल में हमारा भारतवर्ष फँस तो नहीं जायेगा। नवजागरण के अग्रदूत के रूप में राममोहन विरोधात्मक भावनाओं के समन्वय की अनोखी चेष्टा कर रहे थे।[8]

मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में तथा आधुनिकता के इस युग प्रवर्तन की प्रक्रिया के मूल में जिस सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता थी उसके बार में राममोहन के विचार अति स्पष्ट थे। वे पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से अति प्रभावित थे तथा उनके ज्ञान की दृष्टि पश्चिमी जगत के उस दरवाजे तो पहुँचती थी जहाँ से उस ज्ञान का प्रकाश बाहर निकलता था। यूरोप की बुर्जुआ श्रेणी के उद्भव और उनकी पूँजीवादी औद्योगिक अर्थनीति और शासन व्यवस्था के आमूल परिवर्तन का इतिहास था। इस परिवर्तन के इतिहास का ज्ञान राममोहन राय को था। यह परिवर्तन असाधारण परिवर्तन उस समाज व राष्ट्र को भी था, यह एक सामाजिक, आर्थिक क्रांति थी और यहाँ से बुर्जुआ वर्ग का जन्म हुआ। बुर्जुआ वर्ग के उदय से ही मध्ययुगीन सभ्यता का आधुनिकीकरण हुआ। राममोहन राय इस सामाजिक परिवर्तन से भली-भांति परिचित थे।[9]

भाग्यवाद और कर्मफल के बीच फंसे भारतीय जनमानस को जन्मान्तर के इस अंधेरी कोठरी से बाहर निकलने की कसमसाहट और अकुलाहट होने लगी थी, कारण स्पष्ट था कि पाश्चात्य सभ्यता और मुक्तिवादी हवा का शीतल भारतीय को चखने को मिल गया था। 1803-1804 को राममोहन की कृति "तुहफात-उल-मुहाबुद्दीन" इस नवीन भावना की प्रेरणा बनी इसमें राममोहन ने ऐकेश्वरवाद पर आधारित सर्वाभौम धर्म के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। राममोहन राय का विचार है कि मनुष्य को अपने विवेक शक्ति द्वारा धार्मिक विश्वासी तथा अनुभवों का विश्लेषण करना चाहिए। संसार के सभी धर्मों में कुछ अच्छी बाते हैं कुछ निदंनीय। सभी धर्मों के श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण कर लेना चाहिए। अंधविश्वास, अज्ञान तो पैदा होते हैं। चमत्कारों में विश्वास नहीं करना चाहिए। मनुष्य अपनी आंतरिक चेतना से ईश्वर के संदेश को समझ सकता है।[10]

हेमचंद सरकार के शब्दों में "राममोहन राय न तो पूर्णतया हिन्दू थे और न तो अनन्य रूप से एक ईसाई थे, वरन् दोनों से ही कुछ अधिक बड़े और उदात्त थे। वे अतीत के हिन्दू धर्म के मार्ग को, ईसाई धर्म की ओर नहीं वरन् उनके बीच में से निकलकर वैश्विक आध्यात्मिक ईश्वरवाद की ओर ले गए जिसमें हिन्दू धर्म तथा ईसाई धर्म दोनों के पहलू मूल्यवान तथा प्रेरणा तत्वों को समावेश था।"[11] हेमचंद सरकार आगे कहते हैं कि "सच्चा हिन्दू धर्म, सच्चा इस्लाम तथा सच्चा ईसाई धर्म राजा के हार्दिक धार्मिक विशिष्टता के निकट थे। वह अपने पूर्वजों के धर्म अर्थात हिन्दू धर्म से कभी विमुख नहीं हुए, परन्तु उसके मूल विपुलता को पुनः प्रतिष्ठित करने का साहस निरंतर करते रहे।"[12]

पाश्चात्य ज्ञान और विदेशी शासन के गुणों के तात्कानिक एवं दीर्घकालीन लाभ को ध्यान में रखकर राममोहन राय ने नवजागरण की जिस मशल को प्रज्ज्वलित करने में अपने सूक्ष्म राजनीतिक और सामाजिक सूझबूझ का परिचय दिया वह उस काल तथा परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक था। आगे चलकर उनकी इस विचारधारा में स्वतंत्रता संग्राम के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। राममोहन राय का प्रभाव गांधी जी की राजनीति में देखने को मिलता है।

समीक्षा की दृष्टि से देखा जाए तो राजा राममोहन राय युग के सबसे महत्वपूर्ण आकर्षक किन्तु विवादास्पद व्यक्तित्व रहे। पश्चिमी ज्ञान के प्रणेता के रूप में जहाँ उन्हें प्रशंसा मिली वहाँ भारी विरोध का भी सामना करना पड़ा। तमाम विद्वानों के विचारों, तत्कालीन इतिहास और सामाजिक चेतना के विश्लेषण के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजा राममोहन राय का प्रादुर्भाव उस काल में समाज सुधारक के रूप में हुआ होता तो आज जो भारत का स्वरूप खड़ा है वह नहीं होता। हम कम से कम दो सौ वर्ष पीछे आज के आधुनिक भारत से होते। इसलिए उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता कहा जाता है। यदि इतिहासकारों ने उन्हें अति स्पष्टदर्शी, धार्मिक, सामाजिक नेता और अनुगामी राजनीतिक विचारक माना है तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं है। एक समाज सुधारक, राजनीतिक विचारक और शिक्षाविद् के रूप में उन्होंने सभी समस्याओं के लगभग सभी आयामों को छूआ और उनके निदान भी प्रस्तुत किया आज के भारत में पुनर्जागरण के उपरांत जो भी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ है वह राममोहन के विचारों एवं कार्यों के नींव पर खड़े विशाल भारत का आधुनिक महल है। राममोहन की परम्परा में दयानन्द सरस्वती, बंकिमचन्द, विवेकानन्द, सुरेन्द्रनाथ, विपिन चन्द्र पाल, गोखले, तिलक, अरविन्द, गाँधी, नेहरू, इंदिरा, राजीव ने देश की वैचारिक और स्वाधीनता की नींव डालने में सक्षम हो सके।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. इकबाल सिंह, *राममोहन रायः ए बायोग्राफिकल इन्क्वायरी इन टू दि मेकिंग ऑफ मार्डन इंडिया,* सेकेन्ड रिवाईज्ड एडिशन, (एडिशन पब्लिकेशन, बम्बई), पृ॰-63.
2. मिनी ठाकुर, *राजा राम मोहन रायः हिल सोशल, पालिटिकल एण्ड इकोनॉमिक आईडियाज* (दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 1990), पृ॰ 89-96.
3. अमरेन्द्र अवस्थी, *आधुनिक भारतीय सामाजिक चिन्तन* (रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर 1991), पृ॰-91.
4. उपरोक्त, पृ॰-101.
5. मणि बागची, *राममोहन* (जिज्ञासा, कलकत्ता, 1958), पृ॰-32.
6. उपरोक्त,
7. कार्तिक चन्द दत्ता, *राजा राममोहन रायः जीवन दर्शन* (लोक भारत प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993), पृ॰-363.
8. विश्व प्रकाश गुप्त एवं मोहिनी गुप्त, *राजा राममोहन रायः व्यक्तित्व और विचार* (राधा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली, 1996), पृ॰-56.
9. उपरोक्त।
10. विश्व प्रकाश गुप्त (1996), पृ॰-57.
11. उपरोक्त, पृ॰-55.
12. वही।

बिहार में कांग्रेस मंत्रिमंडल और किसान आन्दोलन

राजीव कुमार

यू०जी०सी० (नेट-जे० आर०एफ०), शोध छात्र, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग
तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

भारत सरकार अधिनियम 1935 के अंतर्गत 22 से 27 जनवरी, 1937 के बीच बिहार में विधानसभा का चुनाव हुआ। इस चुनाव में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। प्रारम्भ में नीतिगत मतभेद के कारण अपने बहुमत वाले प्रांतों में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल गठन करने से इंकार कर दिया था किंतु, काफी बहस के बाद सरकार द्वारा यह आश्वासन प्राप्त होने पर कि गवर्नर मंत्रिमंडल के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षप नहीं करेंगे, कांग्रेस ने मंत्रिमंडल का गठन करने का भार स्वीकार किया। फलस्वरूप, 20 जुलाई, 1937 को श्री कृष्णसिंह के नेतृत्व में बिहार में प्रथम कांग्रेस मंत्रिमंडल का गठन हुआ। 'मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य थे अनुग्रह नारायण सिंह, सैयद महमूद और जगलाल चौधरी। आठ संसदीय सचिव भी नियुक्त किये गये थे एवं रामदयालु सिंह विधान सभा के अध्यक्ष एवं प्रो॰ अब्दुल बारी उपाध्यक्ष निवाचित हुए।[1]

कांग्रेस की भारी जीत और मंत्रिमंडल के गठन से आम जनता में उत्साह का नया वातावरण छा गया था।[2] और जनता की आशाएँ और आकाँक्षाएँ जाग पड़ी थीं। खासतौर पर किसानों को नये मंत्रिमंडल से बड़ी-बड़ी आशाएँ थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि बिहार में कांग्रेस का नेतृत्व प्रारंभ से ही किसान आंदोलन किसान आंदोलन में महात्मा गांधी की भूमिका, 1922-1923 में श्रीकृष्ण सिंह एवं शाह मुहम्मद जुबैर के नेतृत्व में किसान संगठन की पहली शुरूआत पुनः 1928-29 में बिहार प्रांतीय किसा सभा का गठन, जिसके अध्यक्ष स्वामी सहजानंद सरस्वती तथा सचिव श्री कृष्ण सिंह थे, कांग्रेस और किसान सभा के नेताओं द्वारा राज्यव्यापी पैमाने पर सरकारी और जमींदारी शोषण के खिलाफ किसानों को जागृत करने का प्रयास, प्रदेश कांग्रेस द्वारा किसानों की दशा की जांच के लिए श्री राजेंद्र प्रसाद की अध्यक्षता में 'किसान जांच समिति' की स्थापना और फैजपुर कांग्रेस द्वारा किसानों की मांग से संबंधित घोषण पत्र का प्रकाशन, 1937 के चुनाव के अवसर पर किये गये वादों ने जनता में सही ही यह आशा जगायी थी कि कांग्रेस मंत्रिमंडल उनको राहत दिलाने के लिए ठोस कदम उठाएगा।

बिहार सरकार ने किसानों को राहत दिलाने के लिए "नहर-टैक्स" की अदायगी के लिए नया कानून बनाया जिसे "मॉडीफाइड सेंट्रल सिस्टम ऑफ कलेक्शन" कहा गया। चीनी उद्योग और चीनी

किसानों की सुविधा के लिए क्रमशः दी सूगर फैक्ट्री कंट्रोल एक्ट और बिहार मनी लैंडर्स एक्टस बनाया गया। कांग्रेस मंत्रिमंडल का किसानों की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कार्य था "बिहार काश्तकारी (संशोधन) कानून" पारित करवाना। बिहार के जमींदारों ने प्रस्तावित काश्तकारी संशोधन विधेयक जबर्दस्त विरोध किया और 13 सितम्बर, 1937 को पटना में अपनी एक बैठक में विधेयक के खिलाफ "सिविल डिसओबिडिएंस पैसिव रेसिस्टेंस" तक जाने की बात की। अंततः कांग्रेस और जमींदारों के बीच एक समझौता हो गया और यह विधेयक विधानसभा में आसानी से पास हो गया। इस समझौता में बिहार विधानसभा में विपक्ष के नेता तथा जमींदारों के प्रतिनिधि गणेशदत्त सिंह और कांग्रेस की ओर से राजेंद्र प्रसाद ने प्रमुख भूमिका अदा की। नये काश्तारी कानून के अंतर्गत किसानों को निम्नलिखित राहत दी गयी थी।[3]

1. रैयतों को सह रैयतों के मध्य बंटवारा की सुविधा दी गयी है। जमींदार उसे मान्य समझेंगे। यदि जहाँ जमींदार को बंटवारा के फलस्वरूप अन्य रैयतों के बीच मालगुजारी के आवंटन पर कोई आपत्ति होगी तो वह होलडिंग की मालगुजारी के आवंटन के लिए कलक्टर के पास आवेदन कर सकता है।
2. पहले के काश्तकारी कानून में अदालत को भावली से नकदी करने की दरखास्त को स्वीकार करने या नहीं करने की छूट थी। नये कानून में दरखास्त देने पर अदालत उसे अस्वीकार नहीं कर सकती थी। लेकिन जमींदार की दरखास्त पर यदि रैयत को आपत्ति हो तभी अदालत को उस दरखास्त को स्वीकार करने या नहीं करने का अधिकार था।
3. रैयत द्वारा फसल के अनुमानित मूल्य पर भावली मालगुजारी चुकाने की व्यवस्था, जिसे दानाबंदी कहा जाता था, लोकप्रिय नहीं रह गया था, उसे उठा दिया गया। कानून पारित होने के दिन से दानाबंदी वाली सभी किसानों की फसल में बंटवारा के द्वारा मालगुजारी चुकायी जाएगी। इसमें प्रति मन रैयत को 22 सेर और जमींदार को 18 सेर की दर से मिलेगा। सरकार द्वारा अधिसूचना जारी करके कलक्टर मालगुजारी निश्चित करने का काम शुरू करेगा। इसके लिए जमींदार या रैयत की दरखास्त जरूरी होगी या वह खुद भी शुरू कर सकता था।
4. बाकी मालगुजारी पर सूद का दर 12 प्रतिशत प्रति वर्ष से घटा कर सवा प्रतिशत प्रति वर्ष कर दी गयी, नुकसान का भुगतान करने की दर मालगुजारी के 25 प्रतिशत तक थी। इसको समाप्त कर दिया गया है।
5. अबबाब की बसूली गैर-सरकारी बना दी गयी। इसका उल्लंघन करने पर छह महीने की सादी कैद या 500 रुपये जुर्माना तक या दोनों की सजा मिल सकती है।
6. विश्वव्यापी मंदी जो 1929 में शुरू हुई उसके कारण खेती के उत्पादन का मूल्य 50 प्रतिशत तक घट गया है। वर्तमान दर से मालगुजारी का भुगतान करना रैयतों के लिए कठिन हो रहा है, खास करके जहाँ अदालत द्वारा या निजी तौर पर, पुराने कानून की धारा-40 के अंतर्गत मालगुजारी बढ़ायी गयी है अथवा 1911 के खाद्यान्नों के ऊँचे मूल्यों के आधार पर जहाँ नई बंदोबस्ती में ऊँची मालगुजारी दरें निर्धारित की गई है। ऐसे उदाहरण

भी हैं जमींदारों द्वार सिंचाई की व्यवस्था करने के आधार पर ऊँची मालगुजारी दरें निर्धारित की गयी थी, किंतु अब जमींदारों के नहीं ध्यान देने से सिंचाई की व्यवस्था टूट गयी है, फिर भी उन्हीं दरों पर मालगुजारी वसूली जा रही है। ऐसे मामलों में रैयतों को राहत पहुंचाने के लिए कानून में एक नई धारा-122 (अ) जोड़ दी गयी है। इसके अनुसार अब रैयत (क) 1911 और 1936 के बीच लगान में जो भी इजाफा किया गया हो उसे खत्म करने के लिए दरखास्त दे सकते हैं। (ख) दफा 40 के अंतर्गत या 1911 से 1936 के बीच आपसी सहमति से जो नगदी मालगुजारी दरें निर्धारित की गयी हैं उनमें खाद्यानों के दाम के अनुपात में कमी की जाएगी, (ग) खेत में बालू पड़ जाने, पानी जमा होने या जमींदार द्वारा सिंचाई की व्यवस्था पर ध्यान नहीं देने के कारण जहाँ कहीं मिट्टी की उर्वरा शक्ति कम हो गयी हो वहाँ मालगुजारी को अंशतः या पूरा माफ करने के लिए दरखास्त दी जा सकती है, (घ) यदि मूल्यों में ऐसे कारणों से गिरावट, जो स्थायी नहीं हो, आयी हो तो मालगुजारी कम करने के लिए दरखास्त दी जा सकती है। सरकार द्वारा अधिसूचना जारी करके जिलाधिकारी उपर्युक्त सभी मामलों में तथा ऐसे मामलों में जिन्हें गवर्नर पर्याप्त समझकर, अधिसूचना जारी करे, जिलाधिकारी कार्यवाही शुरू कर सकते हैं।

7. बांकी मालगुजारी की वसूली के लिए अब यदि जिस जमीन की बांकी मालगुजारी के लिए डिग्री हुई हो उसकी जब्ती और विक्रय के डिक्री की रकम का भुगतान नहीं किया जा सके तो भी रैयतों को कैद नहीं किया जा सकता और बिना उसकी लिखित सहमति के उसकी चल सम्पत्ति जब्त नहीं की जा सकती।
8. मालगुजारी के लिए दखरदेहानी करने के सिलसिले में खेत के विक्रय के संबंध में अब उतनी ही जमीन को विक्रय के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है जो डिग्री की रकम के भुगतान के लिए काफी हो। कितनी जमीन बेची जाएगी तथा उसका अनुमानित मूल्य फरीकों की बातें सुनकर अदालत निर्धारित करेगी। विक्रय-पत्र में निर्धारित दाम से कम पर कोई जमीन या उसका भाग नहीं बेचा जाएगा।
9. बांकी मालगुजारी की डिक्री कार्यान्वित करने के लिए किसी रैयत या अवर रैयत का घर या बाड़ी-झाड़ी नहीं बेची जाएगी। ऐसे मामलों को छोड़कर जहाँ पर मकान के संबंध में ही बांकी मालगुजारी की डिग्री हुई हों।''

बिहार सरकार काश्तकारी (संशोधन) कानून (1938) के अंतर्गत बिहार काश्तकारी कानून की वे धाराएँ निरस्त कर दी गयीं जिनके अंतर्गत जमींदार से बांकी मालगुजारी की वसूली के लिए सर्टिफिकेट जारी कराने का अधिकार था। इसके अंतर्गत जमींदारों की हस्तांतरण फीस (सलामी) उठा दी गयी और जलकर, फलकर तथा बगानों के संदर्भ में रैयतों के अधिकार निर्धारित कर दिये गये। चम्पारण कृषि संशोधन कानून और छोटानागपुर कृषि संशोधन कानून पारित करके स्थानीय किसानों को राहत पहुंचायी गयी। चम्पारण कृषि संशोधन कानून के अंतर्गत रैयतों को नील उपजाने के दायित्व से मुक्त करने के बदले में किया गया इजाफा समाप्त कर दिया गया। छोटानागपुर काश्तकारी संशोधन कानून के द्वारा 1908 के छोटानागपुर काश्तकारी कानून की कुछ धाराओं के कारण जो कुछ

कठिनाइयाँ थीं उनमें कुछ को दूर किया गया तथा रैयतों को कुछ सुविधाएँ दी गयीं एवं अपनी जमीन हस्तांतरित करने का कुछ सीमित अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त एवं अन्य कानून के द्वारा मंदी के दिनों में बांकी मालगुजारी के लिए बिक्री, जमीनों की वापसी तथा उस अवधि के मालगुजारी माफी करने की व्यवस्था की गयी।

कांग्रेस मंत्रिमंडल द्वारा उठाये गये कदम किसानों की आशाओं और आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सके। किसानों का असंतोष और भड़क उठा। किसान सभा के नेतृत्व में नये शक्तिशाली किसान आंदोलन उठ खड़े हुए। फलत: किसान सभा और कांग्रेस का संबंध कदु होता गया। दोनों ओर से खुली और कटु आलोचनाएँ होने लगी। प्रदेश कांग्रेस समिति द्वारा कांग्रेस जनों को किसान सभा के कार्यक्रमों में शरीक होने पर पाबंदी लगायी गयी और कांग्रेस सरकार द्वारा किसान आंदोलन के विरूद्ध दमनात्मक कारवाइयाँ की गयी। यह स्थिति क्यों और कैसे विकसित हुई उस पर विचार करने की जरूरत है।[4]

कांग्रेस इंक्वायरी कमिटी

यह सही है कि कांग्रेस के नेताओं ने बिहार में किसानों को विभिन्न प्रकार की राहत दिलाने के लिए किसान सभा के माध्यम से कार्य किया था और सविनय अवज्ञा आंदोलन के काल में किसानों को चौकीदारी बंद करने का आह्वान किया था तथापि यह भी सही है कि अखिल भारतीय स्तर पर और प्रांतीय स्तर पर भी कांग्रेस संगठन में जमींदारों का अच्छा-खासा प्रभाव था। साथ ही कांग्रेस के नेताओं का यह विचार था कि अभी साम्राज्यवाद के विरूद्ध सभी वर्गों को साथ लेकर चलना है। वे किसानों का समर्थन वहीं तक करना पसंद करते थे जहाँ तक उसकी टकराहट सीधे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से थी। वे सभी किसानों और जमींदारों के बीच किसी प्रकार का व्यापक संघर्ष नहीं चाहते थे।[5]

1936 के आम चुनाव निकट आने तक किसानों के असंतोष ने व्यापक रूप धारण कर लिया था। अत: किसानों की भावना को अपने साथ लाने के लिए प्रदेश कांग्रेस समिति ने राजेंद्र प्रसाद[6] की अध्यक्षता में एक "किसान जाँच समिति" की स्थापना की थी (25 जनवरी, 1936)। इस समिति में श्री कृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह जैसे कांग्रेस के उच्चकोटि के नेता और बलदेव सहाय जैसे प्रमुख एडवोकेट सदस्य थे।[7] इस जांच समिति ने राज्य का व्यापक दौरा किया। जहाँ कहीं भी गये किसानों की उपस्थित भीड़ से उनकी शिकायतें सुनी और आम सभाओं में इन नेताओं ने भाषण भी दिया। किसानों और किसान नेताओं को यह आशा थी कि कांग्रेस के चोटी के नेताओं द्वारा की गयी जांच समिति की रिपोर्ट किसान आंदोलन के लिए लाभदायक होगी और जब ये ही सारे नेता 1937 के चुनाव में चुनकर आ गये और उनकी सरकार का गठन भी हुआ तो निश्चित तौर पर उन्हें और भी अधिक आशा हुई होगी।[8]

बिहार सरकार ने "कांग्रेस जांच समिति" की स्थापना के साथ ही अपेन सभी कमिश्नरों और कलक्टरों को यह आदेश दिा था कि वे प्रत्येक जिले में जांच समिति की कार्यवाहियों और उससे उत्पन्न प्रभाव के संबंध में विस्तृत रिपोर्ट भेजें।[9] विभिन्न जिला कलक्टरों ने जो रिपोर्ट भेजी है उसका अध्ययन बड़ा ही दिलचस्प है। प्राय: सभी ने एक मत से इस बात को स्वीकार किया है कि जांच

समिति का मुख्य उद्देश्य किसानों की वस्तुस्थिति को जानना या उसके निराकरण का उपाय ढूंढना उतना नहीं था जितना आने वाले चुनावों में कांग्रेस के लिए वोट प्राप्त करना था। आमतौर पर सभी जगहों में इन नेताओं के आम सभाओं में या किसानों से बातचीत में इस बात पर जोर दिया गया कि वे कांग्रेस को वोट दे और कांग्रेस जब सत्ता में आ जाएगी तब उनकी सभी शिकायतें दूर कर दी जाएंगी।[10]

अपनी रिपोर्टों में इन कलक्टरों ने यह भी स्वीकार किया है कि जांच समिति के दौरे से किसानों में जागृति आयी है और उन्हें जमींदारों के खिलाफ संगठित होने की प्रेरणा दी है, किंतु उन्हीं रिपोर्टों से यह भी पता चलता है कि कांग्रेस के ये नेता प्रारंभ मे ही किसानों की मांगों के संबंध में उतनी दिलचस्पी नहीं रखते थे जितनी वे आगामी चुनावों में वोट बटोरने में रखते थे। शाहाबाद के कलक्टर विलियम्स ने पटना के कमिश्नर को लिखा था कि "कांग्रेस नेताओं का भाषण जमींदारों के खिलाफ उस तरह का हमला नहीं था जैसा कि स्वामी सहजानंद की सभाओं में हुआ था।" उन्होंने यह भी लिखा था कि, कुछ जमींदारों के माध्यम से उन्हें यह ज्ञात हुआ है कि वस्तुत: इन नेताओं का उद्देश्य ये रहा है कि स्वामी सहजानंद के भाषणों के प्रभाव को कम किया जाय और जमींदारों को यह विश्वास दिलाया जाय कि कांग्रेस रैयतों को कुछ राहत अवश्य दिलाना चाहती है। लेकिन वह जमींदारी के खिलाफ नहीं है। कलक्टर ने तो यहाँ तक लिखा है कि नि:संदेह जांच समिति का उद्देश्य स्वामी सहजानंद के हाल के दौर के प्रभाव को खत्म करना और यह दिखलाना रहा है कि कांग्रेस अभी भी भद्र लोगों की संस्था है औ उसे कम्युनिज्म जैसी चीज से कुछ लेना-देना नहीं है। कलक्टर ने यह भी लिखा है कि बहुत से जमींदारों ने इस बात पर राहत की सांस ली है कि कांग्रेस को कम्युनिज्म से कुछ लेना-देना नहीं है और सम्भवत: बाबू राजेंद्र प्रसाद के व्यक्तिगत विचारों ने उन्हें काफी आश्वस्त किया।[13]

कलक्टर ने अपनी टिप्पणी में यह भी लिखा है कि समिति के सदस्यों को किसानों की कुछ प्रमुख मांगों के प्रति अपना मौखिक समर्थन तो देना ही था लेकिन उनकी भाषा आश्चर्यजनक रूप से संयत थी। यह भी उल्लेखनीय है कि कुदरा में बाबू राजेंद्र प्रसाद के भाषण से ऐसा लगता है कि किसान यदि चाहें तो बंगाल टेनेंसी एक्ट के माध्यम से ही उनकी सारी दिक्कतें दूर हो सकती है और संभवत किसी नये कानून की जरूरत नहीं है। रिपोर्ट में कहा गया है कि समिति के सदस्य डेहरी में डालमियाँ के यहाँ ठहरे थे और यह सोचने की बात है कि वहाँ उन नेताओं के भाषण में गन्ने की अधिक कीमत की मांग की कोई चर्चा नहीं थी। अंत में कलक्टर ने कांग्रेस किसान जांच समिति के इस इरादे पर भी संदेह प्रकट किया है कि वस्तुत: उसका उद्देश्य किसानों के हित में कुछ करने का था।[14] पुर्णियां के कलक्टर ने भी अपनी रिपोर्ट में कहा है कि जांच समिति का मुख्य उद्देश्य चुनाव प्रचार है। समिति ने यहाँ केवल बड़े काश्तकारों से ही संबंध स्थापित किया है जबकि पुर्णियां में जमींदारों से अधिक से बड़े काश्तकार ही किसानों का अधिक शोषण करते हैं। छपरा के कलक्टर ने भी अपनी रिपोर्ट में कह है कि जांच समिति के दृष्टिकोण से यह बात साफ नहीं होती कि वह जमींदारों के खिलाफ किसानों का समर्थन कर रही है या किसान और जमींदारों को मिलाकर सरकार के खिलाफ खड़ा करना चाहती है। उसका कहना है कि अनुग्रह नारायण सिंह के भाषण का मुख्य मुद्दा यह था कि किसनों और जमींदारों को मिलकर सरकार से लड़ना चाहिए।

कांग्रेस किसान जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट तैयार नहीं की, सारे कागजात कांग्रेस दफ्तर में बंधे रह गये और बाद में मंत्रिमंडल गठन के पश्चात् किसानों की समस्याओं के प्रति उनके रूख में जो परिवर्तन आया वह आकस्मिक नहीं था। शाहाबाद के कलक्टर और अन्य जगहों के कलक्टरों ने भी कांग्रेस नेताओं की मंशा का यथासंभव सही मूल्यांकन किया था।

स्वामी सहजानंद ने कांग्रेस नेताओं के बदलते हुए रुख की चर्चा करते हुए लिखा है, "जब कि दो बार बड़े-बड़े प्रदर्शन पटना में हो गये जिसमें लाखों किसान आये तो बाद में मुलाकात होने पर प्राइम मिनिस्टर ने मुझसे कहा है कि स्वामी जी, इस हंगामें से सजग रहिए मैं चुपचाप सुनता रहा मगर भीतर-भीतर सोच रहा था कि एक दिन इसी किसान समूह को वे "मास" नाम से पुकारा करते थे आज वही "मॉब" हो गया। ये किसान समूह पहले भी "मॉब" थे। बीच में प्रयोजनबस "मॉब" के बदले "मास" बने। फिर वहीं "मॉब" के "मॉब" रह गये क्योंकि अब शायद इनकी जरूरत इन नेताओं को नहीं और जिनकी जरूरत नहीं उन्हें इसी नाम से निहत स्वार्थ वाले सदा पुकारते चले आये हैं।[17] किसान सभा के प्रमुख नेता पं. यमुना कार्यों की जीवनी लेखक विजय किशोर ने लिखा है, बिहार कांग्रेस विधायक दल पर जमींदारों का प्रभाव तो था ही उसमें कोई बड़ा जमींदार चाहे नहीं रहा हो, लेकिन मझोले एवं छोटे जमींदार तो थे ही, फिर कुछ शीर्ष नेताओं की बड़े जमींदारों से गहरी छना भी करती थी, ऐसे कांग्रेसी नेता इस भ्रम के भी शिकार थे कि जमींदारी उन्मूलन अथवा किसान को राहत दिलाने का कार्य देश के स्वतंत्र होने से पहले आरंभ करने का अर्थ आजादी की लड़ाई को कमजोर बनाने वाला प्रमाणित हो सकता है।[18]

यह उल्लेखनीय है कि 1937 के चुनाव के समय कांग्रेस के टिकट के बंटवारे के समय किसान सभा के लोगों के लिए भी आठ सीटें निर्धारित की थी और चुनाव में ये सभी जीतकर आ गये थे। कांग्रेस विधायक दल के भीतर किसान सभा के इस गुट के नेता युगल किशोर सिंह और उप नेता यमुना कार्यी थी। इन नेताओं ने प्रधानमंत्री से यह निवेदन किया था कि वे स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करें कि साल दो साल के भीतर सरकार किसानों के हित में कौन-सा कदम उठाने जा रही है। किंतु कांग्रेस विधायक दल में जमींदार लॉबी का प्रभाव होने के कारण प्रधानमंत्री कोई वादा करना नहीं चाहते थे।[19] असंतुष्ट होकर किसान सभा के नेताओं ने जनमत द्वारा दबाव डालने के लिए किसान प्रदर्शन का आयोजन किया। 23 अगस्त, 1937 को पटना गांधी मैदान में 50,000 किसानों का प्रदर्शन हुआ। किसानों का जुलूस विधानसभा भवन तक गया।[20] कांग्रेस के सभी किसान-सभायी विधायक प्रदर्शन में सम्मिलित थे किंतु प्रदर्शनकारियों को इस बात से बड़ा क्षोभ हुआ कि प्रधानमंत्री या अन्य कोई मंत्री उनसे मिलने नहीं आये। यद्यपि यह आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। स्वामी ने स्वयं ही लिखा है कि किस प्रकार प्रधानमंत्री के लिए किसानों का यह प्रदर्शन मात्र हंगामा रह गया था।

मंत्रिमंडल के रूख से असंतुष्ट होकर किसान सभा ने संघर्ष का रास्ता अपनाने का निश्चय किया। एक सितम्बर, 1937 को "अखिल भारतीय किसान सभा" द्वारा सम्पूर्ण देश में "किसान दिवस" मनाने का आह्वान किया गया था।[21] बिहार के किसान नेताओं ने इस दिवस को व्यापक ढंग से मनाने, प्रत्येक सभा में खुलकर किसानों के हित की बातें करने और सरकार को यह अंतिम चेतावनी देने का निश्चय किया कि यदि वह किसानों के हित में अग्रसर नहीं हुई तो किसान सभा

संघर्ष के लिए मजबूर होगी।[22] बिहार किसान सभा ने जुलाई माह में ही प्रांत के प्राय: सभी हिस्सों में और विशेषकर पटना, गया, शाहाबाद और मुंगेर जिलों में किसानों की छोटी-बड़ी सैकड़ों सभा का आयोजन किया था और सरकार से जमींदारी जुल्म खत्म कराने की मांग की थी।[23] उसी तरह की एक सभा गया जिले के अरबल थाने के सोनभद्र गांव में 13 जुलाई, 1937 को हो रही थी।[24] जमींदारों की गोली से एक किसान मारा गया था और कई किसान घायल हुए थे।[25] फलत: किसानों में और भी अधिक उत्तेजना बढ़ी गयी थी। बिहार के किसान आंदोलन की ओर सारे देश का ध्यान तब आकृष्ट हुआ जब गया जिले के नियामतपुर आश्रम में जुलाई 1937 में आल इण्डिया किसान कमिटी की बैठक हुई और उसमें किसानों की मांगों के संबंध में महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया गये।[26] बिहार किसान सभा के आह्वान पर 17 अक्टूबर, 1937 को भी सारे बिहार में "किसान दिवस" मनाया गया और सैकड़ों आम सभाएँ की गयी। 23 और 24 अक्टूबर को विक्रम में कार्यानंद शर्मा की अध्यक्षता में पटना जिला किसान सम्मेलन हुआ और 26 नवम्बर को इन सभाओं एवं सम्मेलनों में किसानों की मांग से संबंधित प्रस्ताव पारित किय गये।[27]

काश्तकारी कानून में प्रस्तावित संशोधन का प्रारूप जब कांग्रेस विधायक दल में विचारार्थ नहीं लाया गया तब स्वामी के आदेशानुसार, यमुना कार्यी ने कांग्रेस विधायक दल के और सदन के भी दो तिहाई सदस्यों (79) के हस्ताक्षर से मांग की कि फैजपुर कांग्रेस के फैसलों के मुताबिक किसानों के हित में काम किया जाय। सदन में वहस के दौरान यमुना कार्यी समेत सभी किसान सभायी विधायकों ने दल के निर्देश की अवहोलना कर विधेयक का विरोध किया था और उसके खिलाफ मतदान भी किया था। दल के नियम के मुताबिक इन सदस्यों पर कार्रवाई हो सकती थी, किंतु, स्वयं अपना वर्ग चरित्र स्पष्ट हो जाने के भय से कांग्रेस नेताओं ने ऐसा नहीं किया।

वामपक्ष के प्रभाव में किसान आंदोलन ने अब अपना अलग रास्ता पकड़ा। 27 अक्टूबर, 1937 की अपनी रिपोर्ट में पटना के कमिश्नर ने लिखा है कि "किसान आंदोलन अब खतरनाक बन रहा है और 4 दिसम्बर, 1937 को बख्तियारपुर में आयोजित पटना जिला सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री श्री कृष्ण सिंह ने किसानों से अपील की कि वे बकाश्त जमीन पर कब्जा करने के लिए शक्ति का सहारा नहीं ले, किंतु किसान सभा के नेताओं को अब यह सलाह पसंद नहीं थी। सारे राज्य में किसान सभा की आम सभाओं में नेताओं द्वारा गर्मजोशी के भाषण किसानों में संघर्षशीलता की भावना पैदा कर रहे थे। अत: प्रांतीय कांग्रेस समिति ने चौदह दिसम्बर, 1937 को एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें यह चिंता प्रकट की गयी थी कि प्रांत में जिस प्रकार का प्रचार किया जा रहा है उससे वातावरण दूषित हो रहा है और कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धांत पर हमला हो रहा है। प्रांत के कुछ हिस्सों में जैसा वातावरण बन रहा है उससे आशंका है कि कहीं ऐसी घटनाएँ न घटे जो देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति की राह में बाधक बन जाय। अत: कांग्रेस समिति ने प्रस्ताव द्वारा सभी कांग्रेसजनों को आगाह किया कि वे अपने को इस प्रकार की गतिविधियों से अलग रखें और आवश्यकता हो तो इसका विरोध करें। समिति ने स्पष्टत: किसान सभा में काम करने वाले कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को साफ तौर पर उसमें भाग लेने से मना किया और जिला कमिटियों को ऐसे कांग्रेसी कार्यकर्ताओं पर निगरानी रखने का आदेश दिया।

कांग्रेस और किसान सभा के बीच इस बढ़ती खाई का परिणाम हुआ कि 22-23 जनवरी 1938 को बछवारा में आयोजित प्रांतीय किसान सम्मेलन में बिहार मंत्रिमंडल की कटु आलोचना की गयी और कांग्रेस-जमींदार समझौते का पर्दाफाश किया गया। साथ ही पहली बार मुंगेर जिला कांग्रेस समिति ने बाजाप्ता सरकुलर जारी कर कांग्रेसजनों को बछबारा सम्मेलन में भाग लेने से मना किया।

कांग्रेस मंत्रिमडल

कांग्रेस और किसान सभा का पारस्परिक संबंध इतना कटु हो चुका था कि दोनों ओर से खुली आलोचनाएँ और आरोप-प्रत्यारोप का वातावरण गर्म था। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी के तत्कालीन अध्यक्ष श्री राजेंद्र प्रसाद ने अखबारों में एक विस्तृत ब्यान द्वारा यह दावा किया कि कांग्रेस मंत्रिमंडल ने फैजपुर कांग्रेस द्वारा पारित तेरह सूत्रीय कार्यक्रम को प्राय: पूरा कर दिया है, और इस प्रकार बिहार के विभिन्न विधेयकों में संशोधन लाकर कांग्रेस ने अपने चुनावी वादे का अधिकांशत: पूरा कर दिया है। श्री राजेंद्र प्रसाद के वक्तव्य के पहले भी सर्चलाइट ने जो उस समय कांग्रेस का अखबार था अपने यहाँ प्रकाशित कई लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया था कि किस प्रकार कांग्रेस ने किसानों के संबंध में चुनाव पूर्व किये गये वादों को कही हद तक पूरा कर दिया है। किसान नेता स्वामी सहजानंद सरस्वती ने उपर्युक्त दावों की पृष्ठभूमि में दिसम्बर 1938 में एक पुस्तिका अंग्रेजी में प्रकाशित की जिसका शीर्षक "दी अदर साइड ऑफ दी शिल्ड" था।[28] इस पुस्तिका के माध्यम से स्वामीजी ने श्री राजेंद्र प्रसाद द्वारा उठाये गये एक-एक मुद्दे को लेकर यह बतलाया है कि कांग्रेस मंत्रिमंडल द्वारा उठाया गया कदम किस प्रकार किसानों के लिए धोखा मात्र है।

राजेंद्र बाबू ने फैजपुर के बारहवें नुक्ते की चर्चा करते हुए प्रसन्नता प्रकट की है कि खेत मजदूरों के लिए भी जीवकोपयोगी मजदूरी की व्यवस्था हो रही है और सभी जिला में उनकी मजदूरी के संबंध में जांच की जा रही है, किंतु स्वामी ने इस खेती दर मजदूरों के संबंध में विधानसभा के भीतर उठे सवालों और प्रेषित प्रस्तावों का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि बिहार विधानसभा ने जो सरकार ने अनुशंसा की उसमें केवल औद्योगिक मजदूरों के संबंध में जांच प्रतिवेदन मांगा गया था। अत: विधानसभा के प्रस्ताव में खेती हर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी को कौन कहे औद्योगिक मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी की बात नहीं कही गयी थी। खेतीहर मजदूरों की तो स्थिति की जांच का सवाल ही प्रस्ताव में नहीं रखा गया था।

सभी प्रकार के गैर-कानूनी सामंतो करों के संबंध में राजेंद्र बाबू का दावा रहा है कि कांग्रेस मंत्रिमंडल ने इस संबंध में कानून को कड़ा बना दिया है। लेकिन स्वामी ने इस दावे का पर्दाफाश करते हुए लिखा है कि जब तक बेगारी और जमींदारों द्वारा किसनों से वसूल किये जने वाले विभिन्न प्रकार के नजरानों को एक संज्ञेय अपराध नहीं घोषित किया जाता तब तक कानून के कड़ापन का कोई मतलब नहीं निकलता। इसी प्रकार स्वामी जी ने लगान में कमी करने और दानाबंदी प्रथा को समाप्त कर उसके बदले में बटाई खेती में उपज का हिस्सा 18 और 22 निर्धारित किये जाने का भी खोखलापन सिद्ध किया है और बलताया है कि इन कानूनों में जो खामियाँ रह गयी थीं उसका लाभ उठाकर जमींदार किसानों को और अधिक परेशान कर रहे थे और उसी कारण बकाश्त संबंधी समस्याएँ भी उठ रही थी।

स्वामी जी की पुस्तिका में इस बात की भी आलोचना की गयी है कि किसानों को उचित सुविधा के आधार पर कर्ज की व्यवस्था नहीं की गयी। दूसरी ओर विभिन्न प्रकार के स्टाम्पों की कीमत पचास प्रतिशत तक बढ़ा देने का मुख्य असर किसानों पर ही पड़ेगा जिन्हें जमींदार और साहूकार आये दिन मुकदमों का शिकार बनाते रहते थे।

पुस्तिका के अंत में स्वामी जी ने राजेंद्र बाबू और कांग्रेस मंत्रिमंडल के नेताओं एवं सलाहकारों के समक्ष कुछ सवाल पेश किये हैं। उन्होंने याद दिलाया है कि कांग्रेस के दो अधिवेशनों में प्रस्ताव पारित कर प्रांतीय कांग्रेस कमिटियों से रिपोर्ट मांगी गयी थी जिसके आधार पर एक अखिल भारतीय एग्रेरियन प्रोग्राम तैयार किया जा सके, किंतु बहुत सी प्रदेश कांग्रेस कमिटियों ने उस प्रस्ताव पर अमल नहीं किया है। बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी द्वारा गठित कांग्रेस किसान जांच समिति ने चुनाव के पूर्व प्रांत का व्यापक दौरा किया था, किंतु उसकी रिपोर्ट क्यों नहीं दी गयी। स्वामी जी ने सवाल का जवाब देते हुए लिखा है क्या कांग्रेस के नेताओं द्वारा उपर्युक्त काम इसलिए नहीं किये गये कि उन्हें एक कार्यक्रम के प्रति प्रतिबद्ध हो जाना पड़ता और मंत्रिमंडल के निर्माण के बाद उसके कार्यान्वयन का सवाल उठ खड़ा होता। शायद वैसी स्थिति में कांग्रेस जमींदार समझौता सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार स्वामी सहजानंद सरस्वती ने बीस पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तिका में कांग्रेस मंत्रीमंडल की उपलब्धियों का एक मूल्यांकन प्रस्तुत किया है और किसान सभा का दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। कांग्रेस और किसानसभा के दृष्टिकोण में कितना बड़ा अंतर आ गया था और किस प्रकार किसान सभा के नेताओं ने वर्ग दृष्टिकोण से कांग्रेस का मूल्यांकन करना शुरू किया था उसका एक और उदाहरण स्वामी जी के अनन्य सहयोगी पं. यदुनंदन शर्मा द्वारा प्रकाशित छोटी-सी पुस्तिका "चिंगारी" में उनके द्वारा प्रथम पृष्ठ पर "सूक्ति-पंचक" शीर्षक के अंतर्गत लिखित निम्न उद्धरण है। सूचि दो में कहा गया है- "मेरी आँखें किसानों के कलेजे पर जो तीन बहुत भारी चटाने देख रही हैं वे हैं अंग्रेजी सरकार, महाजनी प्रथा और जमींदारी प्रथा, जो कोई भी इन चटानों को किसानों के कलेजे पर से उतार कर इन्हें क्रांति की भट्ठी में ठोकर देने की राह पर है वे ही किसानों के सच्चे हितैषी कहे जा सकते हैं।"

तीसरी सूक्ति में और भी स्पष्ट ढंग से कहा गया है- "सर्वशोषक, सर्वशोधक ही है, चाहे वे हजारों मन खादी बदन पर क्यों न लाद ले, जेल क्या देश के नाम पर फांसी की रस्सी को चूम कर क्यों न लौटे हों और चौबीस घंटे सत्य और अहिंसा का राग क्यों न अलापते हों।" और अंत में चौथी सूक्ति में कहा गया है कि- क्रांति ही किसानों की तबाही और भयानक गरीबी की एकमात्र रामवाण दवा है, सर्वशोषकों तथा उनके पक्के दोस्त होने का राग अलापनेवाले मंत्रिमंडल द्वारा बनाये गये दमदार कानून उनकी दवा नहीं।[29]

संदर्भः

1. के॰ के॰ दत्त, *फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार*, 297-298
2. डिस्ट्रक्ट्स मजिस्ट्रेट, पटना टू दि कमिश्नर, पटना डिवीजन, 25 जुलाई, 1937
3. श्री के॰के॰ दत्त, वही पृ॰ 223-224.

4. *सर्चलाईट,* 29.2.1936 स्वामी सहजानंद सरस्वती, *मेरा जीवन संघर्ष,* पृ॰ 339-49 फोर्टनाइटली रिपोर्ट ऑफ दि पटना कमिश्नर फार दी पीरियड इंडिग, 11 अप्रैल 1936, *दि सर्चलाईट,* पहली अप्रैल 1936.
5. एम॰ए॰ रसूल, *ए हिस्ट्री ऑफ दि आल इंडिया किसान सभा,* पृ॰-13.
6. के॰के॰ दत्त, वही, पृ॰-316.
7. के॰के॰ दत्त, वही, पृ॰-308.
8. लेटर फ्राम दी मजिस्ट्रेट ऑफ पटना टू दी कमिश्नर, पटना डिवीजन 26, सितम्बर 1937.
9. डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद, *आत्मकथा,* पृ॰ 489-495.
10. के॰के॰ दत्त, वही पृ॰ 311-312.
11. राकेश गुप्ता, *बिहार पीजेन्टरी एण्ड दी किसान सभा,* पृ॰-90.
12. फोर्टनाइटली रिपोर्ट ऑफ दी पटना कमिश्नर फार दी पीरियड इंडिंग 17 अप्रैल, 1936 दी सर्चलाइट, 29.1.1936.
13. लेटर फ्राम दी मजिस्ट्रेट ऑफ शाहाबाद टु दी कमिश्नर ऑफ पटना 10 जुलाई, 1937.
14. फोर्टनाइटली रिपोर्ट ऑफ दी पटना कमिश्नर फार दी पीरियड इंडिंग 27 जून, 1936.
15. वही, सितम्बर, 1936.
16. वही, 3 जून 1937.
17. उपरोक्त, सहजानंद सरस्वती, पृ॰-489.
18. *हुंकार*, 24 फरवरी, 1982
19. वही, 29 फरवरी, 1982.
20. फोर्टनाइटली रिपोर्ट ऑफ दी पटना कमिश्नर फार दी पीरियड इंडिंग 13 सितम्बर, 1937.
21. के॰के॰ दत्त वही, पृ॰-314.
22. एम॰ए॰ रसूल ऊपर, पृ॰-315.
23. के॰के॰ दत्त, उपरोक्त, वही, पृ॰-315.
24. वही, पृ॰-316.
25. हुंकार, 6 मार्च, 1982.
26. वही, 8 मार्च, 1982.
27. उपरोक्त, वही के॰के॰ दत्त, पृ॰ 316-317.
28. स्वमाी सहजानंद, *दी अदर साइड ऑफ दी शिल्ड।*
29. यदुनंदन शर्मा, *चिंगारी*, 1938 होम स्पेशल फाइल नं॰ 447, 1938 हिंदी प्रतिलिपि "*सूद्री पंचक*"। प्रकाशक केशव प्रसाद सिंह, मंत्री, जिला किसान सभा, गया।

लोककला का उद्‌भव एवं विकास

डॉ० राकेश रंजन

इतिहास विभाग, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय,
न्यू पुलिस लाईन चौक, मुजफ्फरपुर

लोक चित्रकला का जन्म कब, कहाँ और कैसे हुआ साथ ही प्रणेता कौन थे, यह बता पाना अत्यन्त दुश्कर कार्य है। लोक चित्रकला की एक अक्षुण्ण परंपरा रही है, यह एक प्राचीन विद्या है, लेकिन इसके यात्रा पथ को निश्चित कर पाना बहुत मुश्किल है। जिस तरह वेद को श्रुति कहा गया है, उसी तरह इसे लोक जीवन की स्मृति एवं दृष्टि भी कह सकते हैं। प्राचीन काल में जब लिपि का विकास नहीं हुआ था, उस समय किसी भी ज्ञान को अक्षुण्ण रखने के लिए कहे, सुने एवं देखे गये अनुभव को स्मृति में सहेज रखना जरूरी होता था और उसी अनुभवजन्य स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए लगता है लोक चित्रकला की परंपरा प्रारंभ हुई।[1]

लोक चित्रकला की अपनी विशेषताएँ होती है, जिनका सीधा संबंध उसमें निहित तत्वों से होता है। लौकिक तत्व और लोक चित्रकला का परस्पर अभिन्न संबंध है। लौकिक तत्व के अभाव में लोक चित्रकला अपनी वास्तविकता खो देती है।

लोककला के अभ्युदय की तुलना यदि हम साहित्य के अभ्युदय के साथ करते देखे तो अधिक उपयुक्त होगा। जिस प्रकार हमारे वाङ्मय की समृद्धि के दो पक्ष रहे हैं उसी प्रकार हमारी कला की समृद्धि भी दो रूपों में आगे बढ़ी। हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृत ने साहित्य की अभिवृद्धि के लिए एक साथ ही जिन दो भाषाओं को जन्म दिया उनमें से एक थी संस्कृत और दूसरी थी लोकभाषा। भारतीय वाङ्मय के विकास के लिए प्रत्यक्ष रूप से जो कार्य संस्कृत ने किया वही कार्य परोक्ष रूप से प्राकृत, अपभ्रंश और उनकी अनेक विभाषाओं ने किया। संस्कृत की भांति लोक-बोलियाँ भी बड़े वेग से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में पल्लवित होकर निरंतर आगे बढ़ती गयी और साहित्य की भाषा संस्कृत ने लोक-बोलियों को जितना दिया, इन लोक-बोलियों की देन उससे किसी भी अंश में कम नहीं रही। हमारे लोक-साहित्य कितना व्यापक एवं वृहद् है, इसके प्रमाण आज हमें मिल रहे हैं जबकि हम उसके अनुसंधान-अन्वेषण में अग्रसर हैं।[2]

यही स्थिति लोक-कला की भी रही। उसने अपना विकास विभिन्न रूपों में किया। उसका एक रूप परंपरागत विश्वासों, रहस्यात्मक संकेतों और अतीत के संस्कारों पर आधारित था। उसका दूसरा रूप वह था, जिसमें सामाजिक रीति-रिवाजों की प्रमुखता थी। इसके अतिरिक्त अपनी अनुभूतियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति की ओर भी कलाकार का ध्यान था। इस दृष्टि से प्रतीकात्मक शैली के अमूर्त 'आलेपन' चित्र, सामाजिक रीति-रिवाजों को अभिव्यक्त करने वाले बाँस, बेंत तथा सूत की वस्तुओं

का आलेखन, और राजस्थान के पटुओं द्वारा किये गये रेखांकनों का इस प्रसंग में उल्लेखनीय योग रहा है।[3]

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक कला के संबंध में लिखा है कि लोक शब्द का अर्थ जनपद या गाँव नहीं है, बल्कि गाँवों एवं नगरों में फैली वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगो की अपेक्षा अधिक सरल एवं अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते है।[4]

लोक का अभिप्राय देश के संपूर्ण समाज से है। इस प्रकार संपूर्ण समाज में व्याप्त कला को ही लोक कला कहा जा सकता है। लोक द्वारा बनाई गई इस कला को अज्ञानतावश प्रायः लोग अविकसित अथवा गँवारू या ग्रामीण कला के नाम से पुकारते हैं। असित कुमार हल्दर ने लोक कला के बारे में ऐसे शब्द के प्रयोग पर आपत्ति करते हुए लिखा है – ''लोक कला परंपरा प्राप्त कला का एक ऐसा महत्वपूर्ण रूप है जिसकी उपेक्षा गँवारू कला कहकर नहीं की जा सकती।''[5]

लोक कला की कहानी मानव जीवन की सचित्र कहानी है, जो जन्म से मृत्यु तथा सुबह से शाम तक किये जाने वाले मनुष्य के हर कार्य में देखी जा सकती है। लोक कला हमारे जीवन का एक अविछिन्न अंग है। वह हमारे प्रतिदिन के जीवन में समाहित है जिसका हम अपने घरों में अपने त्यौहारों व उत्सवों पर, अपनी रस्मों तथा अनुष्ठानों में और अपनी आत्माभिव्यक्ति के साधनों में प्रयोग करते हैं। यह किसी भी जाति या धर्म विशेष की धरोहर नहीं होती।

कमला देवी चट्टोपाध्याय ने भी लोक कला के सौन्दर्य पक्ष को स्वीकारा है – ''जब कोई मुझसे पूछे कि लोक कला का मुख्य गुण या पहचान क्या है तो मैं यह कह सकती हूँ – सुन्दरता। सुन्दरता का अर्थ केवल आकार, डिजाइन व रंग ही नहीं है, वरन् वह जीवन का एक व्यापक मूल सिद्धांत अथवा तत्व है।[6]

शास्त्रीय कला का विकास अजन्ता, एलोरा, बाधा तथा उसके बाद के राजपूत, मुगल एवं पहाड़ी आदि विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्त हुआ। किन्तु उसका दूसरा रूप अपने इतिहास और ख्याति की अपेक्षा किये बिना हमारे आँगनों में पलता हुआ आगे बढ़ा। भारत की कोटि-कोटि जनता के जीवन में एक प्राण होकर यह लोक कला न जाने अतीत की किस स्वर्णिम बेला से हमारे उल्लासमय संबंधों में जुड़कर हमारे साथ चली आ रही है। बिना किसी अवलम्ब, आश्रय, प्रोत्साहन और प्रलोभन के स्वतंत्र स्वच्छंद एवं सौम्य गति से वह निरंतर आगे बढ़ती रही, क्योंकि वह हमारे आँगनों की वस्तु रही है। हमारी इस लोक कला को परंपरा से आगे बढ़ाने का कार्य ग्रामीण जनता किया। उसने अपनी प्राचीन संस्कृति और कला की विरासत को जीवनदान देकर एक ओर तो प्रभुत्वशाली वर्ग की दासता से उसकी रक्षा की और दूसरी ओर इसमें इतनी जीवनशक्ति भरी की वह विश्वकला की प्रगतिशील भवधारा के साथ आगे बढ़ सके।[7]

लोक कला से हमारा स्वाभाविक अपनत्व है। उसकी रचना के लिए हमें तरह-तरह की कला विधाओं की खोज नहीं करनी पड़ती। आसानी से जो भी प्राप्त हो जाता है उसी से गाँव की स्त्रियाँ विभिन्न तीज-त्योहारों अथवा सरल रेखाओं द्वारा पूरा चित्र एक कहानी के रूप में लिख डालती है। लोक कलाकार कला का ज्ञान पुरानी पीढ़ी से दिन-प्रतिदिन बनने वाले घर आँगन के चित्रों को देखकर करता है।

लोक कला एवं शास्त्रीय कला दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। जिस समय शास्त्रीय कला रची गयी, उस समय वहाँ जो लोक कला विकसित थी, उसका शास्त्रीय कला पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा। आज हम जिस अजन्ता की कला को भारतवर्ष की सबसे अच्छी कला के रूप में मानते है वह पूर्णरूपेण शास्त्रीय कला है ऐसी बात नहीं है। अजन्ता के चित्रों में भी लोक कला का प्रभाव देखने को मिलता है। अजंता के भित्ति चित्रों में ग्रामीण अल्पना के नमूनों को लेकर सुंदर अलंकरण तैयार किये गये है। अजन्ता के चित्रों की प्रसिद्धि और चिर नवीनता का एक कारण लोक विधान भी है।

इन चित्रों में शास्त्रीय दृष्टि और लोक दृष्टि का ऐसा सुंदर समन्वय स्थापित किया गया है कि जिसमें सहज की एक नई रूपराशि का उद्घाटन संभव हो सका है। चूँकि बौद्ध धर्म, लोक धर्म था इसलिए बौद्ध कला की सारी थाती लोक कला से प्रभावित है। जैन कला के बारे में भी ठीक यही बात है। इसी प्रकार दक्षिण उत्तर की समस्त चित्र शैलियों का आधारभूमि लोक कला है।[8] इस देश में जो भी गुहाचित्र मिले है उनमें अनेक दृष्टियों से समरूपता है, क्योंकि समग्र आदिम मानव की बहुत कुछ समस्याएँ एक जैसी थी। लोक कलाओं में जो स्थानीय भिन्नता पाई जाती है। उसका कारण यह है कि सभ्यता के विकास के साथ ही मनुष्य विभिन्न वर्गों में विभाजित हो गया और उनके देवी, देवता, तीज-त्यौहार आदि सब अलग बन गये।

सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से लोक कला का बहुत महत्व है। प्रत्येक उत्सव पर हर वर्ग में पृथक्-पृथक् कर्मों में लोक कला का प्रयोग होता है। लोक कलाओं में जहाँ एक ओर वहाँ की सामाजिक व्यवस्था का प्रकाश पड़ता है, वहीं दूसरी ओर वहाँ के सांस्कृतिक रीति-रिवाजों पर भी प्रकाश पड़ता है। किसी भी क्षेत्र की संस्कृति को अच्छी प्रकार समझने के लिए आवश्यक है उसे क्षेत्र की लोक कला को अच्छी तरह समझा जाय। कला और संस्कृति का इतना घनिष्ट संबंध है कि उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता।[9]

लोक कला सर्वत्र एक जैसे रूप में विद्यमान है। महाराष्ट्र में जिसको ''रंगोली'', गुजरात में ''साथिया'', राजस्थान में ''माँडणा'', उत्तर प्रदेश के कुछ भाग में ''चौक पूरना'', अल्मोड़ा तथा गढ़ाववाल में ''आपना'', बिहार में ''अट्टपन'' और बंगाल में इसे ''अल्पना'' कहा जाता है। प्राचीन काल में घरों की दीवारों पर सूक्ष्म रेखा विशारद कलाकार नाना भाव रसों से युक्त इन कल्पवल्लियों का अंकन किया करते थे। भगवान बुद्ध के समय में भी तीज-त्यौहार पर घरों की बाहरी दीवारों पर चूने से पुताई कर चार प्रकार की कल्पवल्लियों का अंकन किया जाता था।[10] लोक कला के प्रचलित नामों में कल्पवल्लियों का भी एक स्थान है। यद्यपि उनके इस स्वरूप में शास्त्रीय दृष्टि की अधिकता है। किन्तु वस्तुतः ये लोककला अनुभूतियाँ है और उनका विकास हमें भित्ति चित्रों में मिलता है।

लोक कला के उक्त विभिन्न रूप धूलिचित्रों पर आधारित अपने विकास का इतिहास स्वयं ही बताते हैं। ये धूलिचित्र पिसे हुए चावलों अथवा रंग-बिरगी मिट्टी से बनाये जाते थे, जिनका प्रचलन मौर्य युग से ही हो गया था। लोक कला की प्राचीन परंपरा की उपलब्धि शुंगकालीन साँची के तोरणों में अंकित जातक कथाओं के लोक चित्रों में होती है। साँची की कला को इतनी लोकप्रियता प्राप्त होने का यही कारण था कि उसमें लोक कला रूचियों का समावेश था। जैन शैली काश्मीर और दक्षिण में उपलब्ध अपभ्रंश शैली के चित्रों में भी लोक जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति तभी संभव

हो सकी, जबकि वह धार्मिक सीमाओं में बँधी रही और राजाश्रयों के विलासमय वातावरण से अछूती रही।[11]

कला और संस्कृति का आपस में बहुत घनिष्ठ संबंध है। भारतीय संस्कृति में पौराणिक कथाओं, तीर्थाटन, व्रत, उत्सव और पर्वों की जो प्रणाली चली आ रही है, उसी से लोक संस्कृति का संपादन हुआ है। लोकगीत, लोकचित्र, लोकनृत्य, लोकअभिनय और लोकचर्चाएँ आदि सभी कला प्रणाली से उद्‌भूत है।[12] पर्व त्यौहारों तथा विवाह शादी के समय मंगलमय चिह्नों को दीवारों तथा आँगनों पर अंकित करने का रिवाज बहुत पुराना है। आँगन तथा धरती पर चित्रित किये जाने वाले चित्रों को चौक या रंगोली और दीवारों तथा द्वारों पर अंकित चित्रों को ''थापा'' या ठापा कहते हैं।

अलग-अलग त्यौहारों तथा उत्सवों के लिए भिन्न-भिन्न थापा अंकित किये जाने का प्रचलन है। इन थापों और चौकों के द्वारा हमें भारत की विभिन्न जातियों तथा जनपदों की संस्कृति एवं लोकाचारों के दर्शन होते हैं। इन लोक चित्रों में रंगों और रेखाओं की अपनी मौलिकता होती है। उनमें पृष्ठभूमि के अनुसार ही रंगों का प्रयोग होता है, जिनमें सफेद, हरे, पीले और नीले रंग की अधिकता होती है। माँण्डणाँ में प्रायः लाल, भूरा या हरा, ''रंगोली'' में लाल, हरा, पीला, काला, सफेद आदि रंगों का प्रयोग होता है। यह रंग योजना बड़ी सावधानी के साथ की जाती है। ये रंग प्रायः आटा, हल्दी, चावल तथा फूल से बनाये जाते हैं।

लोक कला कुछ हद तक पदार्थों की क्षेत्रीय उपलब्धता पर भी निर्भर करती है। इसी कारण अलग-अलग जगहों की कला के रंगों में भिन्नता पाई जाती है। उत्तर प्रदेश में चिकनी सफेद पुती हुई दीवार पर गेरू और चावल पीसकर चित्रकारी की जाती है। उड़ीसा की दीवारें सोरा की पहाड़ियों की लाल मिट्‌टी से पोती जाती है। इसलिए उन पर काले और सफेद रंग से चित्र बनाये जाते हैं। आसाम, बंगाल में ग्रामीण घरों की दीवारें प्रायः बाँस से बनाई जाती है। इसलिए वहाँ चित्रकारी के रूप में दीवारों का प्रयोग बहुत कम होता है। जिस क्षेत्र में जो साधन उपलब्ध है उसी को लेकर लोक कला बनाई जाती है।

हमारे जितने भी सामाजिक उत्सव है उन सब में लोक कला किसी न किसी रूप में देखने को मिलती है। शादी ब्याह में कोहबर के रूप में पूरा घर चित्रित कराया जाता है। दीपावली पर घर-घर दीपावली लिखी जाती है। नागपंचमी पर चित्र में नाग बनाकर उसका पूजन किया जाता है। गोवध न पूजन पर सामूहिक रूप से ''गोधना'' की आकृति बनाकर पूजा की जाती है। ''पिड़िया'' पर घर के अन्दर छोटे-छोटे गोबर के पिण्ड दीवार पर चिपका कर पूजा की जाती है। कोई भी कथा व्रत हो या पूजन अल्पना बनाने की प्रथा पूरे हिन्दू समाज में मिलती है। प्रत्येक उत्सव पर मंगलघट की स्थापना का विधान लोक कला के अस्तित्व को ही सूचित करता है। विवाह के समय वधू के सौभाग्य की मंगल कामना के लिए उसके ललाट, कपोल और भवों आदि पर सफेद तथा लाल रंगों से अंकित बिंदु लोक कला के ही रूप हैं।

लोककला में पशु-पक्षियों का अंकन बहुत रूपों में हुआ है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर मध्ययुग तक जितनी भी चित्र शैलियाँ है, उनमें सर्वत्र ही पशु-पक्षियों का मनोरम चित्रण देखने को मिलता है। मध्ययुगीन कलाकृतियों में इस प्रकार का पशु-पक्षी चित्रण प्रणय, विरह, मिलन आदि के प्रतीकों

के रूप में किया गया है। साहित्य में पक्षियों का वर्णन और उनके द्वारा संदेश लाने और ले जाने का कौशल बहुधा देखने को मिलता है। हमारे साहित्यकारों और चित्रकारों ने पशु-पक्षियों को मनुष्य के सहचर के रूप में स्वीकार किया है। लोक कला में पशु पक्षियों का अंकन मंगल कामना से भी किया जाता है। पक्षियों को प्रेम, उल्लास और कोमलता का प्रतीक माना गया है।

संदर्भ-सूची

1. डा० अयोध्या नाथ झा के शोधपत्र ''मिथिला लोकचित्र कलाशैली में प्रयुक्त तकनीक'' से उद्धरित।
2. वाचस्पति गैरोला - भारतीय चित्रकला, पृ. 245
3. वाचस्पति गैरोला - भारतीय चित्रकला, पृ. 246
4. राहुल सांकृत्यायन - हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-16, पृ. 3
5. असित कुमार हल्दर - भारतीय चित्रकला, पृ. 36
6. स्मारिका - उत्तर प्रदेश राज्य ललित कला अकादमी, लखनऊ, पृ. 62
7. वाचस्पति गैरोला- भारतीय चित्रकला, पृ. 246
8. वाचस्पति गैरोला- भारतीय चित्रकला, पृ. 250
9. रामचंद्र शुक्ल- कला का दर्शन, पृ. 94
10. रीस डेविड - बुद्धिस्ट इण्डिया
11. वाचस्पति गैरोला - भारतीय चित्रकला, पृ. 246
12. महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ - लोक संस्कृति अंक, सम्मेलन पत्रिका, लेख, पृ. 19

प्राचीन काल में नियोग प्रथा

जय प्रकाश भगत

शोधार्थी, इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

भारतीय इतिहास में नियोग की प्रथा वैदिक कालीन है। जब पतिविहिन स्त्री किसी विशेष पुरूष से संबंध स्थापित कर विवाह करती थी तब ऐसा विवाह नियोग के नाम से अभिहित किया गया था। इस प्रथा के उद्‌गम एवं उपयोग के विषयक में विविध मत-मतान्तर है। सर्वप्रथम हम इस प्रथा के समर्थक धर्मशास्त्र ग्रंथों की उक्तियों का उल्लेख करेगें। गौतम ने चर्चा की है, पतिविहिन नारी यदि पुत्र की अभिलाषा रखे तो अपने देवर द्वारा प्राप्त कर सकती है। किंतु उसे गुरूजनों से आज्ञा ले लेनी चाहिए और संभोग केवल ऋतुकाल में ही करना चाहिए। वह सपिण्ड सगोत्र, सप्रवर या अपने जाति वाले से ही (जब देवर न हो) पुत्र प्राप्त कर सकती है। कुछ लोगों के मत से यह प्रथा केवल देवर से ही संयुक्त है। इस प्रथा से वह दो से अधिक पुत्र नहीं प्राप्त कर सकती है।''[1] गौतम का कहना है कि जीवित पति द्वारा पार्थिव स्त्री जब नियोग से पुत्र उत्पन्न करती है तो वह उसी (पुरूष) का पुत्र होता है। गौतम ऐसे पुत्र को क्षेत्रज और उसकी माता को क्षेत्र की संज्ञा देते है। इसी प्रकार उस स्त्री या विधवा या पति क्षेत्री या क्षेत्रिय तथा पुत्रोत्पत्ति के लिए नियुक्त पुरूष बीजी या नियोगी कहलाता है।[2]

वसिष्ठधर्मसूत्र ने लिखा है - विधवा का पति या भाई (या मृत पति का भाई) गुरूओं को तथा संबंधियों को एकत्र करे और उसे मृत के लिए पुत्रोत्पति के लिए नियोजित करें। उन्मादिनी विधवा, अपने को न सँभल सकने वाली रोगी या बूढ़ी विधवा को इस कार्य के लिए नहीं नियोजित करना चाहिए। युवावस्था के उपर 16 वर्ष तक ही नियोग होना चाहिए। बीमार पुरूष को नहीं नियुक्त करना चाहिए। नियुक्त व्यक्ति को पति की भाँति प्रजापति वाले मंगल मुहूर्त में[3] विधवा के पास जाना चाहिए और उसके साथ न तो रतिक्रीड़ा करनी चाहिए, न अश्लील भाषण करना चाहिए और न ही दुर्व्यवहार करना चाहिए।

धन संपत्ति की प्राप्ति की अभिलाषा से नियोग नहीं करना चाहिए। बौधायन धर्मसूत्र[4] के अनुसार क्षेत्रज पुत्र वही है, जो निश्चित आज्ञा के साथ विधवा से या नपुंसक या रूग्ण पति की पत्नी से उत्पन्न किया जाय। मनु[5] का कथन है कि पुत्रहीन विधवा अपने देवर या पति के सपिण्ड से पुत्र उत्पन्न कर सकती है, नियुक्त पुरूष को अँधेरे में ही विधवा के पास जाना चाहिए, उसके शरीर पर घृत का लेप होना चाहिए। उसे एक ही पुत्र उत्पन्न करना चाहिए, किंतु कुछ लोगों के मत से दो पुत्र उत्पन्न करने चाहिए। यही बात बौधाायनधर्मसूत्र[6], याज्ञवल्क्य[7] एवं नारद[8] में भी पाई जाती है। कौटिल्य[9] ने लिखा है कि बूढ़े एवं न अच्छे किए जाने वाले रोग से पीड़ित राजा को चाहिए कि वह

अपनी रानी को नियुक्त कर किसी मातृबन्धु या अपने ही समान गुण वाले सामंत द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये। एक अन्य स्थान पर कौटिल्य ने पुनः कहा है कि यदि कोई ब्राह्मण बिना सन्निकट उत्तराधिकारी के मर जाय, तो किसी सगोत्र या मातृबन्धु को नियोजित कर क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करना चाहिए, वह पुत्र रिक्थ प्राप्त करेगा।[10]

प्राचीन काल में नियोग के लिए कुछ महत्वपूर्ण दशाएँ निर्धारित की गई थी -

1. जीवित या मृत पति पुत्रहीन होना चाहिए।
2. कुल के गुरूजनों द्वारा ही निर्णीत पद्धति से पति के लिए पुत्र उत्पन्न करने के लिए पत्नी को नियोजित करना चाहिए।
3. नियोजित पुरूष को पति का भाई देवर, सपिण्ड या पति का सगोत्र होना चाहिए।
4. नियोजित पुरूष एवं नियोजित विधवा में कामुकता का पूर्ण अभाव एवं कर्तव्य ज्ञान का भार रहना चाहिए।
5. नियोजित पुरूष के शरीर पर घृत या तेल का लेप लगा रहना चाहिए, उसे न ता बोलना चाहिए, न चुम्बन करना चाहिए और न स्त्री के साथ किसी प्रकार की रतिक्रीड़ा में संयुक्त होना चाहिए।
6. यह संबंध केवल एक पुत्र उत्पन्न होने तक या कभी-कभी दो पुत्र उत्पन्न होने तक रहता है।
7. नियुक्त विधवा को अपेक्षाकृत युवा होना चाहिए, उसे बूढ़ी या वन्ध्या (बाँझ), अतीतप्रजनन-शक्ति, बीमार, इच्छाहीन या गर्भवती नहीं होना चाहिए।
8. एक पुत्र की उत्पत्ति के उपरांत दोनों को एक-दूसरे से अर्थात् नियुक्त पुरूष को श्वशुर-सा एवं नियुक्त विधवा या स्त्री को वधू सा व्यवहार करना चाहिए।[11]

स्मृतियों में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि बिना गुरूजनों द्वारा नियुक्ति के या अन्य उपर्युक्त दशाओं के न रहने पर अपने यदि देवर अपनी भाभी से संभोग करे तो वह बलात्कार का अपराधी माना जाएगा।[12] इस प्रकार के संभोग से उत्पन्न पुत्र जारज कहा जाएगा तथा संपत्ति का अधिकारी नहीं होगा[13] और उत्पन्न करने वाले का पुत्र कहा जायेगा।[14] नारद के मत से यदि कोई विधवा या पुरूष नियोग के नियमों के प्रतिकूल जाय, तो राजा द्वारा उन दोनों को दण्ड मिलना चाहिए, नहीं तो गड़बड़ी उत्पन्न हो जायगी। इन सब नियंत्रणों से स्पष्ट है कि धर्मसूत्रकाल में भी नियोग उतना सरल नहीं था और यह प्रथा उतनी प्रचलित नहीं थी।

महाभारत में नियोग-प्रथा को पुत्र प्राप्ति के लिए धर्मसम्मत माना गया है।[15] उसमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं यथा- विचित्रवीर्य के निःसंतान मर जाने पर उसकी रानियों ने व्यास से नियोग करके धृतराष्ट्र और पाण्डु को उत्पन्न किया था। पाण्डु के अयोग्य होने पर कुन्ती और माद्री ने नियोग द्वारा पुत्र पैदा किये थे। महर्षि व्यास ने सत्यवती की विधवा पुत्र-वधुओं के साथ नियोग किया था। परशुराम ने जब अनेकानेक क्षत्रियों का वध कर डाला, तब बहुत सी क्षत्रिय नारियाँ ब्राह्मणों के यहाँ पुत्र उत्पन्न करने गयी थी।[16] महाभारत के अनुसार नियोग द्वारा अधिक से अधिक तीन पुत्र उत्पन्न किये जा सकते थे।[17]

बौद्ध साहित्य से भी नियोग प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। एक जातक से विदित होता है कि एक राजा के मरने पर उसकी पत्नी ने राजपुरोहित से विवाह कर लिया। जातकों में ऐसी विवाह-प्रणाली का विस्तृत विवरण मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में स्त्रियों की अवस्था नैतिक दृष्टि से अत्यंत निम्न हो गयी थी। एक स्त्री ने राजा को उत्तर दिया था, ''पुत्र तो गोद में है, पति रास्ते-रास्ते सुलभ है।''[18] इस कथन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज का नैतिक पतन हो चुका था तथा स्त्रियों पर कोई नियंत्रण एवं बंधन नहीं रह गया था। इस स्थिति को देखते हुए हिंदू धर्मशास्त्रकारों ने समाज की व्यवस्था को सुदृढ़ता एवं स्वच्छता प्रदान की तथा उसे पतन की ओर अग्रसर होने से रोका।

बौद्ध युग के बाद मनु और याज्ञवल्क्य जैसे व्यवस्थाकारों ने नवीन नियमों और वर्तमान समाज के संदर्भ में आदर्श सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया। धर्म, नियम, नीति और लोकवृत्ति जैसे तत्वों का सन्निवेश करके नवीन व्यवस्थाओं को व्यावहारिकता प्रदान की गई। धर्मशास्त्रों में नवीन-व्यवस्था का पुत्रप्राप्ति के उद्देश्य से आवरण में एक ओर विहित मानकर भी उसका प्रशस्त समर्थन नहीं किया गया तथा समाज सुधारकों ने समाज की नैतिकता और पवित्रता बनाए रखने के उद्देश्य से इस प्रथा का विरोध भी करना प्रारंभ कर दिया। आपस्तम्ब, बौधायन और मनु जैसे विचारकों ने इस व्यवस्था की निरर्थकता ही सिद्ध की है।[19]

जहाँ गौतम ऐसे धर्मसूत्रकारों ने नियोग को वैध ठहराया है, वहीं कतिपय अन्य धर्मसूत्रकारों ने, जो काल में गौतम के आसपास ही थे, इसे घृणास्पद मानकर वर्जित कर दिया था। आपस्तम्बध र्मसूत्र[20], बौधायनधर्मसूत्र[21] आदि ने नियोग की भर्त्सना की है। मनु[22] ने नियोग का वर्णन करने के उपरान्त इसकी बुरी तरह से भर्त्सना की है। मनु ने इसे नियमविरूद्ध एवं अनैतिक ठहराया है। उन्होंने राजा वेन को इसका प्रथम प्रचालक माना है और उसे 'वर्ण-संकरता'' का जनक मानकर निन्दा की है। उन्होंने लिखा है कि भद्र एवं विज्ञ लोग नियोग की निंदा करते हैं, किंतु कुछ लोग इसे अज्ञानवश अपनाते हैं। मनु ने नियोग का अर्थ यह कहकर समझाया है कि नियोग के विषय में नियम केवल कन्या के लिए है, जो वधूरूप में प्रतिश्रुत हो चुकी थी किंतु भावी पति मर गया, ऐसी स्थिति में मृत पति के भाई को उस कन्या से विवाह करके केवल ऋतुकाल में एक बार संभोग तब तक करना पड़ता था जब तक कि पुत्र उत्पन्न न हो जाये, और वह पुत्र मृत व्यक्ति का पुत्र माना जाता था।[23] यद्यपि मनु ने नियोग की प्राचीन प्रथा की निंदा की है, किंतु उत्तराधिकार एवं रिक्थ के विभाजन में क्षेत्रज पुत्र की व्यवस्था रखी है।[24] इस संदर्भ में वृहस्पति ने लिखा है - ''मनु ने प्रथम नियोग का वर्णन करके इसे निषिद्ध किया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में लोगों में तपोवल एवं ज्ञान था, अत: वे नियमों का पालन तथैव कर सकते थे, किंतु द्वापर एवं कलियुगों में लोगों में शक्ति एवं बल का ह्रास हो गया है, अत: वे नियोग के नियमों के पालन में असमर्थ हैं।''[25]

नियोग से उत्पन्न पुत्र किसका है? इस विषय में भी मतैक्य नहीं है। वसिष्ठधर्मसूत्र[26] ने स्पष्टत: इस प्रकार के विभिन्न मतों की ओर संकेत किया है-

1. प्रथम मत के अनुसार पुत्र जनक का होता था, किंतु इस मत से नियोग की उपयोगिता निरर्थक सिद्ध हो जाती है। निरूक्त[27] ने इस मत का समर्थन किया है और ऋग्वेद[28] को उदाहरण माना है। गौतम[29] एवं मनु[30] ने भी यही बात मानी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र[31] का कहना है कि एक ब्राह्मण ग्रंथ के अनुसार पुत्र जनक का ही होता है।

2. द्वितीय मत यह था कि यदि विधवा के गुरूजनों एवं नियुक्त पुरूष में यह तय पाया हो कि पुत्र-पति का होगा तो पुत्र पति का ही माना जाएगा।[32]
3. तृतीय मत यह था कि पुत्र दोनों का अर्थात् जनक एवं विधवा के स्वामी का होता है। यह मत नारद[33], याज्ञवल्क्य[34], मनु[35] एवं गौतम[36] का है।

निष्कर्षत: हम कह सकते है कि नियोग की प्रथा प्राचीन थी और उसके कई कारण थे, किन्तु वे सभी अज्ञात एवं रहस्यात्मक हैं, केवल एक ही सत्यता स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही पुत्रोत्पत्ति पर बहुत ध्यान दिया गया है। वसिष्ठधर्मसूत्र[37] ने यह मत माना है और वैदिक उक्तियों के आधार पर पितृऋण से मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पति की एवं स्वर्गिक लोकों की प्राप्ति की महत्ता प्रकट की है। किसी भी ऋषि ने इसके पीछे आर्थिक कारण नहीं रखा है। यदि आर्थिक कारणों से गौण पुत्र प्राप्त कर लेगा। किंतु धर्मशास्त्रकारों ने इसकी आज्ञा नहीं दी है। जिसे औरस पुत्र होता था वह क्षेत्रज अथवा दत्तक पुत्र नहीं प्राप्त कर सकता था। अत: स्पष्ट है कि नियोग के पीछे आर्थिक कारण नहीं थे। विन्तरनित्ज़ ने नियोग कारणों में दरिद्रता, स्त्रियों का अभाव एवं संयुक्त परिवार माना है। किंतु इसके विषय में कि ऐतिहासिक काल में भारत में स्त्रियों का अभाव था, कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। हाँ, युद्धों के कारण पुरूषों का अभाव अवश्य रहा होगा और न अन्य कारण, यथा दारिद्र्य तथा संयुक्त परिवार ही विश्लेषण से ठहर पाते हैं। यही कहना उत्तम जँचता है कि नियोग अति अतीत प्राचीन प्रथा का अवशेष मात्र था जो क्रमश: विलीन होता हुआ ईसा की आरंभिक शताब्दियों में भारत में सदा के लिए वर्जित हो गया।

संदर्भ-सूची

1. गौतम 18/4-8
2. गौतम 18/11(आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2/6/13/6)
3. वसिष्ठ, 12/47 (मनु 4/92)
4. बौधायनधर्मसूत्र 2/2/17
5. मनु 4/59/61
6. बौधाायनधर्मसूत्र 2/2/68-70
7. याज्ञवल्क्य 1/68-69
8. नारद, स्त्रीपुंस 80-83
9. अर्थशास्त्र 1/17
10. अर्थशास्त्र 3/6
11. मनु 9/62
12. मनु 9/58, 63, 143, 144
13. नारद स्त्रीपुंस 84-85
14. वसिष्ठधर्मसूत्र 17/63
15. महाभारत 13.12.19
16. महाभारत, आदिपर्व 95, 103, 120.23

17. महाभारत 1.132(63-34
18. सुसीम जातक 163
19. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 3.6.13.8
20. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/10/27/5-7
21. बौधायनधर्मसूत्र 2/2/38
22. मनु 9/64-68
23. मनु 9/69-70
24. मनु 9/120-121, 145
25. याज्ञवल्क्य 1/68-69 की टीका में अपरार्क द्वारा तथा मनु 9/68 की टीका में कुल्लूक द्वारा उद्धृत
26. वसिष्ठधर्मसूत्र 17/6
27. निरूक्त 3/1-3
28. ऋग्वेद 7/4/7-9
29. गौतम 18/9
30. मनु 9/181
31. आपक्तम्बधर्मसूत्र 2/6/13/5
32. गौतम 19/10-11, वसिष्ठ 17-8 एवं आदिपर्व 104/6
33. नारद स्त्रीपुंस (58)
34. याज्ञवल्क्य 2/127
35. मनु, 9/53
36. गौतम, 18/13
37. वसिष्ठधर्मसूत्र 17/1-6

वैदिककालीन शिक्षा में संस्कार की प्रासंगिकता

(वर्तमान संदर्भ में)

अमित कुमार जायसवाल

शोधार्थी, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग,
बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

वैदिक युग में शिक्षा को ज्ञान का महत्वपूर्ण स्रोत माना गया है, जो मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रकाशमय कर उसके 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् अज्ञान के अंधकार से दिव्य प्रकाश के पथ पर अग्रसारित करती है। वेद भारतीय सभ्यता संस्कृति तथा शिक्षा का मूल आधार है। इन वेदों में जहाँ भारतीय अध्यात्मवाद की अमूल्य निधि सुरक्षित है, वहीं मानव जीवन के समग्र विकास के लिए आवश्यक शिक्षाएँ भी संग्रहीत हैं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के गर्भ में जिस संस्कारयुक्त प्राचीन शिक्षा पद्धति का विकास हुआ, उसे वैदिक शिक्षा के नाम से जाना गया और इस शिक्षा के महान केन्द्रों को गुरूकुल की संज्ञा दी गई। इनमें शिक्षा के माध्यम से धर्म को मनुष्य में संस्कार रूप में प्रतिष्ठित करने वाली शिक्षा पद्धति को 'गुरूकुल प्रणाली' कहा गया है।

गुरूकुल शिक्षा के उद्भव तथा स्वरूप के विषय में मान्यता है कि चारो वेदों का ज्ञान स्वयं ईश्वर ने अलग-अलग चार ऋषियों को प्रदान किया। ऋग्वेद के ज्ञाता ऋषि अग्नि, यजुर्वेद के आदित्य, सामवेद के वायु, तथा अथर्ववेद के महान ज्ञाता अंगिरा ऋषि थे।[1] गुरूकुल शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि बालक के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए उसका माता-पिता के प्रभाव में रहना ही काफी नहीं है बल्कि इसकी सम्पूर्णता हेतु उसे आचार्य के पावन सान्निध्य में भी अनिवार्य रूप से रहना चाहिए। भारतीय मनीषियों का दृढ़ विश्वास रहा कि इस शिक्षा के द्वारा अर्जित एवं विकसित बुद्धि ही मनुष्य का वास्तविक बल होता है जिसको प्राप्त करने को गुरूकुल शिक्षा, तप और यज्ञ प्रमुख साधन बनाए गए। ज्ञान व्यक्ति की माता के समान रक्षा करती है तथा पिता की तरह उसे कल्याणकारी मार्ग की ओर प्रेरित करती है। 'मातृमान, पितृमान आचार्यवान् पुरूषो वेद' जैसा वेदवाक्य भी यही उद्घोष करता है कि शिशु सर्वप्रथम जननी, बाद में पिता तत्पश्चात् गुरू के सान्निध्य में रहता है जिसका उसके समग्र व्यक्तित्व पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।[2] गुरू उसे सुसंस्कारित बनाता है। मनुस्मृति के अनुसार उपनयन संस्कार के उपरांत विद्यार्थी का दूसरा जन्म होता है। सविता माँ और आचार्य ही उसका पिता होता है।[3]

वैदिक युग में शिक्षा को एक ऐसी अनन्त शक्ति समझा गया था जो मानव जीवन की सफलता के लिए अत्यंत उपयोगी तथा आवश्यक थी। इसी क्रम में गुरूकुल शिक्षा पद्धति को यदि परिभाषित किया जाए तो यह एक ऐसी शक्ति या प्रक्रिया रही जो छात्र के सर्वांगीण अर्थात्, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व के संतुलित विकास में महत्वपूर्ण योगदान करती है।[4] चूँकि प्राचीन भारतीय समाज के सभी पक्ष धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण रहे हैं, परिणामस्वरूप प्राचीन काल की यह शिक्षा प्रणाली भी धर्म पर आधारित थी और वैदिकयुगीन शिक्षा पद्धति उसका आदर्श स्वरूप प्रस्तुत करती है क्योंकि इसमें संस्कारों का भी समुचित समन्वय रहा है। डॉ० राधा कुमुद मुखर्जी के अनुसार ''प्राचीन शिक्षा पद्धति केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए नहीं थी और न ही धर्म, धर्म का एक अंग थी, अपितु इसका प्रमुख उद्देश्य मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना था।'' इसी परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इसके संस्कारों का समुचित समावेश मिलता है क्योंकि संस्कार भी व्यक्तित्व के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी थे। संस्कारों का उद्देश्य भी व्यक्ति के शरीर को परिष्कृत तथा पवित्र बनाना तथा उसका नैतिक विकास करना था।[5]

गुरूकुल शिक्षा में संस्कार, यद्यपि संस्कार शब्द का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं मिला, मगर मीमांसकों द्वारा इस शब्द का प्रयोग याज्ञिक-सामग्रियों के शुद्धिकरण के अर्थ में किया जाता रहा है और वास्तविक रूप में संस्कारों का विधाान सूत्र साहित्य के अंतर्गत हमें गृह सूत्रों में विस्तृत रूप में मिलता है। संस्कारों का डोर एक तरह से व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त बांधे रखती है। किंतु गुरूकुल शिक्षा प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में 'उपनयन' तथा 'समापवर्तन' संस्कारों को विशेष महत्व दिया गया था। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति के जीवन का हर कालचक्र किसी न किसी देवता द्वारा नियंत्रित होता है और यही कारण था कि विद्यारम्भ जैसा महत्वपूर्ण कार्य 'उपनयन' संस्कारों से प्रारम्भ होता था।

'उपनयन' का शाब्दिक अर्थ समीप ले जाने से है।[7] वैदिक काल में यह लोकप्रिय एवं प्रचलित संस्कारों के रूप में प्रतिष्ठित था क्योंकि ऋग्वेद में दो स्थानों पर ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख धार्मिक-विद्यार्थी के जीवन के अर्थ में प्राप्त होता हैं। अथर्ववेद में सूर्य का वर्णन ऐसे ब्रह्म बालक के रूप में मिलता है जो अपने आचार्य के निकट समिधा तथा भिक्षा के साथ पहुंचता है। यह तो उदाहरण इनकी व्याख्या हेतु है, ऐसे ही ब्रह्मचारियों को ऊर्जावान बनाया तथा उनमें नैतिक तथा सामाजिक दायित्वबोध जाग्रत करना इसका प्रमुख लक्ष्य रहा जिसके माध्यम से गुरू शिष्य परम्परा संस्थापित तथा समृद्ध हुई।

धर्मशास्त्रों मे 'उपनयन' संस्कार के लिए ब्रह्मचारी की आयु के विषय में भी उल्लेख प्राप्त होता है तथा द्विज वर्ग के तीनों वर्णों - ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य विद्यार्थियों के लिए अलग-अलग निर्धारित थी।[8] आयु निर्धारण में बोधायन का मत है कि उपनयन संस्कार 8 से 16 वर्ष के मध्य सम्पन्न हो जाना चाहिए। 16 वर्ष के बाद वैदिक शिक्षा प्राप्त करने की मान्यता नहीं थी क्योंकि सामान्य रूप में संस्कारों के साथ-साथ आश्रम व्यवस्था का पालन भी करना होता था और प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य की अवधि 25 वर्ष निर्धारित की गई थी।

शिक्षा का प्रारंभिक चरण परिवार से प्रारम्भ होता था और ब्राह्मण बालक सामान्यत: परिवार में रहकर ही विद्यारम्भ करते थे जबकि शेष दोनों वर्ण क्षत्रिय एवं वैश्य छात्रों को परिवार छोड़कर जाना

पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में इन छात्रों का 'उपनयन' उस समय होता था जब वह अपने माता-पिता तथा परिवार से अलग रहने योग्य हो जाते थे। उपनयन संस्कार के महत्व को प्रतिपादित करते हुए मनु ने कहा है कि इसके द्वारा इहलोक तथा परलोक दोनों जीवन पवित्र हो जाते हैं। किंतु इसमें कोई संशय नहीं है कि इसका प्रमुख उद्देश्य 'शैक्षिक जीवन' की पूर्णता से था।[9] याज्ञवल्क्य का मानना था कि 'उपनयन' का परम ध्येय विद्याध्ययन है तथा आचार्य को दीक्षित शिष्य को ही वेद और आचार की शिक्षा ग्रहण करानी चाहिए। इस संस्कार के लिए आयु के समान ही तीन वर्णों के लिए अलग-अलग ऋतुओं का भी विधान किया गया था। ब्राह्मण बालक का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म तथा वैश्य का पतझड़ के समय उपनयन संस्कार होना चाहिए। उपनयन संस्कार से एक दिन पूर्व गणेश, लक्ष्मी, धृति, सरस्वती, मेधा आदि देवी देवताओं का विधिवत् पूजन सम्पन्न होता था और इससे पहले की रात्रि में बालक मौनव्रती हो जाता था। प्रातःकाल में बालक को अपनी माँ के साथ एक ही थाली में भोजन कराया जाता। सम्भवतः यह माँ के साथ उसका अंतिम भोज होता था और यह प्रक्रिया उसे नवीन, संयमित और अनुशासित जीवन का पाठ पढ़ाती थी क्योंकि आगे का ब्रह्मचारी जीवन उसे गुरू के निर्देशानुसार माता से अलग रहकर व्यतीत करना होता था।[10]

उपनयन में ब्रह्मचारी को दिये जाने वाले यज्ञोपवीत भी तीनों वर्णों के लिए अलग-अलग ढंग के धारण कराने का विधान मिलता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों के लिए क्रमशः कपास, ऊन, तथा सन के बने यज्ञोपवीत बताए गए। यज्ञोपवीत की तीन डोरियां क्रमशः सत्, रज तथा तम त्रिगुण से परिपूर्ण कहे गये हैं।[11] साथ ही ब्रह्मचारी को ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण से उऋण होने को भी प्रेरित करती थी। उपनयन संस्कार का ब्रह्मचारी के जीवन में सामाजिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से समान रूप से अत्यंत महत्व था। इसके उपरांत ही पूर्ण रूप में अपने वर्ण तथा समाज का सदस्य बनता था और यह संस्कार सम्पन्न होने के बाद उसे वेद-वेदांगों के अध्ययन की अनुमति प्राप्त होती थी।[12] चूँकि अब पूरी तरह समाज पर आश्रित होता था इसलिए उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा तो बढ़ती ही थी उसे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने का भी सुअवसर प्राप्त होता था। प्रायः वेदारम्भ तथा उपनयन संस्कार साथ-साथ सम्पन्न होते थे।[13]

समावर्तन संस्कार गुरूकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करते हुए जब शिष्य शिक्षा पूर्ण कर लेता था तब उसकी समावर्तन संस्कार के द्वारा स्वगृह वापसी होती थी। कुछ शास्त्रों में इस संस्कार को स्नान की भी संज्ञा दी गई है, क्योंकि इस अवसर पर स्नान अत्यंत महत्वपूर्ण था जिसके उपरांत ही छात्र स्नातक बनता था।[14] समावर्तन किसी शुभ दिवस पर सम्पन्न होता था। उसे आठ कलशों में भरे हुए जल से स्नान कराया जाता था। तत्पश्चात् उपनयन के समय मिले हुए दण्ड, मृगचर्म, मेखला को त्याग कर नवीन कोपिल धारण करता था। उसका क्षौर कर्म होता था। नए परिधान आभूषण आदि धारण कराये जाते थे। अंत में आचार्य ब्रह्मचारी के निमित्त वर्षों के प्रेम से अभिषिक्त हृदय ग्राही समावर्तन का उपदेश देते थे। उपदेश में एक-एक वाक्य में श्रद्धा-विश्वास, प्रेम-भक्ति, ज्ञान-वैराग्य तथा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण की वर्षा होती थी। आचार्य शिष्य को सदा सत्य बोलना, कर्तव्य पालन, सदैव अध्ययनरत रहना, गुरू की इच्छानुसार दक्षिणा प्रदान करना, गृहस्थ धर्म के कर्तव्य का पालन करना, धर्म कर्म से विमुख न होना, निन्दनीय कर्मों से दूर रहना, ये सभी सिद्धांत वेदाज्ञा कहे गए है। इसका तात्पर्य केवल धार्मिक कर्तव्यों का बोध कराना ही नहीं अपितु छात्रों को सच्चे

कर्तव्यपरायण नागरिक बनने के लिए प्रेरित करना था। ताकि स्वस्थ तथा समृद्ध समाज का निर्माण हो सके।[15] उपर्युक्त दीक्षांत भावना आधुनिक दीक्षांत भाषणों के समस्त उपयोगी तत्वों से तो परिपूर्ण होते ही थे, साथ ही इनमें गुरू शिष्य के आत्मिक प्रेम की जो पवित्र ज्योति परिलक्षित होती है, वह भारतीय संस्कृति की अक्षय निधि है।

वर्तमान उच्च शिक्षा आज अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है जिसके परिणामस्वरूप युवा पीढ़ी दिग्भ्रमित हो रही है। बढ़ते जा रहे मानसिक प्रदूषण ने समाज में अपराधीकरण, अनुशासनहीनता, नशाखोरी, गैंगवार, रैगिंग जैसी ज्वलन्त समस्याएँ खड़ी कर दी हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में विदेशी संस्कारों की नींव पर पनपती अपसंस्कृति है। जहाँ गुरूकुल शिक्षा का आधार संस्कारों को गढ़ना था, वहीं वर्तमान शिक्षा प्रणाली हताशा और निराशा का संचार कर नवोदित प्रतिभाओं को आत्महत्या जैसी महापाप करने को मजबूर कर रही है। जबकि गुरूकुल शिक्षा सामाजिक दायित्व बोझ, कर्तव्यनिष्ठा तथा कठोर परिश्रम और सुसंस्कारयुक्त नागरिकों के निर्माण की प्रक्रिया पूरी करती थी।

त्याग और भोग के बीच चल रहे इस द्वन्द्व ने गुरूकुल शिक्षा के औचित्य पर एक बार पुनः बहस खड़ी कर दी है जिसका लोककल्याणकारी स्वरूप समाज के समक्ष प्रस्तुत करना इतिहासकारों का परम दायित्व है। विश्वबंधुत्व करूणा मैत्री, परस्पर प्रेम जैसी मानवीय गुणों का विकास तो संस्कारयुक्त शिक्षा से ही सम्भव है जिसे वर्तमान शिक्षा प्रणाली में किसी न किसी रूप में समन्वित करके ही इन समस्याओं का समाधान तलाशा जा सकता है।

संदर्भ-सूची

1. डॉ० रामशकल पाण्डेय : भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास, आगरा, 2011-12, पृ० 3
2. सत्यकेतु विद्या संस्कार : प्राचीन भारत का धार्मिक-सामाजिक और आर्थिक जीवन, नई दिल्ली, पृ० 257
3. मनुस्मृति : 170-396 सम्पादित, डॉ० उर्मिला रूस्तगी।
4. डॉ० रामशकल पाण्डेय : पूर्वोक्त पृ० 4
5. मनुस्मृति : 26-102
6. के०सी०श्रीवास्तव : प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ० 175
7. मनुस्मृति : 36-136
8. के० सी० श्रीवास्तव : पूर्वोक्त
9. मनुस्मृति : 228-492
10. अल्केतर ए०एस० : एजुकेशन इन एंशिएण्ट इंडिया, 276
11. सत्यकेतु विद्यालंकार : पूर्वोक्त पृ० 258
12. जैमिनी सूत्र टीका : 1, 3
13. सरयू प्रसाद चौबे : आदि और मध्ययुगीन भारत में शिक्षा, पृ० 24
14. के० सी० श्रीवास्तव : पूर्वोक्त पृ०
15. डॉ० रामशकल पाण्डेय : पूर्वोक्त पृ० 4

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति शासन की पृष्ठभूमि

गौरव कुमार

शोध अध्येता, इतिहास विभाग
डॉ० भीमराव अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद में ही यह स्पष्ट किया गया है कि भारत राज्यों का एक परिसंघ है। भारतीय संविधान की मूल आत्मा के संघात्मक अथवा एकात्मक अथवा अर्द्धसंघात्मक होने के मुद्दे पर बहस होती ही रही है, फिर भी भारत को परिसंघ कहना अधिक तार्किक होगा।[1] भारत में संघीय शासन व्यवस्था की पृष्टभूमि 1935 ई० के 'भारत सरकार अधिनियम' के पूर्व भी ब्रिटिश भारतीय संवैधानिक विकास की प्रक्रिया में देखी जा सकती है।[2] श्री पी. आर. दुबाशी जैसे राजनीतिक विश्लेज़कों ने स्वतंत्र भारत के संविधान में प्रथम दृष्ट्या 'केंद्रीयता' की प्रवृत्ति को प्रधान प्रवृत्ति माना। किन्तु आगे इसी अध्ययन में उन्होंने भारतीय संविधान के क्रियान्वयन के प्रथम दशक में ही 'सामुदायिक विकास' के कार्यक्रमों को 'केंद्रीयता के विरोधी लक्षणों' के रूप में स्वीकार भी किया।

आज राजनीति विशारद एवं इतिहासवेत्ता यह स्वीकार करने में किंचित् भी असहजता अनुभव नहीं करते कि भारतीय संविधान में 'संघात्मकता' तथा 'एकात्मकता' का अद्भूत समन्वय हुआ है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने अपनी पूरी जानकारी में अत्यंत सतर्क रहते हुये भारतीय प्रशासनिक संरचना के लिए एक सशक्त केंद्रीय प्रवृत्ति के साथ संघीय व्यवस्था को अंगीकार किया।[3]

भारतीय संविधान निर्माता एक स्थिर एवं शक्तिशाली केंद्र चाहते थे। अत: उन्होंने केंद्र तथा संघीय राज्यों के बीच समायोजन के प्रावधान बनाए। इन प्रावधानों के अन्तर्गत कई मुद्दों पर संघीय राज्यों को स्वायत्तता दी गई तो किंचित् परिस्थितयों में केंद्र को राज्यों पर नियंत्रक एवं संतुलनक शक्तियाँ प्रदान की गईं। केंद्र को राज्यों पर नियंत्रण एवं संतुलन बनाए रख कर शक्तिशाली बनाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण प्रावधान किये गये। ऐसे ही प्रावधानों में सर्वाधिक कार्यक्षम अस्त्र भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 है जिसमें भारत संघ के राज्यों में 'राष्ट्रपति का शासन' लागू करने की व्यवस्था उपबंधित है।

यहाँ यह विचारणीय है कि भारत में संघीय राज्यों को स्वायत्तता देने की परंपरा का आरंभ ब्रिटीश शासनावधि में ही हुआ जब लंदन की संसद ने 'भारत सरकार अधिनियम' (1935) पारित किया। इस अधिनियम में स्वायत्त राज्यों को केंद्रीय नियंत्रण में रखने के उद्देश्य से अनुभाग (सेक्शन) 39

की व्यवस्था की गई थी। जब स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया चल रही थी, संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डा० बी० आर० अम्बेडकर ने स्पष्ट उल्लेख किया था कि संविधान सभा ने उनको भारत सरकार अधिनियम (1935) के अनुभाग-93 को संविधान में सम्मिलित कर लेने के लिये कहा था।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि 'भारत सरकार अधिनियम' (1935) में उपबंधित प्रांतीय स्वायत्तता, प्रांतों पर केंद्रीय नियंत्रण के लिये उपबंधित अनुभाग-93 एवं भारतीय संविधान के संघीय स्वरूप तथा सशक्त कंद्रीय व्यवस्था हेतु उपबंधित भाग XVIII के 'आपातकालीन उपबंध' शीर्षक के अन्तर्गत अनुच्छेद 356 के मध्य ऐतिहासिक संबंध है। इस निष्कर्ष को प्रतिष्ठापित करने के लिए भारतीय संविधान के निर्माण एवं विशेषतया भारतीय संविधान के उपबंधों की पृष्टभूमि को खंगालना होगा।

यह सामान्यतया माना जाता है कि भारत सरकार अधिनियम' (1935) का अनुभाग-93 भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356, जिसमें आपातकालीन स्थिति में भारतीय संघ के किसी राज्य में चुनी हुई लोकप्रिय सरकार के संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य नहीं कर पाने की स्थिति में राष्ट्रपति के शासन अथवा केंद्रीय शासन का प्रावधान है, का प्रमुख आधार है। किन्तु सत्य यह है कि अनुच्छेद 356 जैसी व्यवस्था का प्राथमिक बिंदु 1931 ई० का श्वेत पत्र है।[5] इस श्वेत पत्र में प्रान्तीय गवर्नरों को कुछ विशिष्ट शक्तियाँ एवं उत्तरदायित्व सौंपने की सिफारिश की गई थी ताकि प्रांतीय सरकारों की कार्यवाही को सुरक्षित किया जा सके। इसके लिये गवर्नर को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई थी जिसका अनुमोदन राज्य के विधानमंडल द्वारा किया जाना आवश्यक था।[6] यह श्वेत पत्र गवर्नर को किसी प्रांत में संवैधानिक तंत्र की विफलता के समय अतिरिक्त शक्तियाँ भी देता था। इस श्वेत पत्र में उल्लिखित था - ''यदि किसी समय, गवर्नर को शंका हो जाए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें प्रांतीय सरकार संवैधानिक अधिनियम के अनुसार नहीं चल सकती तो वह उद्घोषणा द्वारा उन समस्त शक्तियों को, जो किसी प्रांतीय प्राधिकारी के पास है और जो प्रांतीय सरकार को प्रभावी ढंग से चलाने के लिए आवश्यक है, अपने हाथों में ले सकेगा। इस उद्घोषणा को, जिसका प्रभाव संसद के अधिनियम की भाँति ही होगा, गवर्नर जनरल एवं भारत मंत्री के द्वारा ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत किया जाएगा।''[7]

1931 के श्वेत पत्र का ज्वाइंट कमिटि ऑन इंडियन कॉन्स्टीच्यूशनल रिफार्म्स ने समर्थन किया।[8] तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों के मद्दे नजर ब्रिटिश सरकार को शंका थी कि प्रांतीय विधान मंडलों के सदस्य सदैव गवर्नर के साथ सहयोग नहीं करेंगे तथा इससे प्रांतीय सरकारों को सुचारू रूप से चलाने में व्यवधान आयेगा। साथ ही, यह भी माना गया कि यह प्रावधान विशिष्ट होगा तथा इसे सामान्य स्थितियों में लागू नहीं किया जायेगा।

दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने श्वेत पत्र (1931 ई.) एवं ज्वाइंट कमिटि के एतत्संबंधी प्रस्तावों (1934 ई.) को सिरे से खारिज करते हुये एक संविधान सभा के गठन की मांग की। इसके बावजूद इन सुझावों को 'भारत सरकार अधिनियम' (1935 ई.) में अनुभाग 93 के रूप में सम्मिलित किया गया। इसके अनुसार गर्वनर को अधिकार दिया गया था कि ''यदि गवर्नर को विश्वास हो जाय कि प्रांतों की सरकार अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार नहीं चल रही है तो वह प्रांतों की निर्वाचित लोकप्रिय सरकार को अपदस्त कर सकता है।''[9] इसके लिये गवर्नर मंत्रिपरिषद से परामर्श लेने के

लिए बाध्य नहीं था। गवर्नर प्रांतीय विधानमंडल की शक्तियों का अधिग्रहण कर सकता था तथा ऐसे उपबंधों को एकत्रित कर सकता था जिसे स्थगित करना वह आवश्यक समझें।[10] इसी प्रकार के आपातकालीन विशेष अधिकार केंद्र में गवर्नर जनरल को दिये गये थे।[11]

'भारत सरकार अधिनियम', अनुभाग-45 के अन्तर्गत केंदीय सरकार में गवर्नर जनरल को यह शक्ति दी गई थी कि यदि किसी समय गवर्नर जनरल को यह विश्वास हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें संघीय सरकार इस अधिनियम के उपबंधों के अनुरूप नहीं चल सकती तो वह उद्घोषणा के द्वारा उन समस्त शक्तियों को, जो किसी भी संघीय प्राधिकारी के पास हैं और जो संघीय सरकार को चलाने के लिए आवश्यक हैं, गवर्नर जनरल अपने हाथों में ले सकता है।[12]

संविधान सभा स्वतंत्र भारत के संविधान में 'भारत सरकार अधिनियम' (1935 ई.) के अनुभाग-93 को भारतीय संविधान में समाविष्ट करने के लिए तो तैयार थी किंतु अनुभाग-45 को नहीं।[13] अनुभाग-93 को भी नये संविधान में उपबंधित करने के प्रश्न पर संविधान सभा में मतभेद थे। मूल प्रावधान में कई संशोधन किये गये। इसके कारण भी थे। 'भारतीय सरकार अधिनियम' (1935 ई.) के अनुभाग 93 का ब्रिटिश भारत में कई बार अनुचित प्रयोग हो चुका था तथा इस अनुभाग को 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम' (1947 ई.) में स्थान नहीं दिया गया था।[14] संविधान सभा की 'द मॉडल प्रॉविंशियल कॉन्स्टीच्यूशन कमिटी' भी संविधान में अनुभाग-93 को सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं थी तथा प्रमुख संविधान निर्माताओं में से एक एवं प्रबल राष्ट्रवादी नेता सरदार पटेल ने अनुभाग-93 को 'पिछले दरवाजे' से लाने के विरूद्ध चेतावनी भी दी थी।[15]

पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के शीघ्र बाद देश-विदेश में घटने वाली घटनाओं ने संविधान सभा को इस दिशा में सोचने के लिए विवश किया कि नए संविधान में राज्यों की आपातकालीन स्थितियों से निपटने के लिए विशेष प्रावधान किए जाएं। बर्मा (म्यांमार) की अव्यवस्था, आंग सांग तथा उनके मंत्रीमंडल के सदस्यों की हत्या एवं तेलंगाना प्रदेश के हिंसक आंदोलन इस सोच की जड़ में थे।[16] यहाँ यह भी उल्लेख है कि संविधान सभा के कुछ वरिष्ट सदस्यों, यथा, श्री के. एम. मुंशी एवं सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर इत्यादि का मत था कि राज्यों को पहले ही पर्याप्त स्वायत्तता दी जा चुकी है एवं इसलिए संविधान में ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलता की स्थिति में केंद्र को विशेषाधिकार मिलें।[17] इस संबंध में श्री के. एम. मुंशी के संशोधन संविधान सभा ने स्वीकार किया।

इसप्रकार 'भारत सरकार अधिनियम' (1935 ई.) के अनुभाग 93 को भारतीय संविधान में अनुच्छेद 356 में उपबंधित किया गया तथा अनुभाग 52(1) एवं अनुभाग 57 को छोड़ दिया गया।[18] डा० बी० आर० अम्बेडकर प्रारंभ से इसके पक्ष में थे[19] तो संविधान सभा के अन्य सदस्य श्री शिब्बन लाल सक्सेना ने न तो समर्थन किया और न ही विरोध[20] तो एक अन्य सदस्य ने अपनी तल्ख टिप्पणी में यहाँ तक कह दिया, ''हमारे संविधान निर्माताओं ने 'भारत सरकार अधिनियम', 1935 का एक पृष्ठ उठा लिया और रातों रात उसके समर्थक बन गये, जिसका एक समय व्यापक विरोध किया था।''[21]

वस्तुतः 'भारत सरकार अधिनियम', 1935 के अनुभाग 93 एवं भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 में इतनी अधिक समानता है कि भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 'भारत सरकार अधिनियम'

(1935 ई०) के अनुभाग 93 का सही समानान्तर स्वरूप है।[22] संविधान सभा के एक सदस्य ने तो यहाँ तक कह डाला कि अनुभाग 93 का एक बाइबिल की भांति अनुकरण किया गया।[23]

संदर्भ-सूची

1. भारतीय संविधान अनुच्छेद 1 के अंग्रेजी मूल पाठ, India that is Bharat' shall be a union of states के हिन्दी अनुवाद में 'यूनियन' शब्द का भावार्थ 'परिसंघ' लिया जाता है, 'संघ' लेने से एकताबद्ध केंद्रीयता का आभास होता।
2. एस. पी. अय्यर - द फेडरल आइडिया इन इंडिया, एस. पी. अय्यर एवं उषा मेहता (सं.) - एसेज ऑन इंडियन फेडरलिज्म, बम्बई, 1965, पृ. 1-33
3. पी. आर. दुबाशी - यूनिटरी ट्रेंड्स इन ए फेडरल सिस्टम, एस. पी. अय्यर एवं उषा मेहता (सं.) - एसेज ऑन इंडियन फेडरलिज्म, बम्बई, 1965, पृ. 1. 34-53
4. कॉन्सटीच्यूएंट एसेम्बली डिबेट्स (सी. ए. डी.), खंड 9, पृ. 132
5. श्वेत पत्र - प्रोपोजल फॉर इंडियन कॉन्स्टीच्यूशनल रिफॉर्म्स, (1931), सी. एम. एन. डी., 4268
6. इंडियन स्टेच्यूटरी कमीशन (1930) सी. एम. एन. डी. - 3568, जिल्द-1, पैरा 103-104, पृ. 327-28
7. वही, पैरा 105, पृ. 328
8. ज्वाइंट कमिटी ऑन इंडियन कॉन्स्टीच्यूशनल रिफॉर्म, 1934, एच-एल 5 (1पी. टी.1, एच-सी 5)1पी. टी.1), ऑन स्पेशल पावर्स एट पैराज, 103-111, पृ. 57, 67 ऑन स्पेशल रिस्पॉन्सिबिलिटीज एट पैराज 78-84, पृ. 43, 47
9. अनुभाग 93, भारत सरकार अधिनियम, 1935
10. वही
11. वही
12. वही
13. एस. सी. अरोड़ा (सं.) - प्रेसिडेंशियल रूल इन इंडियन स्टेट्स, नई दिल्ली, 1993, पृ. 95
14. के. वी. राव - पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी ऑफ इंडिया, कलकत्ता, 1961, पृ. 276
15. सी. ए. डी., खंड 5, पृ. 727
16. के. वी. राव - पूर्वोक्त, पृ. 277
17. प्रो. के. वी. राव ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में दावा किया है कि उन्हें यह जानकारी संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री के. एम. मुंशी के व्यक्तिगत कागजात से मिली थी।
18. सी. ए. डी. खंड 9, पृ. 132
19. वही, पृ. 173
20. सी. ए. डी., खंड 9, पृ. 143
21. एस. सी. अरोड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 14
22. के. वी. राव, पूर्वोक्त, पृ. 276
23. सी. ए. डी., खंड 9, पृ. 173

शीत युद्ध के बाद काश्मीर पर अमेरिकी रुख और भविष्य की भूमिका

चरण दास

शोध छात्र, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग,
जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

इंग्लैण्ड के साम्राज्य के अंत के बाद अमेरिका विश्व राजनीति का एक महत्वपूर्ण पात्र बन गया। पाकिस्तान काश्मीर मुद्दे पर अमेरिकी समर्थन के लिए लगातार कोशिश करता रहा है। दक्षिण एशिया में अपने सामरिक और आर्थिक हितों और पाकिस्तान की कश्मीर मुद्दे पर उसके लिए एक बड़ी भूमिका की उत्सुकता के कारण, अमेरिका इस मुद्दे से किसी न किसी रूप में लम्बे समय से जुड़ा हुआ है। लेकिन पिछले पांच दशकों में कश्मीर मुद्दे पर अमेरिका की भूमिका कभी एक समान नहीं रही है और समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील रही है। कश्मीर के लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए सहानुभूति अमेरिकी नीति में दिखती है, लेकिन जब वे इसके लिए हिंसा का सहारा लेते हैं, तो अमेरिका उनको संदेह की दृष्टि से देखता है और इस क्षेत्र की शांति के लिए इसे खतरा मानता है। वह इस मुद्दे पर मध्यस्थ की भूमिका निभाना चाहता है, पर भारत को नाराज नहीं करना चाहता है। शीत युद्ध के बाद क्लिंटन काल में अमेरिका की काश्मीर नीति पूर्व की तरह शांत रही लेकिन बुश जूनियर के कार्यकाल में इसमें कई उतार-चढ़ाव दिखे। 1998 का परमाणु परीक्षण, कारगिल युद्ध और बाद में 9/11 की घटना, इस सब का असर काश्मीर नीति पर पड़ा। इस पृष्ठभूमि में, इस शोध पत्र का मुख्य लक्ष्य, अमेरिका की काश्मीर मुद्दे से सम्बन्धित नीति का निष्पक्ष विश्लेषण करना है।

अतीत में काश्मीर मुद्दे पर अमेरिका का रुख इस बात से प्रभावित रहा है कि पाकिस्तान पूर्व में, साम्यवाद के खिलाफ उसकी जंग में निकटतम सहयोगी रहा है। भारत अमेरिका के इस रुख से कभी भी संतुष्ट नहीं रहा है और इसे अपने हितों के खिलाफ मानता है।

1990 में जनरल कोरस और एडमिरल केल्सो की नई दिल्ली यात्रा के दौरान भारतीय सरकार ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में कहा था कि काश्मीर हमेशा भारत का अभिन्न अंग था और रहेगा। काश्मीर मुद्दे पर भारत के रुख के बारे में अमेरिकी अधिकारियों द्वारा उठाये गये सवालों के जवाब में यह बयान दिया गया था। मार्च 1992 में अमेरिका की अपनी यात्रा के दौरान भारतीय विदेश सचिव ने बहुत सख्ती से कहा कि अमेरिका या पाकिस्तान दोनों में से किसी को यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि भारत अपनी एकता और क्षेत्रीय अखंडता से कोई समझौता करेगा। उन्होंने अमेरिकी अधिकारियों

को यह स्पष्ट कर दिया कि कोई भी व्यावहारिक समझौता करने के लिए यह जरूरी है कि काश्मीर में 1947 के बाद की जमीनी सच्चाई और बदलावों पर गंभीरता से ध्यान दिया जाये। यह रुख बिल्कुल गलत होगा कि भारत पर यह दबाव डाला जाये कि वह विभाजन पूर्व सन्दर्भ से काश्मीर मुद्दे पर चर्चा करे। किसी भी सूरत में भारत ऐसा नहीं करेगा और इस मुद्दे पर एक वैध रुख ही अपनाएगा।

विदेश सचिव की वाशिंगटन यात्रा के बाद काश्मीर मुद्दे पर अमेरिकी रुख में बदलाव आया। मार्च 1991 में एशिया और प्रशांत मामलों के विदेश संबंधों पर सदन समिति की उप-समिति (Sub-committee on Asia and Pacific Affairs of the House Committee on Foreign Relations) की बैठक में डिप्टी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट सुश्री तेरेसिता स्च्फ्फेर (Teresita Schaffer) ने कहा कि काश्मीर में जनमत संग्रह के लिए संयुक्त राष्ट्र के संकल्प की आवश्यकता का जो समर्थन अमेरिका अब तक करता आया है, वह अब तर्कसंगत नहीं रह गया है और इस मुद्दे को 1972 के शिमला समझौते की रूपरेखा के भीतर, द्विपक्षीय वार्ता के द्वारा सुलझाना चाहिए। यह पहली बार था जब अमेरिका ने समाधान के लिए द्विपक्षीय वार्ता की वकालत की।[1]

अमेरिका अपने इस रुख पर ज्यादा समय तक नहीं टिक सका। जॉन मलोट जो उस समय दक्षिण एशिया के लिए अमेरिका के डिप्टी सेक्रेटरी ऑफ स्टेट थे, ने इस मुद्दे पर एक विवादास्पद बयान दिया। इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली में, अपने भाषण में उन्होंने कहा कि काश्मीर मुद्दे पर अमेरिकी नीति तीन सिद्धान्तों के द्वारा निर्देशित की जायेगी। पहला- अमेरिका पूरे काश्मीर को (नियंत्रण रेखा के दोनों तरफ) विवादित क्षेत्र मानता है। अन्य दो सिद्धान्तों का सम्बन्ध द्विपक्षीय वार्ता से समाधान और दोनों पक्षों की सहमति से इस प्रक्रिया में अमेरिका के सहयोग से था। भारत ने पहले सिद्धान्त से असहमति जताई क्योंकि यह शिमला समझौते की भावना के खिलाफ था।[2] परिस्थिति और खराब हो गयी जब नव-नियुक्त असिस्टेंट सेक्रेटरी ऑफ स्टेट सुश्री रोबिन राफेल ने यह बयान दिया कि अमेरिकी नीतियों और विचारों में जम्मु और काश्मीर एक विवादित क्षेत्र है। इस बयान में विस्तार से चर्चा करते हुए उन्होंने 1947 में काश्मीर के महाराजा के द्वारा हस्ताक्षर किये हुए विलय पत्र की राजनीतिक और कानूनी वैधता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। भारत को इन बयानों से अत्यंत निराशा हुई क्योंकि यह ऐसे समय पर आया जब दोनों देशों के बीच अच्छे सम्बन्धों की शुरुआत हो रही थी।[3] जब भारत ने इस बयान के बारे में स्पष्टीकरण मांगा तो अमेरिकी अधिकारियों ने कहा कि वाशिंगटन इस मुद्दे को संवैधानिक और कानूनी रूप से नहीं देखता है। उसका मुख्य लक्ष्य यह है कि इस मुद्दे पर दो एशियाई महाशक्तियों के बीच युद्ध की किसी भी संभावना से कैसे बचा जाये?[4]

हालांकि, बहुत जल्दी ही अमेरिकी प्रशासन को अपनी गलती का एहसास हुआ कि कहीं यह मुद्दा भारत-अमेरिकी संबंधों के बीच रुकावट न बन जाये। उसने अपनी तरफ से पहल करके अमेरिकी विदेश विभाग के श्री पीटर तर्नोफ्फ और भारतीय राजदूत श्री सिद्धार्थ शंकर राय के बीच बैठक की व्यवस्था की, जिसमें श्री पीटर ने भारत को आश्वासन दिया कि अमेरिका अभी भी काश्मीर मुद्दे का हल शिमला समझौते के आधार पर ही चाहता है। इस तरह अमेरिका इस मुद्दे पर अपनी पुरानी स्थिति पर लौट गया।[5]

तब से अमेरिकी प्रशासन ने इस मुद्दे को हल करने की पूरी कोशिश की है पर उसे अपने पाकिस्तान समर्थक रुख के कारण कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। इसी सन्दर्भ में अमेरिकी विद्वान् श्री स्तीफन कोहेन ने कहा है, यह एक आम चर्चा है कि अमेरिका ने पाकिस्तानी सेना के साथ मिलकर पाकिस्तान की राजनीति और विदेश नीति का इतना सैन्यीकरण (militariazation) कर दिया है कि दिल्ली के काश्मीर मुद्दे पर इस्लामाबाद से कोई सार्थक बातचीत कर पाना लगभग असंभव हो गया है।[6]

हालांकि, हाल में अमेरिकी प्रशासन ने दोनों देशों से निरंतर वार्ता जारी रखने की कोशिश की है। अब सक्रिय हस्तक्षेप की जगह भारत और पाकिस्तान के बीच सार्थक वार्ता को बढ़ावा देने की कोशिश की जा रही है। अमेरिका अब समझ गया है कि उसका एकतरफा झुकाव इस मुद्दे को और उलझा देगा। अमेरिकी हस्तक्षेप दोनों देशों की सहमति से ही संभव है। उसका मुख्य लक्ष्य दोनों देशों को इस मुद्दे पर एक आम सहमति बनाने में मदद करना होना चाहिए।[7]

पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज डब्लू बुश काश्मीर मुद्दे पर मध्यस्थता के खिलाफ थे। पर अमेरिकी प्रशासन इस मुद्दे पर दोनों देशों के साथ लगातार काम करता रहना चाहता है, क्योंकि दोनों देश परमाणु शक्ति से सम्पन्न देश है। दोनों के द्वारा परमाणु परीक्षण के बाद लगभग युद्ध की स्थिति दो बार बन चुकी थी। दोनों देशों के द्वारा काश्मीर मुद्दे पर लिए गए रुख को देखते हुए अमेरिका अच्छी तरह समझता है कि इस मुद्दे का शांतिपूर्ण समाधान वर्तमान में तो लगभग असंभव है। अतः इस मुद्दे पर किसी बड़े संकट को रोकने में अमेरिका की अहम् भूमिका होगी। इसी बात को बहुत स्पष्ट रूप से भारत में पूर्व अमेरिकी राजदूत श्री राबर्ट ब्लैकविल ने कहा था। उनके अनुसार, 'संयुक्त राज्य अमेरिका भारत और पाकिस्तान के बीच दो पक्षीय वार्ता का समर्थक है, पर वह इस वार्ता के लिए कोई खाका, या रोड मैप प्रदान नहीं करेगा'।[8]

अक्टूबर 2008 में टाइम पत्रिका के क्लोन के साथ साक्षात्कार में बराक ओबामा ने भारत और पाकिस्तान के साथ संयुक्त वार्ता कर, काश्मीर समस्या को हल करने की कोशिश करने की इच्छा व्यक्त की।[9] उन्होंने यह भी कहा कि इस मुद्दे पर उनकी बिल क्लिंटन से भी बात की है क्योंकि उन्हें इस मुद्दे पर मध्यस्थता करने का अनुभव है। वाशिंगटन टाइम्स के संपादकीय में, सेलिग.एस.हैरिसन[10], जो सेंटर फॉर इंटरनेशनल पालिसी की एशिया पालिसी के निर्देशक हैं, ने इसे ओबामा की विदेशी नीति की पहली भूल माना।[11] दि ऑस्ट्रेलियन ने अपने संपादकीय में मध्यस्थ नियुक्ति की योजना को एक अत्यंत मूर्खतापूर्ण और खतरनाक कदम बताया।[12] दि अटलांटिक ने लिखा, राष्ट्रपति ओबामा के लिए अच्छा होगा कि काश्मीर पर वह कुछ नहीं करे। हमें आशा करनी चाहिए कि भारत-पाकिस्तान अपने मतभेदों को भुलाकर, अपने दम पर काश्मीर पर कुछ समझौता कर सकेंगे।[13] राष्ट्रपति ओबामा ने रिचर्ड होलब्रुक को पाकिस्तान और अफगानिस्तान के लिए विशेष दूत नियुक्त कर दिया। राष्ट्रपति जरदारी ने आशा व्यक्त की कि होलब्रुक काश्मीर मुद्दे पर सक्रिय मध्यस्थता करने का प्रयास करेंगे।[14] इसके बाद काश्मीर को होलब्रुक की कार्य-योजना से हटा दिया गया।[15] दि वाशिंगटन पोस्ट ने अपनी रिपोर्ट में लिखा, 'उनकी कार्य-योजना से काश्मीर को हटाना, भारत के लिए महत्वपूर्ण राजनयिक रियायत है, जो उसके और अमेरिका के तेजी से बदलते अच्छे संबंधों का संकेत है।[16] इसी रिपोर्ट में,

भारत के पूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार ब्रजेश मिश्रा को उद्धृत करते हुए लिखा गया, कोई भी सरकार हो, भारत जम्मू और काश्मीर पर अपना नियंत्रण नहीं छोड़ेगा। यह पत्थर पर लिखी लकीर है, जिसे बदला नहीं जा सकता है। फाइनेंसियल टाइम्स के अनुसार भारत ने ओबामा को चेतावनी दी कि अगर वह काश्मीर पर मध्यस्थता करने को सोच रहे हैं, तो यह उनका एक अनुचित कदम होगा।[17]

जुलाई 2009 में अमेरिकी असिस्टेंट सेक्रेटरी ऑफ स्टेट रोबर्ट ओ ब्लाके जूनियर ने कहा कि इस मुद्दे पर किसी विशेष दूत को नियुक्त करने की कोई योजना नहीं है। इस मुद्दे को भारत और पाकिस्तान को खुद, द्विपक्षीय वार्ता के द्वारा सुलझाना होगा।[18] डॉन अखबार के अनुसार, पाकिस्तान ने इसे भारत के उस मत का समर्थन माना, जिसके अनुसार वह नहीं चाहता कि कोई बाहरी शक्ति की इस विवाद में कोई भूमिका हो।[19]

वर्तमान में भी काश्मीर के प्रति अमेरिका के रुख में कोई बड़ा परिवर्तन होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। अमेरिका भारत से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहेगा। अगर भारत-पाकिस्तान के बीच इस मुद्दे पर कोई बड़ा संघर्ष उत्पन्न होने की संभावना बनती है तो ओबामा निश्चित ही उसे शांत करने के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभाएंगे और उस नीति का अनुसरण करेंगे जो शीत युद्ध के अंत के बाद से अमेरिका की काश्मीर नीति का मुख्य अंग रहा है।

हालांकि, भविष्य में इस मुद्दे पर कोई भी अमेरिकी मत संभवत: इन कारकों द्वारा निर्धारित होगा-

1. अमेरिका के साथ भारत के बढ़ते आर्थिक और सैन्य सम्बन्धों की प्रगाढ़ता
2. अमेरिका के लिए पाकिस्तान कितना प्रासंगिक है और
3. प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर भारत का रुख।

संदर्भ-सूची

1. सुभाष शुक्ला, फॉरेन पालिसी ऑफ इंडिया, अनामिका पब्लिशर्स, पृ. 39-44, 2007
2. रीटा चोधरी ट्रमब्ले, इंडो-यूएस रिलेसन्स एण्ड डी काश्मीर इशू, इन अशोक कपूर (सम्पादित), इंडिया एण्ड यूनाइटेड स्टेट्स इन ए चेंजिंग वर्ल्ड, सेज पब्लिकेशन, न्यू डेलही, पृ. 522-23, 2002
3. सुभाष शुक्ला, पृ. 4
4. तथैव, पृ. 51-52
5. रीटा चौधरी ट्रेमब्ले, पृ. 524
6. अभय आर कर्वे, इंडो-यूएस स्ट्रटेजिक रिलेशन्स: मूविंग फ्रॉम इस्तरेंजमेंट टू इनगेजमेंट, पेपर प्रेस्न्तेड नेशनल वार कॉलेज, 2004
7. सलीम किदवई, यू-एस एण्ड साउथ एशिया: पोस्ट 9/11 सिनेरियो, इन सलीम किदवई (सम्पादित), यू-एस पालिसी टुवर्ड्स साउथ एशिया: फोकस ऑन सिक्सटी इयर्स, अकादमिक एक्सीलेंस, न्यू डेल्ही, पृ. 37, 2008
8. स्टेफेन फिलिप कोहेन, दी आईडिया ऑफ पाकिस्तान, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू डेल्ही, पृ. 322, 2005
9. डी. फुल ओबामा इंटरव्यू, टाइम्स, अक्टूबर, 2008

10. "SELIG S. HARRISON, director of the Asia Program at the Center for International Policy". Ciponline.org. http:/www.ciponline.org/asia/Seligbio.html, Retrieved 2013.02.12
11. काश्मीर इशू लीडिंग ओबामा इन टू फर्स्ट 'टार पिट', दी वाशिंगटन टाइम्स, 2009-01-06
12. एशियाई इस्लामिस्म इंजन, दी ऑस्ट्रलियन, 2008-12-04
13. व्हाट शुड ओबामा टू ऑन काश्मीर, फोर्ब्स, 2008-12-01
14. पार्टनरिंग विथ पाकिस्तान, दी वाशिंगटन पोस्ट, 2009-01-28
15. काश्मीर टेकेन आउट हाल्ब्रुक्स ब्रीफ, डॉन, 2009-01-31
16. युस रिमूवस काश्मीर फ्रॉम इनवॉयस मैंडेट, इंडिया एक्सुल्ट्स, दी वाशिंगटन पोस्ट, 2009-01-30
17. इंडिया वार्नस ओबामा ओवर काश्मीर, दी फाइनेंसियल टाइम्स, 2009-02-03
18. युस हेस नो प्लान्स टू अप्पुइंत स्पेशल एन्वोय टू काश्मीर, ब्लाके, दी न्यूज इंटरनेशनल, 2009-07-16
19. डॉन, 2009-07-01

इतिहास

स्वतंत्रता संग्राम में मुंगेर जिला के किसानों का योगदान

एक अध्ययन

विकास कुमार

शोधार्थी, इतिहास विभाग, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भारत की आजादी की लड़ाई में बिहार के मुंगेर जिले के किसानों के त्याग और बलिदान की अमर गाथा को कभी भुलाया नहीं जा सकता है। ब्रिटिश शासक के शोषण नीति के कारण सम्पूर्ण भारत की जनता प्रताड़ित हो रही थी। इसी क्रम में स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में मुंगेर जिला किसानों ने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता को भी अपना ध्येय बनाया। मुंगेर जिला का निर्माण भागलपुर जिले से काटकर 1812 ई. में हुआ।[1] 1922-1923 ई. में यहाँ विधिवत् किसान सभा की स्थापना हुई। शाह मुहम्मद जुबैर साहब इसके अध्यक्ष थे, श्री कृष्ण सिंह उपाध्यक्ष, श्री सिद्धेश्वर चौधरी एवं नंद कुमार सिंह इसके सचिव थे। इन लोगों के सहयोग से आन्दोलन में तीव्रता आई। बेराजगारी दूर करने और अपनी हक के लिए दरभंगा और बनौली राज्य के विरूद्ध किसान आन्दोलन की शुरूआत की गई।

बिहार में श्री कृष्ण सिंह द्वारा प्रथम मंत्रिमंडल का गठन किया गया तो किसानों में उम्मीद की नई किरणें प्रस्फुटित हुई। किसानों को यह उम्मीद बनी कि उनके दु:ख अब दूर होंगे। वे खूंखार जमीन्दारों के खूनी पंजों के शिकार नहीं होंगे। वे संगठित होकर जमीन्दारों द्वारा की गयी ज्यादतियों का खुला विरोध करने लगे। कांग्रेस की ओर से इन्हें सहायता मिली। इस तरह सब जगह किसान आंदोलन की लहर जोरों से चल पड़ी।

मार्च 1936 ई. में जिला कांग्रेस कमिटी ने किसानों के बीच काम करने के लिए समिति बनाई। इसके सदस्य थे- पंडित कार्यानन्द शर्मा, नन्द कुमार सिंह और महन्त रामस्वरूप दास। कार्यानन्द शर्मा उसके संयोजक बनाये गये। दूसरे वर्ष किसान कमिटी में नन्द कुमार सिंह, महन्त सियाराम दास, श्यामा प्रसाद सिंह, बनारसी प्रसाद सिंह, बलदेव प्रसाद सिंह, सूर्य नारायण और परमानन्द सदस्य चुने गये। मुंगेर जिले के विभिन्न भागों में किसान आंदोलन चल पड़ा।

कुछ दिनों बाद पंडित कार्यानन्द शर्मा ने स्वामी सहजानन्द सरस्वती के साथ होकर स्वतंत्र किसान सभाएं कायम की। इसी समय खड्गपुर में किसान सम्मेलन किया गया। श्री कृष्ण सिंह, स्वामी जी, पंडित कार्यानन्द शर्मा तथा अन्य लोगों ने इसमें सक्रिय भाग लिया। वास्तव में किसान आंदोलन के

नेता वही थे जो स्वातंत्र्य आंदोलन के नेता थे। 1935 ई. में विधान के अनुसार जब किसान समिति का गठन किया गया तो मुंगेर जिले से इस समिति में श्री कृष्ण सिंह और रामचरित्र सिंह सदस्य चुने गये।[2] कांग्रेस के सहयोग से किसान आंदोलन की शक्ति बढ़ रही थी। अन्य स्थानों की तरह मुंगेर में भी सभाएं की जा रही थी। 1936 ई. में चौथम थाने में तथा कुरबन में बेगारी प्रथा के विरूद्ध किसान आंदोलन खड़ा किया गया। इसी वर्ष बलिया थाने के बांक ग्राम में सदानन्दनपुर के जमीन्दारों के विरूद्ध किसान आंदोलन प्रारंभ हुआ। वहाँ के एक कार्यकर्ता हृदयनारायण ने बांका में एक सभा की जिसमें बाहर से कार्यानन्द शर्मा और महन्त सियाराम दास को बुलाया गया। लेकिन जमीन्दारों के लठैतों की लाठियों से लोगों में भगदड़ मच गई। उसी समय जमीन्दारों के खिलाफ मनसेर, बलिया, पहाड़पुर, मलहीपुर, धर्मपट्टी, पुलमिलिक, परोड़ा आदि ग्रामों में भी आंदोलन छिड़ गया। खगड़िया थाने में मुसीलाल वर्मा और परमानन्द ठाकुर के नेतृत्व में किसान आंदोलन का संगठन हुआ। कुछ दिनों के बाद सिमराहा, छिलकोड़ी, और थियाड़ी घाट में बेगारी प्रथा के विरूद्ध किसानों ने आंदोलन चलाया। इसके पश्चात् रहीमपुर, दुर्गापुर, मेहपौरी मनीसकरपुरा, लायगाँव, खुटहा, और बवनगांवा में 'नजराना', 'पकराना' तथा 'गंजेरी कट' के कारण किसानों ने जमीन्दारों के खिलाफ आंदोलन छेड़ा।

पूर्व में 1931 ई. में मुंगेर मुफस्सिल थाने के अंदर बिन्दा दियारे में आंदोलन प्रारंभ हुआ। 1930 ई. तक गंगा शिकस्त जमीन के संबंध में यह नियम था कि यदि पुराना जोतदार चार आने बीघा मालगुजारी बराबर देता रहे तो वह जमीन का मालिक बना रहेगा और पानी से जमीन बाहर आने पर उसी का हक होगा। पीछे यह कानून बना कि जब जमीन गंगा शिकस्त हो तो रैयतों से मालगुजारी नहीं ली जाए और जमीन बाहर होने पर नये सिरे से किसी रैयत के हाथ बन्दोबस्त किया जाए। यह कानून रैयतों के हक में अच्छा नहीं था। इसलिए उनलोगों ने आन्दोलन मचाया। कुमार कालिका प्रसाद सिंह ने इस मामले को काउन्सिल में रखा। कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने यह निर्णय दिया कि रैयतों को गंगा शिकस्त जमीन के लिए एक आना प्रति बीघा की दर से लगान देना होगा और जमीन पर उन्हीं का स्वामित्व रहेगा।[3] 1937-38 ई. में दरभंगा राज के बंगलवा ग्राम में सन्थाल, मुसहर आदि निम्न श्रेणी के लोगों ने बेगारी के खिलाफ आंदोलन खड़ा किया। इस सिलसिले में स्वामी सहजानन्द सरस्वती, रामवृक्ष बेनीपुरी, विशेश्वर प्रसाद सिंहा, कार्यानन्द शर्मा, मौलाना मंजर रिजवी और बनारस के सम्पूर्णानन्द जी आये थे।

1936 ई. में बड़हिया टाल में कार्यानन्द शर्मा ने किसान आंदोलन शुरू किया। पहले यह आंदोलन बेगारी आदि प्रथा के खिलाफ था। पीछे बकास्त आंदोलन को लेकर इसका उग्र रूप हो गया। किसानों की इस शिकायत के कारण जमीन्दारों ने उनसे अपनी जमीन छीनना शुरू किया। किसान इसके लिए तैयार नहीं थे। इसी पर संघर्ष प्रारंभ हुआ। किसानों ने बड़ी संख्या में मुंगेर जाकर कलक्टर को अपनी शिकायत पेश की।

इस आंदोलन के सिलसिले में बाहर से स्वामी सहजानन्द सरस्वती, जयप्रकाश नारायण, अवधेश्वर सिंह, श्यामनन्दन सिंह और महन्त सियाराम दास आदि आते रहे और किसानों को अपना सहयोग एवं समर्थन देते रहे। जमुई के राजनीतिक सम्मेलन में बड़हिया टाल के मामले को सुलझाने के लिए सर्वश्री नन्द कुमार सिंह, श्याम प्रसाद सिंह और महंथ सियाराम दास की एक समिति बनी।[4] इन लोगों

ने बड़हिया टाल के गाँवों में घूम-घूम कर सही स्थिति का अध्ययन कर राजेन्द्र बाबू के सामने उसका विवरण रखा। इसके बाद राजेन्द्र बाबू ने बड़हिया टाल घूम आने का कार्यक्रम बनाया। उन्होने दोनों पक्षों की बातों को सुनकर समझौता का आधार तैयार किया। कुछ दिनों तक शांति रहने के बाद जब किसानों ने पुनः आन्दोलन शुरू किया तो सरकार की ओर से नन्द कुमार सिंह, श्याम प्रसाद सिंह और किसानों की ओर से द्वारिका प्रसाद, भुवनेश्वर दास तथा जमीन्दारों की ओर से बच्चू सिंह एवं अन्य नियुक्त किये गये। इन लोगों ने बही खातों तथा कागजातों को देखकर किसानों को जमीन दिलाने की सिफारिश की।

शेखपुरा में भी किसान आंदोलन 1936 ई. में पंडित कार्यानन्द शर्मा ने हीं प्रारंभ किया। मुसुंम्भाडीह और कुसुम्भाघाट में बकास्त जमीन को लेकर झगड़ा था। कार्यानन्द शर्मा ने शेखपुरा और बरबीघा थाने के कई गांवों का दौरा किया। किसानों को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। किसानों में जो भाव पं. कार्यानन्द शर्मा ने जगाया उससे जुल्म के खिलाफ तथा अपने हक के लिए संगठित तौर पर आवाज उठाने की हिम्मत किसानों में पैदा हुई। किसान गाने लगे - 'अब न सहब हम जुलुमियां हो राजा, तोर जमीन्दरिया'। किसान जाग उठा। सूखी हड्डियों वाला किसान तन कर खड़ा हो गया। उसके दिल की आग फूट निकली- 'राजा आग लगे तोर जमीन्दरिया में'। उसने अपना अरमान प्रकट किया 'जमीन्दारी प्रथा नाश हो' के नारे में।[5]

1941 ई. में तारापुर थाने में बनेली राज की तमादी की नालिश लेकर आंदोलन प्रारंभ हुआ। इस समय खड़गपुर, तारापुर, अमरपुर तथा बेलहर इन चारों थाने के किसानों की एक सभा कायम की गयी और आंदोलन को और तेज किया गया। 1942 ई. के मध्य में तारापुर में बनेली राज किसान सम्मेलन हुआ जिसका उद्घाटन कृपलानी जी ने किया तथा उसकी अध्यक्षता श्री कृष्णबल्लभ सहाय ने की। इसमें अनुग्रह बाबू ने सम्मेलन में पेश होने वाले प्रस्तावों का मसविदा तैयार किया था। श्री बाबू तथा राजेन्द्र बाबू भी इसमें उपस्थित थे।[6] 1946 ई. में गया जिले के बुंधाली महन्थ की जमीन्दारी महुऐत गरबोर जंगली बीघा और कुटिया में आंदोलन छिड़ा। यहाँ रैयतों की नगदी जमीन की माप बना ली गयी थी। किसानों ने इसका कड़ा विरोध किया। इसी वर्ष उखदौरा और सिमराहा के किसानों ने सकरपुरा के रामेश्वर प्रसाद सिंह की जमीन्दारी में बकास्त जमीन को लेकर आंदोलन खड़ा किया। इस आंदोलन के सिलसिले में लगभग दो सौ किसान गिरफ्तार हुए।

इस तरह सभी जगह जमीन्दारी प्रथा समाप्त करने, बकास्त जमीनों पर कब्जा करने एवं डिग्री लागू करने के क्रम में जो जमीन किसानों के हाथ से निकल गयी थी उसे लौटाने की मांग की जा रही थी।

इसी समय मजदूर आंदोलन भी प्रारंभ होने लगा। कांग्रेस कमिटी ने 1939 ई. में कांग्रेस-मजदूर विभाग कायम किया। कांग्रेस मजदूर समिति के लिए निरापद मुखर्जी, सैयद रफीउद्दीन, अहमद रिजवी, किशोर प्रसाद राम, गुलाम शर्मा और राम प्रसाद को सदस्य नियुक्त किया गया। कांग्रेस ने मजदूरों के मध्य काम करने के लिए अपने आदमी नियुक्त किए। सोसलिस्ट तथा कम्युनिस्ट पार्टी के लोगों ने भी इसमें सहयोग दिया। उस समय सबसे अधिक संख्या मजदूरों की जमालपुर कारखाने में थी। पाँच हजार मजदूर इसमें काम करते थे। उन्होंने अपना संघ भी कायम किया था। बाद में

राष्ट्रीय कांग्रेस संघ की स्थापना की गयी। इसके अध्यक्ष नन्द कुमार सिंह थे। इस प्रकार कांग्रेस दल ने मजदूर आंदोलन को नेतृत्व देकर स्वतंत्रता आंदोलन की धारा में मजदूरों को भी जोड़ दिया। अन्नदाता किसान ही भगवान हैं, इस कथन ने गेरूआ वस्त्रधारी स्वामी सहजानन्द सरस्वती को क्रांतिकारी लहर की अगली कतार में लाकर खड़ा कर दिया। उनका नारा कि 'मजदूर राज कायम करना होगा, तभी मेहनत करने वाले शोषण से मुक्त हो सकेंगे', ने मुंगेर जिले के किसान आंदोलन को काफी प्रभावित किया।

संदर्भ-सूची

1. अनुग्रह नारायण सिंह, मेरे संस्मरण, पृ. 20
2. पटना आयुक्त की पाक्षिक रिपोर्ट, 26 मार्च 1939
3. नवशक्ति, 7 नवम्बर 1936
4. वही
5. पटना आयुक्त की पाक्षिक रिपोर्ट, 23 सितंबर 1937

इतिहास

भारत की सैन्धव सभ्यताओं का सरल आधुनिक विवेचन

डॉ० प्रवीण कुमार

एम०ए० (पैट), पी-एच० डी०, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

सारांश

सैंधव सभ्यता विवेचन के लिए नगर योजना, कला, हड़प्पा के मुख्य भवन, मोहनजोदड़ो के मुख्य भवन तथा अन्य कलाकृतियों पर ही प्रकाश डालना काफी है। आर्थिक तथा राजनीतिक विश्लेषण बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि आम धारणा है कि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की विकसित अर्थव्यवस्था का मुख्य साधन व्यापार है। किसी भी काल की अर्थव्यवस्था कृषि, पशुपालन, उद्योग धंधे पर भी निर्भर करती है। वर्तमान समय में भी देशी-विदेशी व्यापार के अलावा अर्थव्यवस्था की नीव कृषि, पशुपालन, उद्योग, टेक्नोलॉजी तथा अन्य बहुत से क्षेत्रों पर खड़ी है।

विशिष्ट शब्द

मुष्टि-कुठार, नेग्रिटो, इंडो–यूरोपियन, पाषाणकालीन, पोखर, मानसरोवर।

भूमिका

दुनिया के किस क्षेत्र में सर्वप्रथम मानव की कौन-कौन सी प्रजातियाँ आयीं या पायी गयीं, प्रागैतिहास पर इसी से रौशनी मिलती है। अनुमान के मुताबिक आज से लगभग 5-6 लाख वर्ष पूर्व मानवों का विचरण प्रारम्भ हो गया था। भारत भी दुनिया का ही एक हिस्सा है। उन विचरण करते मानवों ने अनेक प्रकार के उपकरण भी बनाये जो आज जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हैं। वे ही उपकरण प्रारंभिक-पूर्व पाषाणयुगीन उपकरण कहलाते हैं। ये उपकरण ही संस्कृतियाँ निर्धारित करते हैं, क्योंकि इनसे बेहतर तथा सहज उपलब्धि है ही नहीं। उत्तर भारत की चॉपर-चॉपिंग संस्कृति, जिसका केन्द्र पंजाब में सोहन नदी की घाटी थी और दक्षिण भारत की मुष्टि-कुठार (hand axe) संस्कृति, जिसका केन्द्र मद्रास यानी चेन्नई था, ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर जाया जाता है, सोहन संस्कृति का प्रभाव कम होता जाता है। उसी प्रकार ज्यों-ज्यों उत्तर की ओ जाया जाता है, मद्रास यानी चेन्नई संस्कृति का प्रभाव घटता जाता है। इनके बाद ही परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन, मध्य पाषाणकालीन तथा नव पाषाणकालीन संस्कृतियाँ पनपीं, किंतु उनके साक्ष्य, विकास तथा काल पूर्णत: प्रकाश में नहीं आए।

इसी संदर्भ में उन प्रजातियों पर भी अध्ययन करने की जरूरत है जिन्हें भाषा, बोली, नृत्यशास्त्र, रहन-सहन के तरीकों आदि के माध्यम से जाना-पहचाना जा सके। इतना तो अवश्य है कि भारत

में किसी न किसी प्रजाति ने पहली बार निश्चित ही प्रवेश किया या उनका अस्तित्व बना। अनुमान तथा साक्ष्य की उपलब्धता के मुताबिक भारत में पहली प्रजाति नेग्रिटो थी। यही प्रजाति वर्तमान में अंडमान द्वीपसमूह में रहती है तथा जरवा कहलाती है। इन्हें नजदीक से देखें तो निर्वस्त्र मिलेंगे। हाथ में धनुषबाण अवश्य रखते हैं। इनकी संख्या वर्तमान में 283 या उसी के आसपास हो गयी है। इनके लिए अंडमान में 649 वर्गकिलोमीटर वन आरक्षित कर दिये गए हैं, क्योंकि ये जंगल से बाहर नहीं रह सकते। क्या खाते हैं, कैसे रहते हैं, इनकी परंपरा तथा जीवनशैली कैसी है, इस पर पूरी जानकारी नहीं मिलती। मानव विज्ञानी से लेकर अन्य विज्ञानी तथा पूरा विकित्सा जगत् अनुसंधान में अबतक असफल है। इतना अवश्य है कि वन जीवों में हिरण का शिकार नहीं करते। सुरक्षित जंगल को ही अपना देश मानते हैं जिस पर किसी तरह का अतिक्रमण बरदाश्त नहीं करते। इतना अवश्यक है कि उनके माइन्ड में क्रिएटिव पॉटेन्शियल (creative potential) नहीं होते। होते भी होंगे तो अज्ञात है। भारत में प्रवेश करने वाली दूसरी प्रजातियाँ जाति निषाद है। ये प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड भी कहलाती है। निषाद जाति के पश्चात् भारत में भूमध्य सागरीय जाति का प्रवेश हुआ। इसी जाति को द्रविड़ कहा जाता है। द्रविड़ों ने सैन्धव सभ्यता के विकास और निर्माण में सर्वाधिक योगदान दिया था। यह सही प्रतीत होता है कि इन प्रजातियों के बाद भी लगभग आज से 4000 वर्ष पूर्व इण्डो-यूरोपियन जिसे आर्य जाति कहते हैं, का प्रवेश हुआ। यह भी सही प्रतीत होता है कि इण्डो-यूरोपियन यानी आर्य जातियों के प्रवेश से भारतीय संस्कृति के विकास में नये तथ्यों तथा नई भाषा, संस्कृति आदि प्रचलित हुई हो जो लगभग पूरे भारतवर्ष में फैल गई। इस प्रकार देश का आर्यकरण हुआ। उसके बाद ही तुर्कियों ने आक्रमण किया, जिसमें मंगोलिक तथा किरात शामिल हैं। आर्यों के समान दूसरी कोई भी जाति जैसे ईरानी, शक, पल्लव, कुषाण और हूण आदि महत्त्वपूर्ण साबित नहीं हुई। इन्हें भी आर्यों की संस्कृति में घुल-मिल जाना पड़ा।

सैन्धव सभ्यता की खोज

भारत को आजादी मिलने के साथ ही देश का विभाजन हो गया जिसके कारण सैन्धव सभ्यता के अधिकांश भाग पाकिस्तान में चले गये। ऐसी परिस्थिति में भारतीय इतिहासकारों तथा अनुसंधानकर्ताओं के लिए सैन्धव पर अधिक प्रकाश डालना मुश्किल होने लगा। एक इतिहासकार ए॰ घोष ने बीकानेर में घग्गर की तलहट्टी में 25 स्थलों को खोजकर इस कमी को कुछ हद तक पूरा किया। फिलहाल इसी कड़ी में रोपड़ आलमगीरपुर, कालीबंगा तथा लोथल आदि स्थलों में उत्खनन कार्य हुए जिससे सैन्धव सभ्यता पर रोशनी मिलने लगी। पुरातत्त्ववेत्ता इसी सभ्यता को सैन्धव सभ्यता कहने लगे तथा हड़प्पा के नाम से हड़प्पा सभ्यता का नामकरण किया। प्राचीन काल में सिन्धु नदी के पूर्व ये घग्गर, जिसे सरस्वती भी कहते हैं, बहती थी जो बीकानेर और बहावलपुर रियासतों को सींचती थी। सैन्ध व नगरों के भवन निर्माण में पक्की ईटों का प्रयोग, चौड़ी नालियाँ, बाँधों की व्यवस्था, मोहरों पर वनपशुओं का अंकन तथा इन पशुओं की अस्थियों का उत्खनन भी उपलब्धि ही रही है।

सैन्धव सभ्यता के निर्माणकर्ता

प्रश्न यह है कि इतनी सुदृढ़ सभ्यता के निर्माण में किन जातियों का योगदान है। यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवाद का विषय है, परन्तु अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक काल के आर्यों

ने इस सभ्यता का विकास किया होगा। वजह कि वैदिक आर्यों के पास कृषि प्रधान ग्रामीण व्यवस्था थी तथा नगर की अवधारणा के साथ-साथ व्यापार के महत्त्व को आर्य ही समझते थे। उन्हें जरूरत थी। आर्यों के पूर्व जो जातियाँ, भारत में थीं जैसे–नेग्रिटो और निषाद, पाषाण यानी पत्थर के उपकरण तक ही सीमित थे। वैदिक आर्य ताम्र तथा लोहे से परिचित प्रतीत होते हैं। इसके अलावा इन आर्यों में कवच और घोड़ें को युद्ध में प्रयोग करने का भी ज्ञान प्रतीत होता है। ये मांसाहारी जरूर थे किन्तु मछली में बहुत रुचि नहीं रखते थे। वहीं पर नेग्रिटो तथा निषाद जो भारत की मूल जातियाँ थीं, मछली बहुत खाती थीं। आर्यों में गाय के प्रति बहुत श्रद्धा रहती थी। वे इन्द्र और वरुण आदि देवताओं के उपासक थे। देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए यक्ष तथा मूर्ति पूजा करते थे। वहीं पर सैन्धव मुख्यत: शिव और महाशक्ति के उपासक थे। देवताओं की मूर्ति भी बनाते थे। इस प्रकार कई अर्थों में यह कहा जा सकता है कि आर्य ही सैन्धव सभ्यता के आर्किटेक्ट थे। बावजूद यह पूर्ण रूप से नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि आर्य ही मुख्य आर्किटेक्ट थे। उनके आने के पूर्व भी दास-दस्यु, जिन्हें दास, दस्यु तथा निषाद नाम दिये गए थे, वे भी काफी समृद्ध थे। आर्यों से अधिक सम्पन्न होने का उल्लेख बहुत से इतिहासकारों ने किया है। प्रश्न उठता है कि क्या दास-दस्यु ही द्रविड़ थे? बहुत से इतिहासकारों ने इसकी पुष्टि की है। उनलोगों ने माना है कि आर्यों के आगमन के पूर्व द्रविड़ों की सभ्यता पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत आलेख विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक प्रकृति का है। शोध आलेख के लिए द्वितीयक स्रोतों का इस्तेमाल किया गया है जिसमें मुख्यत: गजेटियर, पत्र-पत्रिकाएँ, प्रकाशित ग्रन्थ, छपे विवरण, निबंध एवं लेख तथा टेलीविजन के कुछ चैनल आदि शामिल हैं। देश के अन्य क्षेत्र तथा विश्वविद्यालय के विद्वानों के साथ दूरभाषीय विचार-विनियम का भी सहारा लिया गया है।

तथ्य विवरण

सैन्धव सभ्यता की प्रमुख विशिष्टता है नगर योजना। इस सभ्यता के अन्तर्गत दो नगर काफी महत्त्वपूर्ण हैं– मोहनजोदड़ो और हड़प्पा। सिंधु नदी के तट पर मोहनजोदड़ो और रावी के तट पर हड़प्पा को माना जाता है। दोनों नगर की आधार-योजना समान थी। दोनों के पूर्वी दिशा में नगर तथा पश्चिमी दिशा में समानान्तर चतुर्भुजाकार गढ़ी स्थित थी। दोनों नगरों का विस्तार तीन मील से अधिक यानी 5-6 किलोमीटर तथा गढ़ियों का आकार, उत्तर से दक्षिण 400 से 500 गज तथा पूर्व से पश्चिम 200 से 300 गज मापा गया है। गढ़ियों की अधिकतक ऊँचाई 40 फीट आकलित है। इससे विशिष्ट नगर-योजना का स्वरूप माइन्ड में बनता है। कालीबंगा में भी ऐसी ही आधार-योजना प्रकाश में आयी है। योजना की आधारभूत संरचना में नगरों की सड़कें हैं। सड़कें प्राय: पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण जाती थीं और एक-दूसरे को समकोण पर काटती थीं। इस प्रकार नगर कई खण्ड में विभक्त हुए दीखते हैं। प्रत्येक खण्ड का औसत क्षेत्रफल 800 × 1200 वर्गफीट मापा गया है। लोथल नगर भी लगभग छह खण्डों में विभाजित था। सैंधव सभ्यता की सड़कें सीधी होती थीं, वहीं पर सुमेरियन की सड़कें टेढ़ी-मेढ़ी हुआ करती थीं। हड़प्पा संस्कृति के नगरीय अवशेष ज्यादातर अप्राप्य हैं, क्योंकि 19वीं शदी में ईंटों की लूट हुई थी। बावजूद, मोहनजोदड़ो और लोथल के अवशेष से हड़प्पा में हुई

ईंट लूट की कमी पूरी हुई प्रतीत होती है। मोहनजोदड़ों में सड़कें कहीं-कहीं 33 फीट चौड़ी पायी गयी है। कुछ सड़कें 10 से 18 फीट चौड़ी मिली हैं। छोटी-छोटी गलियाँ भी 5 से 10 फीट चौड़ी थीं। हालाँकि सड़कें मिट्टी की ही बनी होती थीं, किंतु साफ-सुथरी रहती थीं। जगह-जगह पर कूड़ादान के अवशेष भी मिले हैं। मोहनजोदड़ों में तो एक सड़क के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे चबूतरे बने मिले हैं। सम्भवत: चबूतरों पर बैठकर ही दुकानदार वस्तुओं का क्रय करते होंगे। लोथल में कुछ मकानों के सामने छोटी-छोटी दुकानें बनी मिली है। प्रत्येक सड़क तथा गली के दोनों ओर पक्की नालियों के अवशेष पाये गए हैं। ईंटों की जुड़ाई में मिट्टी, चूने और जिप्सम का प्रयोग हुआ प्रमाणित होता है। नालियों के पाटन हेतु बड़े-बड़े आकार के ईट प्रयोग में आते थे। किसी-किसी नाली को पाटने के लिए मेहराब भी प्रयुक्त हुए हैं। घरों की नालियाँ गली की नालियों से तथा गली की नालियाँ सड़क की नालियों से जुड़ी होती थीं। इस प्रकार नगर में पानी निकालने की समुचित व्यवस्था थी। सफाई की इतनी सुन्दर व्यवस्था 18वीं सदी तक दुनिया के अच्छे-अच्छे शहरों में नहीं थी। वर्तमान समय में नगर-योजना के लिए आर्किटेक्ट इंजीनियरों की सहायता ली जाती है और उन पर काफी खर्च किये जाते हैं। बावजूद दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई तथा कोलकाता जैसे महानगरों में जल-जमाव की भयंकर स्थिति उत्पन्न होती है। मोहनजोदड़ों तथा लोथल की नगरीय आधारभूत संरचना से आधुनिकतम नगर योजना को काफी सीख मिलती है। हड़प्पा सभ्यता के अवशेष प्राय: नष्ट हो गए, किंतु मोहनजोदड़ों तथा लोथक के अवशेष ही उनके भी आधार है। प्राय: आम नागरिक भी कच्ची-पक्की ईंटों से ही मकान बनाते थे। सैंधव सभ्यता के लोग सुमेरियनों तथा मिस्रियों के मकान निर्माण की कला यानी वास्तुकला से आगे थे। मिस्र में पक्की ईंटों का प्रयोग रोमन युग तक नहीं मिलता है जबकि सुमेर के लोग ईंट का प्रयोग स्नानागार तथा शौचगृह के लिए ही करते थे। सैंध व नागरिक मकान निर्माण भी करते थे। सैंधव काल में प्रयुक्त सबसे बड़ी ईंट का साइज 20.25" × 8.50" × 2.25" तक मापा गया है। छोटी ईंटों का साइज 9.25" × 4.33" ×2" मापा गया है। सामान्यत: 11" × 5.5" × 2.75" अथवा 5.5" × 2.25" × 2.75" आकार की ईंटें ज्यादा प्रयुक्त हुई हैं। ईंटों पर किसी प्रकार के डिजाइन नहीं मिलते हैं। मकान की नींव में टूटी-फूटी ईंटें जमा दी जाती थीं, किंतु दीवारों में प्राय: अखंडित ईंटों का ही इस्तेमाल होता था। जमाने के लिए चूना और जिप्सम का ही प्रयोग होता था। दो मंजिले मकानों में निचली मंजिल की दीवारें मोटी रखी जाती थीं। सीढ़ियों का निर्माण पक्की ईंटों सं होता था। कच्ची-पक्की ईंटों के प्रयोग तथा ऊपरी मंजिल पर जाने के लिए पक्की ही ईंटों का प्रयोग यह दर्शाता है कि वास्तुकला के क्षेत्र में आम सैंधव नागरिकों के पास वर्तमान जैसे कॉन्सेप्ट थे।

हड़प्पा के मुख्य भवन के अवशेष अधिकतर अप्राप्त हैं, किंतु जो भी हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि टीले के आकार में यानी गढ़ी जैसी मिट्टी के बांध पर बनी कच्ची ईंटों की 40 फीट मोटी और लगभग 35 फीट ऊँची चहारदीवारी से सुरक्षित थी। स्थान-स्थान पर तोरण द्वार बने हुए थे। श्रमिक वर्ग के मकान भी पंक्ति में होते थे जो 3-4 फीट चौड़ी गली द्वारा विभाजित तथा एक चहारदीवारी से घिरी होती थी। लगभग सात मकानों की पंक्ति होती थी। प्रत्येक मकान में एक आँगन तथा दो कमरे होते थे। किसी-किसी मकान में एक ही कमरा मिला है। श्रमिक के घरों के उत्तर में 11 फीट व्यास वाले 12 गोलाकार चबूतरे भी मिले हैं। चबूतरों का उपयोग अन्न सूखाने, पीसने तथा सामूहिक

रूप से मनोरंजन, गायन-बजायन के लिए किया जाता होगा। अन्नागार का निर्माण शासक वर्ग करता था, इसीलिए ये अन्नागार नदी के तट पर बनाये जाते थे। इन अन्नागारों में कर के रूप में मिलने वाले अन्न को वे एकत्रित करते होंगे तथा आपात स्थिति या किसी विपदा में इनका इस्तेमाल होता होगा। सुमेरियन तथा मिस्री अभिलेखों में भी अन्नागार के उल्लेख हैं, किंतु हड़प्पा संस्कृति के समय विशाल अन्नागार की तरह उनके अन्नागार नहीं थे। इंदिरा आवास की भी यही अवधारणां है। ब्रिटेन की प्रधनमंत्री मार्ग्रेट थैंचर ने इंदिरा गाँधी का अनुसरण किया है। दोनों ने बेघरों के लिए घर की व्यवस्था की। इन आवासों में सामूहिक चबूतरे तथा अन्नागार का प्रावधन किया जाना चाहिए। मोहनजोदड़ों के गढ़ी में अवस्थित भवनों में स्नानकुण्ड सबसे प्रसिद्ध है। इसका साइज 39' × 23' × 8' आँका गया है। उतरने तथा चढ़ने के लिए उत्तर और दक्षिण में सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। दीवारें भी सुदृढ़ हैं। ईंटों की जुड़ाई जिप्सम से की गयी है। ऊपर बिटुमिन का एक ईंच मोटा पलस्तर मिला है। फर्श खड़ी ईंटों से बनाया गया है। कुण्ड के दक्षिण-पश्चिम की ओर तोड़णद्वार, मेहराब वाली छत से पटी नाली द्वारा पानी निकाले जाने की व्यवस्था है। कुण्ड के तीन ओर बरामदे और उनके पीछे लघुकक्ष हैं। इनमें एक में कुआँ बना हुआ है। उत्तर की ओर एक मार्ग के दोनों ओर 9.5' × 6' आकार के आठ लघु स्नानगृह बने हैं। प्रत्येक में ऊपरी मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। अनुमान के मुताबिक सम्पूर्ण भवन-समूह धार्मिक अवसरों पर पुजारियों अथवा राजाओं के औपचारिक स्नान के उपयोग में आता होगा। स्नानकुण्ड के पश्चिम में 150' ×75 वर्गफीट क्षेत्रफल की एक इमारत मिली है। कुछ पुरातत्त्ववेत्ता इसे हम्माम तथा कुछ अन्नागार बताते हैं। हम्माम का अर्थ है– स्नान का स्थान, गरम स्नानागार या वह चीज जो हर आदमी के काम में आवे। कुण्ड के उत्तर-पूर्व में एक 230' × 75' वर्गफीट क्षेत्रफल का भवन मिला है। अनुमान के मुताबिक यह किसी उच्च अधिकारी का निवास स्थान रहा होगा। इसकी दीवारें 6' × 9' तक मोटी हैं। इस भवन में आंगन, बरामदे, सीढ़ियाँ, अनेक कक्ष और स्नानागार बने हुए हैं। गढ़ी के दक्षिण में 60' × 60' क्षेत्रफल का सभा–भवन हुआ करता था। इसकी छत 20 स्तम्भों पर टिकी थी। इसके निकट वैसा ही, किन्तु मोटा एक स्तम्भयुक्त कक्ष हुआ करता था। भवन की ये विशिष्टताएँ ही प्रमाणित करतीं है कि सैंधव सभ्यता काफी उत्कृष्ट तथा विकसित थी।

मृद्भाण्ड बनाने की उत्कृष्ट कला सैंधव सभ्यता में मिलती है। बड़े-बड़े चक्रनिर्मित मृद्भाण्ड बनाये भी जाते थे और रंगे भी जाते थे। कुम्भकारों का दृष्टिकोण भी उपयोगितावादी था। बर्तनों पर अधिकांशत: सरल रेखाचित्र, हिरण, बकरी, खरगोश, मोर, सर्प, मछली आदि के अलावा पीपल, नीम, खजूर, आदि वृक्षों का अंकन मिलता है। हड़प्पा की कुछ कलाकृतियों पर मानवाकृतियाँ भी मिली हैं। मृद्भाण्ड का अर्थ है मिट्टी का बरतन। सैंधव कुम्हार मृण्मूर्तियाँ यानी मिट्टी की मूर्तियाँ भी बनाते थे। मूर्तियों में कुछ धार्मिक महत्त्व की होती थी और शेष स्त्री-पुरुष तथा पशु-पक्षियों की। ये खिलौने बनाने के काम में भी आती थीं। मूर्तियाँ हाथ से भी बनायी जाती थीं और साँचे की सहायता से भी। कुम्हार का अर्थ किसी जाति विशेष से नहीं, बल्कि वे हैं जो मिट्टी के कलाकार थे।

हड़प्पा के अवशेषों में पत्थर की दो मानव मूर्तियाँ भी मिली हैं। इनमें से एक लाल पत्थर की हैं। पुरुष शरीर के सौंदर्य और गढ़न में सफलता की प्रतीक हैं ये मूर्तियाँ। सिर और हाथ को जोड़ने

के लिए बर्मी से छेद बने हुए हैं। दूसरी मूर्ति काले पत्थर की है। अंग-सौष्ठव और नृत्य द्वारा उत्पन्न गति के भाव मूर्ति में उभरते हैं। मोहनजोदड़ों में ध्यानावस्थित पाषाण-मूर्तियाँ मिली हैं। यह किसी पुजारी की मूर्ति अनुमान के आधार पर आकलित हैं। नर्तकी नाम से विख्यात कांस्यमूर्ति सैंधव स्थलों में मिली हैं। धातु को साँचे में ढालकर बनायी गयी यह मूर्ति है। एक हाथ को कमर पर और दूसरे हाथ जो चूड़ियों से भरा है, कंधे पर। इसके अतिरिक्त नर्तकियों की मूर्तियाँ मिली हैं। धातु-मूर्तियों में मिट्टी-मूर्तियों की तरह पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ मिली हैं।

निष्कर्ष

किसी भी सभ्यता के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक विकास का आकलन उनके मकान, भवन, रहन-सहन के तरीके, कर्म, पेशा, उद्योग-धंधे, व्यापार, राजनीतिक संगठन जिसमें सैनिक व्यवस्था भी आती है, के आधार पर किया जा सकता है। अनुमान लगाने पर यह माइन्ड में आता है कि आद्यकालीन (prota historical) सभ्यता में ये सब कुछ नहीं होंगे, परंतु यह अनुमान तब फेल कर जाता है जब मोहनजोदड़ों और हड़प्पा सभ्यता के अवशेष मिलते हैं। नगर, मकान और भवन तो उन्नत थे ही, कलाएँ भी काफी विकसित थीं। यह अलग बात है कि उनकी कला मिट्टी, पत्थर तथा धातु आदि तक ही सीमित थी, किंतु कांस्यमूर्तियाँ मिश्रित धातु का भी प्रमाण पेश करती है। उस सभ्यता में भी आज की तरह कृषि ही मूल आधार थी। गेहूँ, जौ, सूती कपड़े, कपास के अलावा चावल, मटर तिल, नारियल, केला, अनार आदि भी उपजाये जाते थे। सिंचाई की व्यवस्था के स्रोत जरूर अज्ञात हैं। इससे संस्थापित होता है कि सिंचाई के लिए प्राकृतिक स्रोत काफी थे।

कृषि के साथ पशुपालन हमेशा से जुड़ा हुआ है। कृषि और पशुपालन विकसित, विकासशील तथा अविकसित सभी देशों के मुख्य आर्थिक स्रोत रहे हैं। इन दोनों के बाद ही उद्योग-धन्धे आते हैं। वर्तमान सभ्यता के विकास में सूचना प्रौद्योगिकी, अन्तरिक्ष सैर, ग्रह-उपग्रहों की जानकारी, मानव निर्मित उपग्रहों की संस्थापना आदि भी काफी महत्त्वपूर्ण हो गयी है। विदेशी व्यापार तथा पूंजी निवेश सैंधव सभ्यता काल में समय के हिसाब से उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। यह अलग बात है कि समय तथा परिस्थिति के अनुकूल स्वरूप बदले हैं, फिर भी विदेशी व्यापार की आधारशिला सैंधव सभ्यता में देखने को मिलती है। सैंधव काल में विदेशी व्यापार समुद्र मार्ग से होता था, समुद्र में भी नाव के माध्यम से। लोथल में $720' \times 120' \times 14'$ घनफीट आकार का एक डॉक यार्ड भी मिला है। सिंधु सभ्यता का समुद्र पक्ष काफी मजबूत प्रतीत होता है। बेहरीन में प्राप्त उत्खनन से ऐसे उपनिवेश के अवशेष मिले हैं जिनके निवासियों के साथ सैन्धव तथा मेसोपोटामियन के घनिष्ठ संबंध के प्रमाण पुष्ट होते हैं। हो सकता है, आज की तरह विश्वग्राम तथा सौरग्राम जैसी अवधारणा न हो किंतु सैंधव काल के निवासियों में चेतना बहुत पायी जाती है जिससे यह प्रमाणित होता है कि वैश्विक कुटुम्ब की परिकल्पना में विश्वास करते होंगे। उस समय के शासक भी बड़े शक्तिशाली जैसे प्रतीत होते हैं। व्यापार-संहिता, धर्म-संहिता तथा रानीति-संहिता से इसके प्रमाण मिलते हैं। यह भी सम्भावना है कि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा एक राज्य की दो राजधानियाँ रही हों जो एक दूसरे से 400 मील दूर थीं और नदियों से जुड़ी हुई थीं। प्रायः सैंधव लोग शान्तिप्रिय माने जाते हैं। कई मायने में सैंधव सभ्यता आधुनिक सभ्यता को सीख देती है।

सैंधव सभ्यता के कलाकार तथा नागरिकों की तुलना वर्तमान कलाकारों से की जा सकती है। आज भी मिट्टी, पत्थर, धातु, लकड़ी आदि पर हस्तकला के बहुत सुन्दर नमूने मिलते हैं। विचार करने पर ऐसा लगता है कि सभी कलाएँ सैंधव सभ्यता की देन हैं। बुनियाद वही है। कला कोई भी हो, वह उत्कृष्ट शिक्षा हैं, क्योंकि इस शिक्षा में जागरण, ज्ञान, अध्यात्म, कर्म, प्रेम, कला, विज्ञान आदि क्रियामूलक तत्त्वों का सम्मिश्रण है। यह कला जीविकोपार्जन के साथ-साथ मनोरंजन तथा लोक कल्याण को बढ़ावा तो देती ही है, सभ्यता के क्रमिक विकास में भी बहुमूल्य योगदान करती है।

आज मेट्रोपालिटन तथा अन्य विकसित नगरों में अवस्थित सितारा होटलों में स्वीमिंग पुल निर्मित होते हैं। उन होटलों में आम नागरिक नहीं, बल्कि बड़े-बड़े उद्योगपति, राजनीतिज्ञ, नौकरशाह, उच्च स्तरीय आतंकी तथा माफिया ही ठहरते हैं, उनके लिए ही सारी व्यवस्थाएँ हैं। धन तथा पावर वाले लोग भी अपने मकानों में यही व्यवस्था करते हैं। आम आदमी के लिए तो पोखर, झील, झरने आदि ही स्वीमिंग पुल का एहसास कराते हैं। एक ओर निजी आर्थिक व्यवस्था तो दूसरी ओर प्राकृतिक व्यवस्था। प्राकृतिक व्यवस्था ही बेहतर सुकून देती है। प्रकृति ने बहुत कुण्ड बनाये हैं जो जहाँ-तहाँ उनकी गोद में पसरे हुए हैं। मानसरोवर हमारी संस्कृति के उत्कृष्ट स्थल हैं। यह अलग बात है कि उन तक पहुँचने के रास्ते दुर्गम हैं, किंतु लोग तो पहुँचते ही हैं।

संदर्भ-सूची

1. शर्मा रामशरण: प्रारम्भिक भारत का परिचय, ओरयंट ब्लैकस्वान, पृ. 77-78, 80-81।
2. प्रो. चौधरी, राधाकृष्ण: प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारतीय भवन पब्लिकेशन, पृ. 24, 25, 27 एवं 28।
3. मिश्र जयशंकर: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, पृ. 24, 25।
4. गोयल श्रीराम: विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 403, 405, 407, 408, 409 एवं 410।
5. पाण्डेय विनोदचन्द्र : विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ प्रकाशकेन्द्र लखनऊ, पृ. 173, 175 एवं 179।

भारतीय धर्म की बुनियाद खड़ी है सैंधव काल के धर्म पर

डॉ० रश्मि सिन्हा

पीएच०डी०, प्राचीन इतिहास, पटना विश्वविद्यालय, पटना

सारांश

सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म सभी समय-सापेक्ष हैं। सृष्टि द्विविध दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व बनाती है। प्रत्येक क्रिया के विरुद्ध और बराबर प्रतिक्रिया होती है, हर प्लस के विरुद्ध माइनस है। धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता क्रमविकास की तरह रूप बदलती है। क्रमविकास के सिद्धान्त पर थोड़ा भी गौर किया जाए तो समय के हिसाब से परिवर्तन होता हुआ दृष्टिगत होता है। बहुत ही सरल ढंग से स्वीकार किया जाए तो आदमी का शरीर भी 35 वर्ष की उम्र तक बढ़ता है और उसके बाद सिकुड़ना शुरू करता है। यह पता नहीं चलता, फिर भी होता है। समय के अनुसार धर्म भी फैलते-सिकुड़ते हैं। प्रत्येक स्तर पर जटिलताएँ भी आती हैं और सरलता भी। धर्म को सरल तथा लिबरल होना चाहिए, अन्यथा वैश्विक कुप्रवृत्तियाँ पनपती हैं। धर्म बहुत हद तक हमारे मन को काबू में करता है। मन पर काबू होने से शरीर नियंत्रित रहता है। मूल में आत्मा है जो हर तरह की ऊर्जा का स्रोत है। मन तथा आत्मा दोनों अदृश्य हैं, किंतु मन का प्रभाव किसी सीमा का बोध कराता है, जबकि आत्मा असीम का। कई अर्थों में तो धर्म को विज्ञान के समतुल्य भी माना गया है। धर्म से ही महात्मा गाँधी को विश्व नागरिकता मिली, बुद्ध दुनिया में छा गए। स्वामी विवेकानन्द ने धर्म-विज्ञान का ही सहारा लेकर भारतीयों के साथ-साथ पूरे विश्व के युवाओं को ऊर्जावान बनाया। जो लोग धर्म का दुरुपयोग करते हैं, वे कलंकित तो होते ही हैं, कुंठा, ईर्ष्या, लोभ तथा अनेक मानवीय अवगुणों से घिर जाते हैं। सभी विचार मन में आते हैं। यह विचार पैदा होता है कि हम सभी के पूर्वज कभी न कभी एक ही रहे होंगे। मामूली गणित का सहारा लिया जाए तो हमारे पूर्वज के पूर्वज के पूर्वज एक ही होंगे। यह धर्म विज्ञान या कहें कि धर्म-गणित का फार्मूला है। इस अमूर्त थियोरी के मूर्त रूप का विश्लेषण किया जाए तो हम पाएँगे कि सैंधव सभ्यता में उपजे धर्म ही मौलिक बुनियाद है। सैंधव सभ्यता तथा उस काल में मिले संकेत यह मानने के लिए विवश करते हैं कि धर्म की बनियाद उसी काल में पड़ी। उसके पहले का कोई साक्ष्य अवशेष उपलब्ध नहीं हो पा रहा है जिससे कि धर्म की नींव को और पहले ले जाया जा सके। बहुत लोग धर्म में राजनीति और राजनीति में धर्म तलाशते हैं। तलाश में सकारात्मक परिणाम की सम्भावनाएँ भी अधिक हैं, किंतु मैं तत्काल उतना डाइवरसन देना नहीं चाहती।

विशिष्ट शब्द: मृद्भांड, मृण्मूर्तियाँ, धार्मिक अनुष्ठान, वाराह अवतार।

भूमिका

सभी धर्मों में मानव प्रेम (Philanthropy) उत्कृष्ट है। दुनिया का कोई भी आदमी मानव प्रेमी बन सकता है। मानव प्रेम का प्रारंभिक स्रोत सैंधव धर्म से प्रस्फुटित होता है। जो भी मिला या पाया, उसमें संतुष्ट रहने की प्रवृत्ति बहुत सुकून देती है। सैंधव काल के लोगों को प्रकृति ने बहुत दिया और लोगों ने प्रकृति से प्राप्त करने का एहसास भी किया। सभी लोग अपने-अपने हुनर विकसित करने में लगे रहे। कर्मनिष्ठ होकर कर्तव्यन्ठि बनना उत्तम धर्म का मार्ग है। इससे मानवीय मूल्यों के साथ-साथ जनतांत्रिक कर्तव्यों का भी ज्ञान स्वत: होता है। ज्ञान के मार्ग में भटकाव आता है तो बस दाँव-पेंच के कारण। समर्पण भाव से कर्म करने की शिक्षा कृष्ण, बुद्ध तथा गाँधी ने भी दी है। अन्य बहुत से दार्शनिक तथा कलाकार इसे व्यवहार में लाने की सलाह देते हैं। अखिर क्यों! कहीं न कहीं इसके बीज हैं। आसानी से स्वीकारने पर सैंधव काल की मिट्टी में ये बीज उगते हुए दीखते हैं। कर्म का कानून हर जगह प्रासंगिक है। यह कानून ही धर्म है। इसी कानून से आध्यात्मिक नेचर का विकास होता है। व्यावहारिक तौर पर हर कोई मानता है कि बूंद-बूंद से ही तालाब तथा समुद्र तक भरता है। धर्म है। सृष्टि में जितने जीव तथा प्राणी हैं, सभी किसी न किसी कर्म-कानून तथा धर्म-नियम से अवश्य बंधे हैं। सभी जीव धरती पर यात्री बनकर आते हैं और पुन: वहीं चले जाते हैं जहाँ से आते हैं। सैंधव काल की सभ्यता से इस अमूर्त थियोरी को काफी बल मिलता है। धर्म किसी ग्रन्थ में सीमित नहीं है, बल्कि रचनात्मक कर्म में है। यह जीने की कला का सरल ढंग है। इसका आकर्षण तथा सुन्दरता प्रेम और अनुभूति के रूप में प्रकट होती है। प्रेम आकर्षण है और अनुभूति सुन्दरता। सैंधव काल के लोगों में प्रेम और अनुभूति बेहिसाब हैं। सैंधव काल के धर्म को इसी बुनियाद के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

शोध प्रविधि

सैंधव सभ्यता को आदि सभ्यता माना गया है। इस सभ्यता में मातृशक्ति को स्वीकार किया हुआ प्रतीत होता है। बलूचिस्तान के कांस्यकालीन ग्रामों के समान मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्य स्थलों में मृण्मूर्तियाँ यानी मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं जो कमर के नीचे मेखला में बँधा पटका, सिर पर पंखे के आकार का मुकुट और गले में हार धारण किये हैं। आँखें गोल बत्तियों से बनायी गयी हैं। कानों के पास प्याले जैसी चीजें बनी हैं और पैर प्राय: अंगुलीविहीन हैं। ये निश्चय ही मातृशक्ति की मूर्तियाँ लगती हैं। सैंधव मातृदेवी का सिंहों से सम्बन्ध निर्विवाद माना जा सकता है, क्योंकि नारी के गर्भ से वृक्ष निकलते हुए दिखाया गया है और बाईं ओर दो सिंहों का अंकन है। इससे बहुत बड़ी बात यह प्रमाणित होती है कि सैंधव नागरिक पृथ्वी की प्रजनन देवी के रूप में पूजा करते थे। कुछ अन्य मूर्तियों से बलि प्रथा का भी प्रमाण सम्भावित प्रतीत होता है।

सैंधव काल में कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिन पर योगमुद्रा में आसीन किसी देवता का अंकन है। त्रिमुखी पुरुष का अनुमान लगाया जा सकता है। जॉन मार्शल इस मूर्ति को शिव देवता का आदि रूप मानते हैं, क्योंकि दाईं ओर हाथी और बाघ तथा बाईं ओर गैंडा एवं भैंस हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मिट्टी की एक मूर्ति पर योगासीन मुद्रा तथा दोनों ओर खड़े पुरुष भी दिखाये गये हैं जो

हाथ जोड़े हैं तथा मूर्ति के सिर पर सर्प जैसा चित्र है। शिव के आधुनिक रूप का भी प्रमाण मिलता है। मतलब कि सैंधव काल में शिवोपासना प्रचलित थी। सैंधव धर्म में मातृशक्ति और शिव की उपासना मानवीय रूप में ही नहीं, योनि और लिंग रूप में भी की जाती थी।

मुद्रा मिट्टी एवं धातु की मूर्तियाँ, मृद्भांडों आदि के आधार पर पशु पूजा के भी आधार मजबूत दीखते हैं। मुद्राओं पर अंकित अधिकांश पशु के चित्र वास्तविक हैं। कूबड़दार वृषभ, हरिण, भेड़, बाघ, घड़ियाल, भैंसा, नाग आदि मुख्य पशु हैं। सम्भावना है कि लोग देवताओं की कल्पना भी पशु रूप में करते हों। आज भी पशुओं में अधिकांश को देवरूप माना जाता है, जैसे वृषभ, हरिण, बाघ, शेर, नाग, भेड़, गाय आदि। गाय के चित्र प्रायः मूर्तियों में नहीं मिले हैं। उसी प्रकार वृक्षों की पूजा होती थी। आज भी पीपल, बरगद, कदम्ब, नारियल वगैरह बहुत से वृक्षों की पूजा पद्धति में सैंधव धर्मों का अहम योगदान है।

धार्मिक अनुष्ठान भी सैंधव सभ्यता काल में प्रचलित थे। ये सीमित हो सकते हैं, किंतु सीमित अनुष्ठान का भी व्यापक महत्त्व है। उदाहरण के रूप में शव को कब्र में दफनाया जाना, जलाना तथा पशु-पक्षियों द्वारा खा लेने के बाद उनकी अस्थियों को एकत्रित कर गाड़ देना आदि। शव अनुष्ठान की यही विधियाँ आधुनिक सभ्यता में प्रचलित है। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में मकान तथा गलियों के भूमिस्थ पात्रों में राख, चारकोल जैसी अन्य मिली हुई सामग्रियाँ इसे पुष्ट करती हैं। आज के अनुष्ठान में धर्म, समाज, संस्कृति तथा राजनीति तक का बोलबाला हो गया है। इस दृष्टिकोण से भी सैंधवों की अनुष्ठान प्रक्रिया को भारतीय धर्म की बुनियाद कह सकते हैं।

इनके अतिरिक्त काल्पनिक पशु पूजा, अग्नि पूजा, जल की पवित्रता आदि भी प्रचलित थी। सम्भवतः काल्पनिक पशु पूजा में शृंग पशु पूजा, जिसे वाराह अवतार भी कहते हैं, अधिक प्रचलित थीं। कुछ ऐसे भी धार्मिक विचार मिलते हैं जो आज भी मिथक की तरह काम करते हैं, जैसे ताबीज, चक्र, पुनर्जन्म का संकेत, सती प्रथा आदि। कुछ इतिहासकार जादू-टोना तथा झाड़-फूंक की परम्परा भी बताते हैं, किंतु प्रमाण नहीं मिलते।

निष्कर्ष

सैंधव धर्म तथा आधुनिक धर्म में बुनियादी तौर पर समानताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। जितने भी पौराणिक धर्मग्रन्थ हैं, सबमें मिथकशास्त्र तथा अंधविश्वास की झलक मिलती है। बहुत लोग कहेंगे कि इतने उन्नत वैज्ञानिक युग में मिथक की क्या आवश्यकता! मिथक को सिर्फ बच्चों के लिए रुचिकर कार्टून फिल्म बनाने से अधिक नहीं मानते। ऐसे लोग किसी भी धार्मिक अनुष्ठान को अंधविश्वास मान सकते हैं। यह विचार करना चाहिए कि प्रतिरोधों के बावजूद मिथक जीवित क्यों हैं तथा सामाजिक एवं धार्मिक जमीन में गहराई से पैर क्यों जमाते जा रहे हैं? धार्मिक अनुष्ठान व्यवहार में भी काफी पावरफुल हैं। किसी भी व्यक्ति या समाज से सही प्रश्न पूछा जाए तो भाग्य पर भरोसा करते हुए सभी दीखेंगे। आखिर क्यों? इस प्रश्न का बहुत ही सीधा सम्बन्ध धर्म तथा अनुष्ठान से है। इतना अवश्य है कि अल्पकाल के लिए सही, किंतु धर्म से तनाव भी दूर होता है और शांति भी मिलती है।

प्रत्येक प्राचीन सभ्यता में बहुत-सी अपनी-अपनी मान्यताएँ तथा कथाएँ उपलब्ध हैं। यदि उन्हें संकलित किया जाए तो बहुत से नये-नये धर्म के स्वरूप सामने आएँगे। सभी धर्मकथाएँ प्रकृति से जुड़ी हुई हैं। आधुनिक सभ्यता चाहे जिस समाज की हो, सभी किसी न किसी मिथक पर आधारित हैं। इतना तो मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि समाज में जितने वर्ग तथा सम्प्रदाय हैं, सभी किसी न किसी धर्म की देन हैं। हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई या यहूदी कोई भी हो, सबके अपने-अपने धर्म हैं। समस्या तब खड़ी होती है जब लोग कट्टर धर्मावलम्बी बनने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास के फलस्वरूप सामंतवाद से लेकर अनेक वाद पैदा हो रहे हैं। इसी से विश्वशांति के खतरे भी बढ़ते जा रहे हैं।

सैंधव सभ्यता के नागरिकों ने तो प्रकृति से सीखकर ही धर्मों का अनुपालन किया, क्योंकि उनके पास ecology, जलवायु परिवर्तन, महिला सशक्तीकरण, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता की समसामयिक परिभाषाएँ अपने ढंग की थीं। सैंधव काल में धर्म के विकल्प नहीं थे। इसीलिए दुविधा तथा भ्रम होता है। आज धर्म के विकल्प दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। नतीजतन, दुविधा और भ्रम भी उसी अनुपात में बढ़ रहे हैं। सामजिक जटिलताओं के कारण ऐसा होता है। बावजूद धर्म तथा अनुष्ठान का मौलिक स्रोत सैंधव सभ्यता से ही प्रस्फुटित है।

संदर्भ-सूची

1. सिंह आनंद : प्राचीन भारतीय धर्म, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ० 3 से 6
2. डॉ० सहाय शिवस्वरूप, प्राचीन भारतीय धर्म, मोतीलाल बनारसीदास, पृ० 1 से 6
3. गोयल श्रीराम : विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 415 से 418
4. महाजन, बी० डी० : प्राचीन भारत का इतिहास, एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, नई दिल्ली, पृ० 58, 60 एवं 61
5. शर्मा रामशरण : प्रारंभिक भारत का परिचय, ओरियट ब्लैकस्वॉन, पृ० 82, 83 एवं 85

औपनिवेशिक शासन के अधीन भारतीय अर्थव्यवस्था

डॉ० रितेश कुमार

प्राचीन काल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था काफी सुदृढ़ थी। विख्यात आर्थिक इतिहासकार मेडीसन के अनुसार 1AD से 1000 AD तक भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली अर्थव्यवस्था थी। कालांतर में अंग्रेजों की उपेक्षापूर्ण नीति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था चरमरा गई।[1] 18वीं शताब्दी में मुगलों के पराभव के साथ-साथ भारतीय आर्थिक व्यवस्था का भी विघटन हो गया। देश के अधीन बहुत से राज्यों के आपसी महत्वाकांक्षाओं के द्वारा आर्थिक क्रियाकलाप नगण्य हो गई, लूट-खसोट वाले विभिन्न तत्व उभर आए। आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, मार्ग आरक्षित हो गए, चुंगी और कर की अत्यधिक मात्रा के कारण व्यापार और वाणिज्य का पतन प्रारंभ हुआ।[2]

उपनिवेशवाद दो देशों के बीच राजनीतिक एवं सामाजिक संबंधों की ऐसी व्यवस्था है जिसमें एक देश शासक और दूसरा देश शासित होता है। शासक देश का अपने देश पर राजनीतिक प्रभुत्व होता ही है। साथ ही यह उसकी अर्थव्यवस्था के संचालन के विषय में निर्णय लेता है।[3] ऐसी स्थिति में अधीन देश के लोग अपने संसाधनों के इस्तेमाल कृषि और उद्योगों के विकास तथा दूसरे बहुत सारे आर्थिक मामलों में कोई निर्णय नहीं ले पाते हैं। इससे अधीन देश की अर्थव्यवस्था पिछड़ जाती है। उपनिवेशिक व्यवस्था में शासित देश की अर्थव्यवस्था को शासक देश की अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ा देखा गया है। दोनों देश की अर्थव्यवस्था एक-दूसरे के पूरक हो जाती है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव को निर्धारित करने के लिए मुगल शासक के अंत में (ब्रिटिश शासन की शुरूआत के समय) भारतीय अर्थव्यवस्था की स्वरूप क्या थी, यह विचार के योग्य प्रश्न है।

प्रो० रे० चौधरी, ने 18 वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़ने का कारण किसी वैज्ञानिक तथा भौगोलिक क्रांति के अभाव को बतलाया है और यह भी कहा है[4] कि भारतीय समाज अवसर के प्रति सकारात्मक प्रक्रिया नहीं दिखाई। भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे प्रमुख पक्ष ग्रामों में आत्मनिर्भरता तथा आत्मशासी समुदाय रहते थे।[5] भारतीय ग्राम अपने आप में एक लघु संसार के रूप में काम करते थे जिनका बड़ा संसार के साथ न के बराबर संबंध था। ग्राम अर्थव्यवस्था आत्म निर्वाही होती थी। इनकी और प्रमुख विशेषता हस्तशिल्प और कृषि का आपसी समन्वय होता था। ग्राम की भूमि कृषक समाज की होती थी और प्रत्येक कृषक कुटुंब के पास कुछ न कुछ भूमि होती थी। जनसंख्या कम और भूमि अधिक थी। अतएव भूमि का क्रय-विक्रय अधिक नहीं होता था। कार्ल मार्क्स ने इस सामाजिक स्वामित्व को एक प्रकार की 'भारतीयता साम्यवाद' माना है। 1853 में मार्क्स द्वारा भारत के संदर्भ में लिखे गये लेख में की दोहरी भूमिका का विश्लेषण किया। एक विनाशकारी

और एक पुनर्जन्यात्मक इंग्लैंड की पुनर्जन्यात्मक भूमिका इस बात पर थी कि वह भारतीय समाज के कुछ प्राचीन आधार को समाप्त कर रहा था। इस अर्थ में उसने अंग्रेजी शासन की आधुनिक विकास की पुर्व्देपा बताया है। इंग्लैंड की स्वार्थी नीति के कारण भारत ने स्वतंत्र औद्योगिक बुर्जवा समाज तथा अच्छी पूंजीवादी व्यवस्था नहीं पनप सकी।

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व या पश्चात् कृषि यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय था।[6] फ्रेंसिस बकानन की डायरी से यह स्पष्ट है कि उस समय कृषि पर्याप्त रूप से विकसित थी और उद्यमी किसानों की परिश्रम और भारतीय किसानों की सिंचाई के बारे में सूझबूझ का ही नतीजा था कि भारतीय गांवों का जीवन यूरोपीय गांवों की तरह समृद्ध था।[7] अंग्रेजी शासन काल में कृषि की प्रगति के मार्ग अवरूद्ध हो गया, बावजूद इसके 1889 में डॉ. वोइलकर, जो भारत में कृषि विकास के बारे में सुझाव देने आये थे, लिखते हैं कि 'भारतीय कृषि पुराने ढंग की और पिछड़ी है', पूरी तरह गलत है। भारतीय किसान औसत अंग्रेज किसान की तरह अच्छे हैं और कुछ मायने में तो उनसे श्रेष्ठ हैं। मैं जो भी कहना चाहता हूँ, उसपर अंग्रेजों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि भारत के निवासी इंग्लैंड में हमने जब से गेहूँ की खेती शुरू की उससे कई शताब्दी पहले से खेती कर रहे हैं।[8] इस लिए उनकी खेती का ढंग में सुधार की ज्यादा गुंजाईश नहीं है। पानी और खाद जैसी सीमित सुविधाओं के कारण वे बड़ी फसलों को उगा नहीं पाते लेकिन जितने अच्छे ढंग से यहाँ का किसान खेती को खरपतवार वर्ग साफ रखता है, सिंचाई के जो भी तरीके इस्तेमाल करता है, मिट्टी फसल की बुआई और कटाई के बारे में जानकारी रखता है, वह दूसरी जगह देखने को नहीं मिलता। यह सब कुछ अच्छे किसानों के बारे में सच न होकर साधारण किसानों के बारे में सत्य है। यह आश्चर्य जनक है कि इन्हें फसलों की हेरफेर मिश्रित फसलों की प्रणाली और जमीन परती छोड़ने के बारे कितनी अधिक मालूम है। इतनी अधिक सावधानी के साथ खेती की तस्वीर निश्चय ही मैंने और कहीं नहीं देखी है।

18वीं शताब्दी में भारत की अर्थव्यवस्था यद्यपि कृषि प्रधान था तथापि देश में औद्योगिक विकास संतोषजनक रहा था।[9] अंग्रेज के भारत में आने के पूर्व भारत में उद्योग का स्तर यूरोप में औद्योगिक विकास के स्तर से उच्च था। ऐसे समय में जबकि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के जन्म स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य जनजातीय (Tribes) बसी हुई थी। भारत अपने शासकों की समृद्धि और अपने कारीगरों की कलात्मक कारीगरी के लिए मशहूर था और काफी समय बाद जब पश्चिमी के साहसी सौदागर पहली बार भारत पहुंचे, इस देश का औधोगिक विकास किसी भी कीमत पर अपेक्षाकृत विकसित यूरोपीय देश से कम नहीं था। इसकी पुष्टि[10] लेकि के लेखनो से स्पष्ट होता है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि 17वीं शताब्दी के अंत में बड़ी सस्ती और बढ़िया भारतीय केलिको मलमल और छींट का इंग्लैंड में आयता हुआ और वहाँ के लोगों को इतनी पसंद आई की ऊनी और रेशमी कपड़े के उत्पादक गम्भीर रूप से डर गया। अतः 1700 ई. और 1712 ई. में पार्लियामेंट में कुछ खास कपड़ों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के कपड़ों के इस्तेमाल पर पूरी तरह रोक लगा दी।[11] रमेश चन्द्र के अनुसार सभी प्रतिबंध के बावजूद उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चार वर्षों में कलकत्ता से 6 से 15 हजार गाँठ कपड़े का प्रतिवर्ष निर्यात हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में भारत में दो तरह के उद्योग थे। (1) गांव में स्थापित कुटीर उद्योग (12) शहरों में स्थापित विस्तृत बाजारों के लिए उत्पादन करने वाले उद्योग।[12] ग्रामीण उद्योग बहुत छोटे पैमाने पर संगठित थे और महज स्थानीय मांग को पूरा करने में समर्थ थे। ग्रामीण उद्योग की तुलना में शहरों में स्थापित उद्योग का आधार ज्यादा व्यावसायिक था लेकिन उत्पादों का दृष्टिकोण आधुनिक उद्यमी के दृष्टिकोण से पूरी तरह भिन्न था।[13] पानी की जहाज बनाने की कला में भारत यूरोप से पीछे नहीं था। दिग्वी ने इस संबंध में लिखा था कि सौ साल पहले पानी में जहाज तैयार करने का काम भारत में इतनी विकसित अवस्था में थी। ऐसे जहाज बनाये जाते थे जो टेम्स नदी में ब्रिटेन द्वारा बनाये गए जहाजों के साथ-साथ और ब्रिटिश जंगी जहाजों के संरक्षण में चलते थे। भारत के गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने भी 1800 ई. में एक रिपोर्ट में इस संबंध में लिखा था कि कलकत्ता बंदरगाह में भारत के बने 10000 टन क्षमता वाले जहाज इंग्लैंड को माल के यातायात के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। कलकत्ता के बंदरगाह में जहाज की क्षमता और बंगाल में जहाज निर्माण कला में हासिल कुशलता के आधार पर यह निश्चित है कि बंगाल के अंग्रेज व्यापारी जो माल लन्दन के बंदरगाह ले जाना चाहेंगे, उसके लिए जहाज की पूर्ति बराबर बनी रहेगी। अंग्रेज के भारत आने से पहले इसका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत समृद्ध था। लेकिन इस व्यापार में गाँव की भागीदारी बहुत कम थी। अधिकांश स्वदेशी व्यापार शहरों के बीच में ही था। यह सर्वविदित है कि शहरों में उत्पादित औद्योगिक वस्तुओं की मांग गांव में कम थी।[14] यह उल्लेखनीय है कि भारत का विश्व के अनेक देशों के साथ व्यापार दो हजार ईसापूर्व से भी प्राचीन था। इजीप्ट में अभिजात वर्ग भारतीय मलमल से लपेट कर रखा गया है जो इस बात का प्रतीक है कि भारत का व्यापार इजीप्ट के साथ होता था। यूनान में मलमल 'गंगेतिका' नाम से बिकती थी। इसके अलावा भारत से काली मिर्च, नील और अफीम की भी दूसरे देशों में भारी मांग थी। मध्य पूर्व के देशों में रेशमी कपड़ो परं जरी के काम, कीमती पत्थरों और धातुओं के वस्तुओं की भारी मांग थी, क्योंकि वे देश उस समय की परिस्थितियों के दृष्टि से पिछड़े थे। इसलिए भारत उनसे बदले में आयात नहीं कर सकता था। औपनिवेशिक शासन के 190 वर्षों में अंग्रेजों ने भारत का जिस तरह से शोषण किया जिसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था टूट गई और देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया। जवाहर लाल नेहरू और रजनीपाम दत्त के अनुसार पलासी के युद्ध के बाद जब अंग्रेजों ने सत्ता संभाली तो उस देश में पूंजीवादी अर्थप्रणाली के विकास के लक्षण मौजूद थे लेकिन जब इंग्लैंड की व्यापारिक पूंजी देश की अर्थ व्यवस्था पर चोट पहुंचाई तो पूंजीवादी व्यवस्था के विकास की संभावनायें समाप्त हो गईं।

ईस्ट इंडिया कंपनी[15] के शासनकाल में औपनिवेशिक शोषक का स्वरूप काफी स्पष्ट हो गया। व्यापार के नाम पर अंग्रेज प्रत्येक प्रकार से लूटमार करते थे। अंग्रेज गवर्नर के नाम बंगाल के नवाब ने अपने मेमोरेंडम में लिखा था कि वे (कंपनी के एजेंट) किसानों, व्यापारियों आदि को जर्बदस्ती एक चौथाई कीमत देकर उनके माल और उत्पादन हड़प रहे हैं और किसानों आदि को मारपीट कर वे अपनी एक रुपये की चीज पांच रुपये में बेच रहे हैं। इस तरह के प्रत्यक्ष लूटमार का वर्णन विलियम बोल्ट्स ने 1772 में प्रकाशित कंसिडरेशन ओर इंडियन अफेयर में प्रकाशित किया है।

शोषण का दूसरा रूप मालगुजारी या कंपनी द्वारा वसूली की जाने वो मालगुजारी किसानों को लूटने का सीधा तरीका था। इस तरह एकत्रित राजस्व भारत के प्रशासन पर व्यय न करके इंग्लैंड

भेजा जाता था। बंगाल से ईस्ट इण्डिया कंपनी अपने शासन के पहले छः वर्षों में राजस्व आय के रूप में 40 लाख 31 हजार पौंड इंग्लैंड भेजे थे।

ईस्ट इंडिया के शासन काल में भारत के अंग्रेज द्वारा शोषण से देश कितना तबाह हुआ इसका उदाहरण ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य विलियम फुल्लटर्न ने किया था।[16] ''बीते दिनों में बंगाल के गाँव विभिन्न जातियों के लोगों से भरे पड़े थे और पूर्व में वाणिज्य धन सम्पदा तथा उद्योगों के भंडार थे'' लेकिन हमारी कुशासन ने 20 वर्षों में इन गांव के बहुत सारे हिस्से को बंजर बना दिया। खेतों में अब खेती नहीं की जाती। काफी इलाकों में झाड़ियां उगी पड़ी थी। किसान लुट चुके थे। औद्योगिक निर्माताओं का दमन किया जा चुका था। बार-बार अकाल पड़े और जनसंख्या कम हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा उपरोक्त ढंग से एकत्रित की गई पूंजी से औद्योगिकरण करने में सहायता मिली। इंग्लैंड के उद्योगपतियों ने यह महसूस किया कि ईस्ट इंडिया कंपनी के लालची मनोवृत्ति से आगे आने वाले वर्षों में संभव शोषण का आधार नष्ट कर रही थी। उनके प्रभाव के कारण सरकार 1813 ई. में भारत के व्यापार से ईस्ट इंडिया कंपनी से एकधिकार खत्म कर दिया। इसके उपरांत में औद्योगिक पूंजीवादी शोषण शुरू हो गया।[17] औद्योगिक पूंजीवादी शोषण काल में भारत से सम्पत्ति के निकास मुख्य व्यापार था। इंग्लैंड अपने कारखानों में बनी वस्तुओं को भारतीय बाजार में बेचना चाहता था लेकिन यह भारतीय वस्तु के तुलना में घटिया होने के कारण संभव नहीं था। फलतः भारतीय उद्योगों को जानबूझ कर नष्ट किया गया। इस काल में मुक्त व्यापार की एकतरफा नीति अपनाई गई जिसके अंतर्गत भारतीय सूती वस्त्रों के आयात पर भारी कर लगाया गया जबकि भारत द्वारा इंग्लैंड से आयात पर किसी तरह का शुल्क नहीं लगाया गया। भारत में इंग्लैंड के पूंजीपति औद्योगिकरण के विरोधी थे। इसलिए उन्होंने वही उद्योग को स्थापित की जो भौगोलिक दृष्टि से अनिवार्य था। इसी दृष्टि से बंगाल में जूट-उद्योग स्थापित की गई। जूट उद्योग से अंग्रेज उद्योगपति काफी लाभ कमाए। बागान उद्योग में चाय, कहवा नील उद्योग का विकास हुआ। बागानों में कार्य करने वाले मजदूरों की हालत गुलामों जैसी थी उन्हें काम छोड़कर वापस जाने की स्वत्रता नहीं थी।[18] ब्रिटिश उपनिवेशवासियों ने राजस्व और लोक व्यय नीति के द्वारा बड़े पैमाने पर भारत का शोषण किया। 19वीं सदी में सेना पर भारी खर्च था जिसका भार भारतीयों पर था। 19वीं सदी में भारत में ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी का शोषण बड़े पैमाने पर चल रहा था। इससे देश में ब्रिटिश महाजनी पूंजी का प्रवेश हुआ, दरअसल यह औद्योगिक पूंजी द्वारा शोषण में मदद पहुंचाने के लिए जरूरी था।

संदर्भ-सूची

1. Angus Maddison Contours of the World.
2. बी.एल. ग्रोवर और यशपाल-1996, पृ. 630 आधुनिक भारत का इतिहास
3. मिश्रा और पूरी-2005 भारतीय अर्थव्यवस्था पृ. 44
4. धर्म कुमार कैम्बिज इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड-II पृ. 33
5. अंग्रेजी राज्य का ईस्ट इण्डिया कंपनी के अधीन (1751-1857) भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव
6. कार्ल मार्क्स-1853 में कार्ल मार्क्स भार पर इंग्लैंड की दोहरी भूमिका पर विचार

7. फ्रेंसिस बकानन-डायरी
8. Voeleker Report on the Improvement of Indian Agriculture (1889) Quoted in V.V. Bhatt spects of economic change and Policy in India (1800-1900), पृ. 13
9. Indian Industrial Commission (1916-18) पृ. 6
10. Lecky History of England in the Epghteenth Century Quoted in V.V. Bhatt op. Cit. पृ. 14
11. रमेश चन्द्र लेख
12. मिश्रा और पूरी-2005 भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ. 46
13. Willam Digby, " Prosperous" British India A Revelatton From official Recods (Kondan-190)
14. मिश्रा एवं पूरी-2005 भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ. 46-47
15. Quoted in R.Palme Dutt, India Today (Calcutta, 1779), पृ. 101
16. Willam Fullarton Quoted in R.Palme Dutt, op पृ. 108
17. Advanced History of India, पृ. 881
18. Tripatni, Amtesh, trade and Finance in Bengal Presidency 1793-1833, पृ. 24

संयुक्त राष्ट्र संघ तथा निरस्त्रीकरण

अमलेष कुमार

एम०ए०, यू०जी०सी० (नेट), राजनीति विज्ञान विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

निरस्त्रीकरण वर्तमान युग की बहुत ही विकट समस्या है। परमाणु एवं आणविक शस्त्रों के विध्वंसकारी प्रभाव ने इसके महत्व को और भी बढ़ा दिया है। निरस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न दीर्घकाल से किये जा रहे हैं, परंतु दुर्भाग्यवश इसमें कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है।[1] प्रो० ब्लूमफील्ड ने लिखा है कि यदि पृथ्वी के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रह में और कोई व्यक्ति है और यह पृथ्वी पर आये तो उसे सबसे असाधारण बात यह दिखेगी कि मनुष्य जाति ने अपने विनाश के लिए जितने विध्वंसकारी आणविक हथियारों का निर्माण किया है, उसके अनुपात में वह इस शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करने में असफल रहा है।[2] डा० एडवर्ड हैम्ब्रो के अनुसार, शस्त्रों के लिए दौड़ सामूहिक पागलपन तक पहुँच चुकी है और आश्चर्यजनक बात है कि अब भी विश्व का जनमत इसे स्वीकार किये हुए है।[3] विज्ञान तथा तकनीकी प्रगति के परिणामस्वरूप मनुष्य ने इतने विध्वंसकारी शस्त्रों का निर्माण कर लिया है कि यदि तीसरा विश्वयुद्ध होता है तो उसका क्या प्रभाव होगा।

प्रो० गुडस्पीड के अनुसार, ''निरस्त्रीकरण के लिए कई शताब्दियों से प्रयास किये गये हैं, परंतु इसको कार्यान्वित करने की योजनाएँ असफल रही है क्योंकि वह राज्य, जिनका भाग लेना आवश्यक है, इसके लिए आवश्यक मूल्य चुकाने के लिए तैयार नहीं थे।''[4] निरस्त्रीकरण के संबंध में दीर्घकाल से प्रयत्न किये जा रहे हैं। यों तो इसको बहुत प्राचीन समय से दिखाया जा सकता है, परंतु आधुनिक युग में इस विषय में महत्वपूर्ण चेष्टा ब्रिटेन के लार्ड कासिलरीग ने 1816 में रूस के जार को भेजे एक प्रस्ताव में की थी। निरस्त्रीकरण के लिए यह एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक चेष्टा थी। इसी प्रकार के प्रस्ताव 1831 में फ्रांसीसी शासन ने कई बार किये, परंतु कोई सफलता न मिली। इसके पश्चात् ब्रिटेन तथा फ्रांस ने 1890 में भी कई सफल प्रयत्न किये। निरस्त्रीकरण के संबंध में 1899 का अन्तर्राष्ट्रीय हेग शांति सम्मेलन एक महत्वपूर्ण घटना है। यह सम्मेलन राष्ट्रीय समझौतों द्वारा शस्त्रों को सीमित करने के लिए बुलाया गया था। इसके पश्चात् प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत वर्सलीज की संधि 1919 द्वारा जर्मनी के निरस्त्रीकरण पर कड़े प्रतिबंध लगा दिये गये। इस प्रकार निरस्त्रीकरण के लिए अनेक प्रयास किये गये, परंतु सफलता बहुत न्यून तथा सीमित रूप में ही प्राप्त हो सकी।[5]

राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में निरस्त्रीकरण को न्यून करने का प्रावधान रखा गया। फिलिप नोएल बेकर ने उचित ही लिखा है कि राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय समाज को स्थायी तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक

संस्थायें देने के संबंध में राष्ट्र संघ का इतिहास में प्रथम प्रयास है। यह प्रयास विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप किया गया।[6] प्रथम विश्वयुद्ध के विध्वंसकारी प्रभावों ने राष्ट्रों को निरस्त्रीकरण की दिशा में सोचने तथा ठोस कदम उठाने के लिए विवश किया। अतः राष्ट्रसंघ की संविदा में यह प्रावधान रखा गया कि स्थायी सलाहकारी कमीशन की सहायता से, राष्ट्रसंघ परिषद् अस्त्रों को न्यून करने की योजना तैयार करेगी। प्रसंविदा में यह स्वीकार किया गया कि शांति बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय शस्त्रीकरण को राष्ट्रीय सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए न्यूनतम स्तर पर रखा जाय।[7] राष्ट्रसंघ का उद्देश्य विश्व में शांति स्थापित करना था तथा राष्ट्रीय शस्त्रों को राष्ट्रीय सुरक्षा को निम्नतम स्तर तक ले आना था, परंतु राष्ट्रसंघ के इस दिशा में प्रयत्न असफल रहे। न तो राष्ट्रसंघ द्वितीय विश्वयुद्ध को रोक सका और न ही निरस्त्रीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर सका।

राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत 1932 का जेनेवा निरस्त्रीकरण सम्मेलन एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस सम्मेलन में 61 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया तथा कुछ प्रकार के अस्त्रों, बमों आदि पर निषेध लगाने के लिए सहमति प्रकट की। परंतु यह सम्मेलन इस कारण नहीं हो पाया क्योंकि फ्रांस से सुरक्षा की मांग तथा जर्मनी की समानता की स्थिति को प्राप्त करने की मांग का समन्वय नहीं हो पाया। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी आशा थी, वह फ्रांस के बढ़ते हुए संदेहों ने समाप्त कर दी। परंतु इस सम्मेलन में कुछ लाभ हुए इसका सर्वप्रथम लाभ यह हुआ कि निरस्त्रीकरण की कुछ तकनीकी समस्याएँ अध्ययन तथा बहस द्वारा स्पष्ट हो गई। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट हो गया कि निरस्त्रीकरण या शास्त्रों को कम करना तभी संभव है जब इसके पहले सुरक्षा की गारंटी दी जा सके। इस सम्मेलन ने राष्ट्रों को यह सबक सिखाया कि निरस्त्रीकरण के पहले सुरक्षा का प्रबंध होना चाहिए। वास्तव में राष्ट्रसंघ तथा इसके द्वारा प्रयासों की सफलता का मुख्य कारण यह था कि सदस्यों ने अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण रूप से नहीं निभाया।[8]

राष्ट्रसंघ की संविदा में जहाँ एक ओर शस्त्रों को कम करने का प्रावधान था, संयुक्त राष्ट्र चार्टर में शस्त्रों के नियंत्रण पर अधिक जोर दिया गया। संयुक्त राष्ट्र की प्रस्तावना में ही कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों ने संयुक्त राष्ट्र की स्थापना भावी पीढ़ियों को युद्ध के प्रकोप से बचाने के लिए की है। अतः यह स्वाभाविक था कि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में निरस्त्रीकरण के विषय में निम्नलिखित प्रावधान है-

1. संयुक्त राष्ट्र की प्रस्तावना में यह कहा गया कि सशस्त्र शक्ति केवल सामान्य हित में प्रयोग की जायेगी तथा अनु० 11 में महासभा को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह निरस्त्रीकरण तथा शस्त्रों के नियंत्रण के लिए साधनों पर विचार कर सकती है तथा अपने सुझाव सदस्यों को तथा सुरक्षा परिषद् को दे सकती है।
2. चार्टर के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् का उत्तरदायित्व है कि वह सैनिक स्टाफ समिति की सहायता से शस्त्रीकरण को नियंत्रित करने की प्रणाली की स्थापना के हेतु योजना बनाये तथा उसे संयुक्त राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत करें।[9]
3. शस्त्रों के नियंत्रण के लिए योजना तथा प्रणाली स्थापित करने की जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद् में रखी गई है तथा प्रावधान रखा गया है कि सुरक्षा परिषद् यह जिम्मेदारी सैनिक स्टाफ

कमेटी की सहायता से निभाएगी।[10] परंतु महाशक्तियों के असहयोग तथा संघर्ष के कारण सुरक्षा परिषद् इस जिम्मेदारी को निभा
नहीं पायी।

4. चार्टर में यह प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा सैनिक कार्यवाही हेतु सदस्य राज्य अपनी सेनाएँ उपलब्ध करायेंगे।[11]

परंतु अनु० 42 में वर्णित विशेष समझौते महाशक्तियों के पारस्परिक असहयोग के कारण नहीं हो सके। अत: सैनिक स्टाफ समिति से संबंधित प्रावधान निरर्थक सिद्ध हुआ। इस प्रकार सुरक्षा परिषद् अपनी जिम्मेदारी को निभाने में असमर्थ रही परंतु संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इस संबंध में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

महासभा ने अपने 24 जनवरी 1949 के प्रस्ताव द्वारा संयुक्त राष्ट्र एटामिक इनर्जी कमीशन की स्थापना की। निरस्त्रीकरण की दिशा में महासभा का यह महत्वपूर्ण कार्य है।

जून 1946 में संयुक्त राष्ट्र परमाणु शक्ति कमीशन के सम्मुख एक योजना रखी गई जिसे 'बरूच-योजना' कहते हैं। इस योजना के अन्तर्गत यह विचार प्रस्तुत किया गया कि एक संधि के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु विकास सत्ता की स्थापना की जाय जो परमाणु शक्ति के संबंध में अपना प्रशासन रखे तथा उत्पादन आदि सुविधाओं आदि के लिए लाइसेंस दें। संक्षेप में, अमेरिका चाहता था कि इस प्रकार की एक सत्ता बने जो विश्व के राज्यों पर अपना नियंत्रण रखे। परंतु रूस ने इसका विरोध किया क्योंकि इस प्रकार की कोई सत्ता स्थापित हो जाय तो अप्रत्यक्ष रूप से इसका प्रभाव संयुक्त राष्ट्र चार्टर अनु० 27 का अप्रत्यक्ष संशोधन होगा। रूस मौलिक चार्टर तथा इसके सर्वसम्मत सिद्धांत के अनुसार शस्त्रों में सामान्य कमी तथा उनके उत्पादन पर निषेध के पक्ष में था।[12] अत: दोनों राष्ट्रों में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत सुरक्षा-परिषद् में कहा गया कि वह शस्त्रों को कम करने तथा उन पर नियंत्रण करने के लिए संयुक्त राष्ट्र परमाणु शक्ति कमीशन के कार्यों को शीघ्रता से करें।

1949 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का आणुविक शस्त्रों पर एकाधिकार समाप्त हो गया, क्योंकि रूस ने भी इस विषय में काफी प्रगति कर ली। अत: बरूच-योजना अव्यावहारिक हो गई। इसके पश्चात् अगला महत्वपूर्ण कार्य निरस्त्रीकरण कमीशन की स्थापना द्वारा संपादित हुआ। 1952 में महासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा निरस्त्रीकरण कमीशन की स्थापना की। इस कमीशन ने वास्तव में संयुक्त राष्ट्र आणुविक शक्ति के कमीशन तथा संयुक्त राष्ट्र के परंपरागत शस्त्रों के कमीशन को संगठित किया।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि निरस्त्रीकरण की दिशा में संयुक्त राष्ट्र तथा विशेषकर महासभा द्वारा अनेक प्रयत्न किये गये परंतु संयुक्त राष्ट्र निरस्त्रीकरण की दिशा में पूर्णत: असफल रहा है। संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् ने इस दिशा में कोई प्रभावशाली कार्य नहीं किया। महासभा ने इस विषय में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये है, परंतु उनसे भी कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र में यह क्षमता नहीं है कि वह आणविक शस्त्रों के रखने वाले राष्ट्रों को निरस्त्रीकरण के लिए बाध्य कर सके। इसके पास कोई ऐसे उपाय नहीं हैं जिनके द्वारा उन राष्ट्रों को बहुमत वाले राष्ट्रों की इच्छा के अनुसार झुका सके। प्रो० ब्लूमफील्ड के शब्दों में -''The United Nations

cannot disarmament the nuclear weapon nations. It has neither carrots nor sticks with which to band them to the will of even overwhelming minority of nations.''[13] वास्तव में 1957 के बाद से निरस्त्रीकरण के विषय में अधिकतर वार्तायें गैर-संयुक्त राष्ट्र संस्थाओं में हुई है। आश्चर्यजनक अवश्य है क्योंकि 1955 से संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों की संख्या बढ़नी प्रारंभ हुई और तब से उनके सदस्य राष्ट्रों की संख्या में निरंतर बढ़ोत्तरी हो रही है। परंतु निरस्त्रीकरण के संदर्भ में अधिकतर संधियां एवं वार्ताएं संयुक्त राष्ट्र के बाहर हुई है। परंतु यह निस्संदेह कहना पड़ेगा कि महासभा इस विषय में क्रियाशील रही है और उसने अपना योगदान इस संबंध में दिया है। यह बात दूसरी है कि उसके प्रयत्नों को कहां तक सफलता मिली है। वास्तव में निरस्त्रीकरण तभी संभव हो सकता है जब कि विश्व की महाशक्तियाँ आपस में सहयोग करें। प्रो० गुडस्पीड[14] के अनुसार प्राथमिक रूप से प्रभावशाली तथा उचित निरस्त्रीकरण महाशक्तियों के आपस में विश्वास तथा पारस्परिक समझौते के वातावरण के विकास पर निर्भर करता है। डेनियल एस० सीवर ने उचित ही लिखा है कि निरस्त्रीकरण के प्रति उन्नति मुख्य रूप से साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था की उन्नति मुख्य रूप से साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था की उन्नति पर निर्भर करती है। कोई भी अंतर्राष्ट्रीय निरस्त्रीकरण संस्था अपने आप अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति में परिवर्तन लाकर शान्ति स्थापित नहीं कर सकती है।[15] वर्तमान में यह समस्या और भी जटिल होती जा रही है।

संदर्भ-सूची

1. एस.के. कपूर, 'डिस्आर्मामेंट : रिट्रास्पेक्ट एण्ड प्रासपेक्ट', लाईअर वाल्यूम 5, पृ. 65
2. लिन्क पी. ब्लूमफील्ड, ''आर्म्स कन्ट्रोल एण्ड इन्टरनेशनल आर्डर'', इन्टरनेशनल आर्गेनाइजेशन, वाल्यूम 13, पृ. 637
3. इडवर्ड हैम्ब्रो, ''प्राब्लम फेसिंग द यू.एन.'', ए.जे.आई.एल., वाल्यूम 65, पृ. 384-85
4. द नेचर एण्ड फन्क्शन ऑफ इन्टरनेशनल आर्गेनाइजेशन, द्वितीय संस्करण, पृ. 285
5. सी.पी. स्क्लीकर, इन्ट्रोडक्शन ऑफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ. 744
6. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज, वाल्यूम 9, पृ. 287
7. राष्ट्र संघ की प्रसंविदा का अनु. 8
8. गुडस्पीड, नोट 4, पृ. 71
9. संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनु. 26
10. अनु. - 47
11. अनु. - 45
12. डेनियल एस. शीवर, ''द यूनाइटेड नेशन्स एण्ड डिस्आर्मामेंट'' इन्टरनेशनल आर्गेनाइजेशन, वाल्यूम 19, पृ. 468-69
13. ब्लूमफील्ड नोट 2, पृ. 638
14. गुडस्पीड, नोट 4, पृ. 321
15. ''द यू. एन. एण्ड डिसआर्मामेंट'', इन्टरनेशनल आर्गेनाइजेशन, पृ. 463

जातीय चेतना के संदर्भ में डॉ० राम मनोहर लोहिया के विचार

राजेश कुमार

शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

भारत में 1930 के दशक में समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों के बीच डॉ० राम मनोहर लोहिया विलक्षण स्थान रखते हैं। संपूर्ण स्वातंत्र्योत्तर काल में लोहिया भारतीय राजनीति के एक कारक बने रहे और 1960 के दशक के मध्य से उनके विचारों के प्रभाव में बढ़ोतरी हुई जो उनकी मृत्यु के कई दशक बाद भी महत्वपूर्ण रूप से कायम है। उनके विचार सिर्फ राजनीतिक स्तर तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि उनका विस्तार नर-नारी संबंध, भाषा की समस्या, जाति-प्रथा का निराकरण इत्यादि के हद तक हुआ था। उनके अधिकांश अनुयायियो का आज भी मानना है कि भारत में जहाँ तक पीड़ित मानवता को अभिव्यक्ति प्रदान करने का मामला है उसमें सिर्फ महात्मा गाँधी ही लोहिया से श्रेष्ठ थे और यदि गाँधी जी अधिक दिनों तक जीवित रहते तो निश्चय ही वे नेहरू की जगह पर लोहिया को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी घोषित करते।[1]

डॉ० लोहिया ने जातिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार की थी और उसी आधार पर अपनी जाति संबंधी सिद्धांत का निर्माण किया था। वे इस संदर्भ में कहते हैं कि दुनिया के इतिहास में छोटे-छोटे गिरोहों में युद्ध हुआ और विजेता गिरोह ने पराजित गिरोह को तबाह कर डाला। किंतु भारत की यह विशेषता रही है कि उसने उन गिरोहों को नष्ट करके, उनके अधिकारों को सीमित किया और अपने जीवन का एक अंग उन्हें भी बना लिया। इस प्रकार पाँच हजार वर्षों में भारतीय समाज अनेक गिरोहों में बाँटा और इन गिरोहों का जो दलदल आज कायम है, उसमें कोई भी, सुधारक, गिरोह भी, स्वयं एक गिरोह के रूप में समा लिया जाता है।[2]

लोहिया ने कहा कि ''अबतक का समस्त मानव इतिहास वर्ग और वर्ण के आंतरिक बदलाव और शक्ति तथा समृद्धि के एक क्षेत्र से दूसरे में बाह्य परिवर्तन का इतिहास रहा है। वह बाह्य परिवर्तन और आंतरिक बदलाव एक दूसरे से जुड़े है। हर वर्ग अपनी स्थिति सुधाार कर ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहता है जिसमें मनुष्य, मनुष्य के बीच समानता हो। समस्त समाज की स्थिति में गिरावट आने पर, वर्गो का संघर्ष ऐसा रूप धारण कर लेता है कि कोई भी न्यायपूर्ण व्यवस्था तत्कालीन टूट-फूट से अधिक समतामूलक दिखाई पड़ने लगती है। वर्णों की चाहे कोई न्यायपूर्ण व्यवस्था बन पायें या नहीं किसी न किसी स्थिति में सड़ान आती ही है, और समाज का एक दो प्रयत्नों के बाद पतन

आवश्यक हो जाता है। शक्ति और समृद्धि के बाह्य उत्थान से आंतरिक समानता घटती है, जबकि बाह्य शक्ति घटने पर आंतरिक असमानता बढ़ती है। एक वर्ण व्यवस्था काम करना शुरू करती है।''[3]

लोहिया के अनुसार, जब समाज प्रभुत्व की ओर अग्रसर होता है, तब जाति वर्ग में लुप्त हो जाती है। चूँकि उत्पादन और संपत्ति में चौतरफा बढ़ोतरी होती है, इसलिए समानता के लिए हो-हल्ला होता है। हर कोई राष्ट्रीय संपत्ति में से अपना हिस्सा बढ़ा कर लेना चाहता है। जो लोग दूसरों से कम पाते हैं वे समानता के लिए भारी हंगामा करते हैं। जब समाज 'अधिकतम दक्षता' हासिल कर लेता है तब उसे नीचे उतरना पड़ता है, क्योंकि प्रगति की सीमा अधिकतम दक्षता का स्तर है। वस्तुतः यह अवधारणा क्या है? किस प्रकार वह मापा जाता है? उसके निर्धारक क्या है? क्या वह सभी कालों के सभी समाजों के लिए सही है? लोहिया की ओर से कोई उत्तर उपलब्ध नहीं है।

अधिकतम कौशल प्राप्त करने के कुछ समय बाद हर सभ्यता अन्य समाजों के साथ अपने संबंध में गिरने लगती है। जब कौशल में ह्रास का गतिरोध होने से समाज के भीतर विभिन्न वर्गो की प्रतिष्ठा और उनकी आमदनी में उन्नति संभव नहीं होती, तब समानता की माँग उच्च वर्गों से छीन कर नीचले वर्ग को देने से ही पूरी सकती है।[4] तब वर्ग संघर्ष विध्वसंकारी रूप धारण कर लेता है। इस अवसर पर अव्यवस्थित तारतम्य को फिर से जोड़ने की सतत् चेष्टा की जाती है और उस समय का सबसे बड़ा आदर्श न्याय बन जाता है। न्याय की माँग पर बल दिये बिना व्यवस्थित जीवन कठिन हो जाता है और असुरक्षा फैल जाती है। यदि किसी समाज में व्याप्त न्याय की भावना एक बुद्धिमत्तापूर्ण वर्ण-व्यवस्था बना पाती है जिसमें पूर्व प्रचलित समानता के विचार आमदनी और प्रतिष्ठा की ऊँचाई पर जम जाते है तो वह सभ्यता और कुछ काल तक चल जाती है।[5] लेकिन ऐसे स्थायित्व के प्रारंभ में ही निष्क्रियता का बीज वर्तमान रहता है। उस समय तक के लिए प्रौढ़ सभ्यता का सड़ना या पिछड़ना अनिवार्य हो जाता है, जब तक कि वह कौशल की एक नई दिशा न खोज ले और उसकी रचनात्मक शक्तियाँ फिर न जाग उठें।[6]

एक सच्चे सनातनी हिंदू की तरह लोहिया का विश्वास था कि समाज या सभ्यता चक्रवत् आगे बढ़ती है। वही चक्र दुहराया जाता है। चक्र के ढ़ाँचे के भीतर जाति और वर्ग के बीच दोलन होता रहता है। प्रस्तुत शोध आलेख में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि लोहियावादी समझ यह है कि वर्ग, समानता की चाह की अभिव्यक्ति है। वर्ण, न्याय की चाह अभिव्यक्ति है।[7] दूसरी बात जो लोहिया ने कही वह यह है कि यह कहना सही नहीं है कि सामंतवाद से समाजवाद का उत्थान प्रगतिशील और सर्जनात्मक है। दूसरे शब्दों में उन्होंने मार्क्सवाद के इस दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया। समाज या मानव सभ्यता अपनी यात्रा में निचले स्तर के सामंतवाद के उच्चतम स्तर के पूँजीवाद में और तब समाजवाद की ओर बढ़ी है। उन्होंने मार्क्सवादियों द्वारा अपनाई गई प्रगति और सर्जनात्मकता की अवधारणा को ही अस्वीकार कर दिया।

भारत के बारे में विचार करते हुए लोहिया ने जोर देकर कहा कि उसकी तमाम गरीबी, दैन्यता और पाखंड जाति और औरत के जूड़वा कठघरे से पैदा हुआ है। जब तक जाति और औरत के कठघरे को समाप्त नहीं किया जाता, तब तक इन बुराईयों को दूर करना और देश को आगे बढ़ाना संभव नहीं है। वे उन लोगो से सहमत नहीं थे जिनका विश्वास है कि आधुनिक औद्योगिकृत अर्थतंत्र के

निर्माण से ये कठघरे समाप्त हो जाएँगे। ''जब तक, साथ ही साथ इन दो कठघरों को खत्म करने का सचेत और निरंतर प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक गरीबी मिटाने का प्रयत्न छल-कपट है।''[8]

लोहिया का विश्वास था कि भारतीयों में दुस्साहस की भावना पैदा करने और सृजन के लिए उनकी सुप्त क्षमताओं को उन्मुक्त करने के लिए जाति व्यवस्था को विरूद्ध जंग एक आवश्यक पूर्व शर्त है। उन्होंने व्यापक रूप में फैले हुए इस विचार को उलट देने का प्रयास किया कि यातायात की सुविधाओं के विकास और लोगों की गतिशीलता के साथ औद्योगिकरण से जाति व्यवस्था अधिकांश रूप में निष्प्रभावी हो जाएगी। वे चाहते थे कि जाति-व्यवस्था पर हमले को पहली प्राथमिकता दी जानी चाहिए और इस दिशा में उनका विचार था - ''एक बहुत ही मामूली कसौटी पर उसे परखा जा सकता है। जिस दिन प्रशासन और फौज में भर्ती के लिए और बातों के साथ, शूद्र और द्विज के बीच विवाह की योग्यता और सहभोज के लिए इनकार करने पर अयोग्यता मानी जाएगी, उस दिन जाति पर सही मायने पर हमला होगा। वह दिन अभी आना है।''[9]

जाति व्यवस्था ने शारीरिक श्रम को असम्माननीय बना दिया और उच्च जाति के लोग उसकी उपेक्षा करते है। इसके साथ ही उच्चतर जातियों और निम्नतर जातियों के बीच आमदनियों की व्यापक असमानता देश में सामाजिक ठहराव के लिए जिम्मेदार है। इस स्थिति को तोड़ना आसान काम नहीं है, क्योंकि पाँच-दस हजार वर्ष की आदतों और संस्कारों में विद्या, बुद्धि और कम से कम मौके वाली हिम्मत द्विजों में इकट्ठा हो चली है और जब तक एक तरह का अन्याय न किया जाए, शूद्रों और हरिजनों में नई सुसंस्कृत जान का लाना असंभव है।[10]

उन्होंने दु:ख प्रकट करते हुए कहा कि देश की लगभग सभी राजनीतिक पार्टियों के नेतृत्व पर द्विजों का कब्जा है। यहाँ तक कि उनकी अपनी पार्टी सोशलिस्ट पार्टी में भी स्थिति भिन्न नहीं है। स्थिति ऐसी है कि द्विज संस्कार वाले युवा सोशलिस्ट पार्टी को कोई नया अभिमुखीकरण प्रदान करा सकने में कोई सहयोग नहीं कर रहे है। इस प्रकार ''आठ-नौ करोड़ द्विज एक तरफ और बीस-बाईस करोड़ शूद्र दूसरी तरफ इन दोनों के बीच खाई इतनी जबरदस्त है कि अभी तक कोई राजनीतिक दल इनकों पाटने के काम में लग नहीं सका।'' भारत में राजनीति कभी साफ हो ही नहीं पाती है। हमेशा अपनी रिश्तेदारों और अपनी बिरादरी का ख्याल रखना, जैसे बन पड़े वैसे काम निकालना, सब तरह के लोगों को खुश रखना, और मुँह देखी बातचीत करना तथा सच्चाई के अलग-अलग पहलुओं को इस तरह देखना कि सच और झूठ में फर्क न रह जाए, बार-बार राय बदलना और सिद्धांतों की जरूरत पड़े वैसी टीका करना, कि अकृतज्ञता चरित्र का लक्षण बन जाए। जब सरकारी ओहदे पर रहे तब उदारवादी और विरोधी राजनीति चलाई तब क्रांतिकारी - ये सब द्विजों के अवगुण है और जहाँ जवान द्विज नेता रहे, वहाँ भी वह बहुतायत से रहे। जब तक द्विज लोग अपने और शूद्रों के बीच की खाई को लगातार सचेत होकर नहीं पाटते, तब तक उनके यह दोष रहेंगे और देश मुर्दा रहेगा।''[11] इस प्रकार उन्होंने कम्युनिष्टों के इस विचार को अस्वीकार कर दिया कि ये बुराईयाँ उन सामाजिक-आर्थिक अवस्था से जूड़ी है। जो हमारे देज़ में मौजूद है, और समाजवाद उनमें से अधि कांश को दूर कर देगा। लोहिया ने जो कुछ कहा उसका निहितार्थ था कि द्विज नेतृत्व से छुटकारा पाया जाना चाहिए और उसके स्थान पर शूद्र नेतृत्व स्थापित किया जाना चाहिए।

लोहिया ने यहाँ चेतावनी दी महज प्रतिस्थापन अनर्थकारी होगा क्योंकि ''शूद्र के भी दोष हैं। जाति की संकीर्णता उनमें और भी है। अफसरों की जगह पाने के बाद शूद्र की कोशिश रहती है कि वह बिरादरी के जहर के द्वारा अपनी जगह को कायम रखें। वह अपनी दृष्टि को जल्दी व्यापक नहीं बना पाता और व्यापक विषयों की बहस में पिछड़ जाता है।''[12] इसलिए शूद्रों को सत्ता और नेतृत्व के आसन पर बिठाते हुए ''इस बात को लगातार सहारा देकर और सलाह तथा बहस के द्वारा उनकी आत्मा को जगाना और सुसंस्कृत करना है, जिससे देश का बँधा पानी बहे और द्विज तथा शूद्र अपने दोषों से मुक्त हो।''[13]

लोहिया का यह विचार था कि जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक नेतृत्व शूद्रों के बीच से आए, उसे व्यापक दृष्टिकोण वाला, सही मायने में राष्ट्रवादी और साथ ही समाज के सभी तबके के आदर का पात्र होना चाहिए। सत्ता और नेतृत्व के स्थान पर आने वाले शूद्रों को सिर्फ अपने समुदायों के बारे में नहीं सोचना चाहिए, बल्कि सभी के हितों और कल्याण की चिंता करनी चाहिए। लोहिया ने राय दी कि यह द्विजों के अपने हित में है कि वे जाति-प्रथा को समाप्त करने के लिए संघर्ष करें, क्योंकि जब तक जाति प्रथा बरकरार रहेगी, तब तक न तो देश विकसित होगा और न वह शक्ति ही अर्जित करेगा। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय रूप में उसकी कोई विशेष गिनती नहीं होगी और देश के मौजूदा शासक अन्तर्राष्ट्रीय जाति व्यवस्था में अभी की तरह ही शूद्र के रूप में माने जाते रहेंगे। उन्होंने एक भविष्यवाणी की ''जिस दिन द्विज यह अनुभव कर लेगें, वे भिन्न दृष्टिकोण से जाति उन्मूलन को देखेंगे। जब अंतर्राष्ट्रीय जाति-व्यवस्था को चकनाचूर करने के सामान्य उद्देश्य से द्विज और शूद्र एक पंक्ति में खड़े हो जाएँगें तो सर्वांगीण प्रगति का होना लाजमी हो जाएगा।''[14]

संदर्भ-सूची

1. डॉ० राम मनोहर लोहिया, व्यक्ति और विचार, गिरीश मिश्र, ब्रजकुमार पांडेय, पृ० 5
2. जातिवाद की ऐतिहासिक पृष्टभूमि, डॉ० लोहिया हिन्दू बनाम हिन्दू, पृ० 28
3. व्हील ऑफ हिस्ट्री, राममनोहर लोहिया, पृ० 55-56
4. पूर्ववत्, पृ० 57
5. पूर्ववत्, वही
6. पूर्ववत्, वही
7. पूर्ववत्, पृ० 58
8. द कास्ट सिस्टम, राम मनोहर लोहिया, पृ० 1
9. पूर्ववत्, पृ० 04
10. पूर्ववत्, पृ० 12
11. पूर्ववत्, पृ० 13
12. पूर्ववत्, वही
13. पूर्ववत्, वही
14. पूर्ववत्, पृ० 18

भारतीय राजनीतिक चिन्तक विपिनचन्द्र पाल के राजनीतिक विचार

डॉ० मुखलाल राय

वरीय सहायक प्राध्यापक, राजनीति शास्त्र विभाग,
के० एस० एस० महाविद्यालय, लखीसराय

मिशन अपने उग्रवादी समूह के विचारकों के समान ही विपिन चन्द्र पाल प्रारंभ में उदारवादी एवं ब्रिटिश शासन के प्रशंसक के रूप में काँग्रेस में सम्मिलित हुए।[1] 1887 के काँग्रेस के मद्रास-अधिवेशन में उन्होने ''शास्त्र अधिनियम'' के विरोध में भाषाएं दिया था।[2] उन्हें इस बात से प्रसन्नता हुई कि अँग्रेजी शासन के अंतर्गत काँग्रेस के संगठन के माध्यम से मराठा, पंजाबी, पठान, पारसी, बंगाली, मद्रासी, एक ही मंच पर एकत्रित हो प्रसन्नता एवं सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में विचार-विनिमय कर रहे थे।[3] अँग्रजी शासन भारत में विधाता की अनुपम देन के रूप में उभरा था और पाल इसके लिए ईश्वर के प्रति आभार व्यक्त करने से नहीं हिचकिचाये। वे अँग्रेजी शासन को भारत की मुक्ति का करार मानते थे। उन्होंने अपने आप को ब्रिटिश शासन का वफादार घोषित किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार होने का अर्थ था भारत तथा भारत की जनता के प्रति वफादार होना। वे अपनी वफादारी इस करार से भी प्रकट कर रहे थे कि वे ब्रिटिश शासन को स्वराज का पर्यायवाची मानते थे।[4] अपने भाषण में उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि वो उग्रविचारवादी एवं लोकतन्त्रनिष्ठ होकर भी ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे।[5] उन्हें इसमें कोई विरोध भाषा नहीं प्रतीत होता था, इन्हीं विचारों से वे शास्त्र-अधिनियम का विरोध कर रहे थे। उनकी यह मान्यता थी कि शासन द्वारा शास्त्र-अधिनियम को यथावत् बनाये रखना उचित नहीं था। वे चाहते थे कि शासन इस विषय को प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाये। शासन की प्रतिष्ठा इसमें है कि वह जनता को प्रसन्न रखें। इसके विपरीत कार्य शासन की निर्बलता ही परिलक्षित करेंगे। अपने वक्तव्य के समर्थन में उनके द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि यदि हैदराबाद का निजाम ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए साठ लाख रू० के स्थान पर साठ करोड़ ही देने को तैयार हो और शासन चाहे कितना भी प्रचार भारत की जनता की वफादारी दर्शाने को क्यों न करे, जनता का नि:शस्त्र रहना शासन के प्रति संदेह की वृद्धि ही करेगा।[6]

1907 के अपने मद्रास भाषाएं में विपिन चन्द्र पाल ने ब्रिटिश शासन की भर्त्सना करते हुए व्यक्त किया कि उनका ब्रिटिश शासन में विश्वास समाप्त हो चुका है। उनका यह उद्‌गार उनके 1887 के काँग्रेस भाषा से पूर्णतया विपरीत था। उसका ब्रिटिश राष्ट्र लॉर्ड रिपन तथा लॉर्ड मैकले संबंधी प्रशंसात्मक दृष्टिकोण बदल चुका था।[7] वे यह मानने लगे थे कि बदलते हुए घटनाचक्र ने उनकी

मान्यताओं को भी परिवर्तित कर दिया था। शस्त्र-विहीन भारत में अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कैसे कर सकता था। जनता इससे परेशान थी, किन्तु ब्रिटिश नौकरशाही इसकी आड़ में अपने आप को सुरक्षित समझती थी। इसी कारण से शासन ने शस्त्र अधिनियम को भंग करने से मना कर दिया था। भारतीयों की असहाय स्थिति ने पाल को ब्रिटिश शासन का विरोधी बना दिया था।[8] वह यह मानने लगे कि भारत में ब्रिटिश शासन ईश्वरीय वरदान न होकर जनता का शोषक है। शस्त्र-अधिनियम ने भारतीय जनता के प्रति अविश्वास प्रकट किया, अतः ब्रिटिश शासन के प्रति वफादारी दिखाने का भारतीयों का रवैया व्यर्थ सिद्ध हुआ। वे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति के विरोधी थे।[9]

वे अँग्रेजी राज्य के परोपकारी पक्ष के समर्थक थे किन्तु 1904 में बंगाल की राजनीतिक स्थिति की परिवर्तन के साथ ही उनके विचारों में परिवर्तन आ गया और वे बंगभंग आन्दोलन के पथप्रदर्शक उग्रवादी विचारक बन गये। 1908 तक उनकी लेखनी से जो साहित्य निःसृत हुआ, उसे बंगाल के नवराष्ट्रवाद का प्रेरक साहित्य माना जाता है। इसी समय वे तिलक एवं लाला लाजपत राय के सम्पर्क में भी आये तथा इन तीनों महान नेताओं ने मिलकर लाल, पाल, बाल की त्रिमूर्ति के रूप में भारतीय जनता का हृदय जीत लिया। किन्तु 1908 के बाद उनके विचारों में पुनः उतार आया तथा वे 'साम्राज्यीय संघ'[10] (इम्पीरियल फेडरेशन) के विचार को आगे बढ़ाने में लग गये। इसी कारण से 1912 के बाद में जनता ने उन्हें विस्तृत-सा कर दिया।

बंगाल विभाजन के समय पाल के प्रकाशित लेखों एवं ग्रंथों से उसके राजनीतिक विचारों को समझने में सहायता मिलती है। अपने उग्रवादी विचारों में पाल ने उग्रवादियों को राजनीतिक उच्छृंखलतावादियों की संज्ञा दी। वे स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम को आगे बढ़ा रहे थे। पाल, तिलक एवं लाला लाजपत राय दोनों से स्वराज की मांग में एक कदम आगे थे। वे पूर्ण स्वराज की मांग के समर्थक थे। अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए पाल ने बताया कि स्वराज की धारणा का आध्यात्मिक स्वरूप है। यह वेदांत की उस धारणा पर निर्भर है जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपने आप को सार्वभौमिक सत्ता के साथ एकाकार करने की लालसा व्यक्त करता है। वे स्वराज की धारणा को केवल बंधनों से मुक्ति का साधन ही नहीं मानते थे किन्तु विश्व की अन्य वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाले धारणा मानते थे। उन्होंने संस्कृत शब्द स्वराज तथा अँग्रेजी के शब्द स्वतन्त्रता (फ्रीडम) के मध्य अंतर बतलाते हुए यह स्पष्ट किया की पहला शब्द सकारात्मकता का बोधक था और दूसरा शब्द नकारात्मकता का। वे स्वराज की धारणा को निर्बाध स्वतंत्रता के रूप में नहीं देखते थे। ये वे स्वराज्य को स्वयं पर शासन के रूप में मानते थे जिसमें व्यक्ति स्वयं को स्वयं के नियन्त्रण में रख सके। वे स्वराज्य को आत्मशासन का ही रूप मानते थे जिसके अंतर्गत आत्मन् को परमात्मन् का अंश माना गया था। यह एक ऐसी शासन की विधि थी जिसमें व्यक्ति सार्वभौमिक सत्ता के नियन्त्रण में रहता है। वे इस धारणा को भारतीय संस्कृति विकास का प्रतिफल मानते थे। इस प्रकार पाल ने स्वराज्य की धारणा पाश्चात्य विचारों पर आधारित न कर भारतीय मौलिक चिंतन पर अवस्थित की। उनके स्वदेशी संबंधी विचारों में स्वदेशी तथा बहिष्कार दोनों एकाकार हो गये थे। वे बहिष्कार को केवल विदेशी वस्तुओं के त्याग तक ही सीमित नहीं रखना

चाहते थे। वे बहिष्कार को विदेशी निरंकुशवाद के प्रति पूर्ण असहयोग की नीति मानते थे।[11] उनका असहयोग का मार्ग हिंसक नीति पर आधारित नहीं था। उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध का मार्ग अपनाया जो कि अनाक्रामक प्रतिरोध के रूप में स्पष्ट किया गया। उनका कहना था कि हम कानून के अंतर्गत रहकर ही कार्य करें तथा कानून का सम्मान करें। जब तक शासन द्वारा हमारे अधिकारों पर हाथ न डाला जाये तब तक हमें शांत रहना है। यदि अंग्रेजी शासन भारतीयों के जीवन, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति को हानि पहुंचाने पर उद्यत हो तो ऐसी स्थिति में निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति से भिन्न मार्ग भी अपनाया जा सकता है।[12]

विपिन चन्द्र पाल का राजनीतिक विचारों के दृष्टिकोण से योगदान उनके राष्ट्र संबंधी चिंतन से आंका जाता है। उनके विचारों में राष्ट्रवाद की धारणा केवल राजनीतिक ही नहीं थी किन्तु धर्मनिरपेक्ष भी थी। वे राष्ट्र की धारणा को पवित्र तथा धर्मनिरपेक्ष दोनों ही मानते थे। इस संदर्भ में उनके विचार महत्वपूर्ण हैं। उनका यह कहना था कि पवित्र तथा धर्मनिरपेक्ष दोनों ही तत्व मिले हुए होते हैं। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। धर्म राजनीतिक में विलीन हो जाता है। राजनीतिक नागरिकता में तथा धर्मनिरपेक्षता पवित्रता मे विलीन हो जाती है।[13] इस प्रकार के तालमेल से उन शाश्वत नियमों को विवेकपूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है जो व्यक्ति को उन्नति के पथ पर अग्रसर करते हैं। वे भगवान श्रीकृष्ण[14] को ब्रह्म एवं परमात्मा दोनों के गुणों से युक्त निरपेक्ष तत्त्व, भारत की आत्मा[15] के प्रतीक एवं आध्यात्मिक सांस्कृतिक तत्वों से युक्त भारतीय संघ के अधिष्ठाता मानते हैं। श्रीकृष्ण का दिव्य चरित्र पाल के लिए राजनीति के अध्यात्मीकरण का प्रेरक प्रसंग है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा था की भारत की स्वतंत्रता का आन्दोलन एक आध्यात्मिक आन्दोलन है। इसका दर्शन ब्रह्मतत्व की अभिव्यक्ति है, जिसमें व्यक्ति के सामाजिक एवं नागरिक जीवन का प्रस्फुटन हुआ है। राष्ट्र भौगौलिक एकता या जातीय परम्परा पर आधारित नहीं है। राष्ट्र एक आध्यात्मिक भावना है। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता के लिए भारत माता की अर्चना को एक नवीन क्रांति का उद्‌बोधक माना है। इसी प्रकार से उन्होंने नव-वेदान्तवाद को भारतीय चिंतन में नवीन भावना का संचार करने का प्रेरक तत्व माना। वे राष्ट्र को केवल विचार के रूप में ही नहीं मानते थे। राष्ट्र ऐतिहासिक एकताजनित सिद्धांत एवं प्रयोग दोनों ही था। उनकी राष्ट्रवादी धारणा नकारात्मक नहीं थी क्योंकि वे राष्ट्रवाद के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रवाद के भी समर्थक थे। राष्ट्रवाद से ही अंतर्राष्ट्रीयता की ओर प्रवृत्त हुआ जा सकता है, ऐसा उनका विचार था। वे राष्ट्रीय विचारधारा एवं देशभक्ति के नवीन आदर्श को सार्वभौमिक मानवता से संबंध मानते हुए उसे विष्णु अथवा नारायण की जगत्पिता स्थिति का प्रतीक मानते थे।[16]

विपिनचन्द्र पाल की राष्ट्रीय विचारधारा में उस समय अन्तर आया, जब उन्होंने राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद के अन्तर को स्वीकार नहीं किया। वे भारत की राष्ट्रवादी विचारधारा का अँग्रेजी साम्राज्य के चिन्तन मे निमज्जन करना चाहते थे। इसी कारण से उन्होंने एक साम्राज्य संघ का विचार प्रस्तुत किया, जिसमें भारत की स्थिति इंग्लैण्ड के अन्य उपनिवेशों के समान समता पर आधारित थी। विपिन चन्द्र पाल के इन विचारों का उनके उग्रवादी चिन्तन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। आलोचकों ने उन्हें दलबदलू कहना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु वास्तविकता कुछ और ही थी। पाल के स्पष्टीकरण के

अनुसार वे जापान की बढ़ती हुई शक्ति, चीन का नव निर्माण तथा पेन-इस्लामिक मुस्लिम विचारधारा से चिन्तित हो भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के स्थान पर भारत को अँग्रेजी साम्राज्य का सहयोग ही सदस्य बनाने के लिए अधिक इच्छुक दिखाई दिए। वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अंतर्राष्ट्रवाद से भी एक कदम आगे मानते थे ताकि एक ओर भारत की सुरक्षा का प्रबंधन रहे और दूसरी ओर भारत आंतरिक रूप से पूर्ण स्वतंत्र हो सके। इसी संदर्भ मे पाल ने राष्ट्रीयता को नये दृष्टिकोण से परिभाषित किया तथा उसे जनता का व्यक्तित्व माना। इस अर्थ मं राष्ट्रीयता विभिन्नता का परिचायक बन गयी तथा वे राष्ट्रीयता की व्यक्तिवादी परिभाषा को न मानकर उसे विभिन्नता के बृहद् अर्थों में देखने लगे।[17]

पाल के अनुसार धर्म तथा राजनीति दोनों ही मानव जाति के लिए समान रूप से आवश्यक है। मानव कल्याण की भावना दोनों में अन्तर्निहित है। प्रकृतिक में आग्ररिक एकता स्पष्ट झलकती है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से संबंधित है। प्रत्येक वस्तु पवित्र एवं उपयोगी है क्योंकि कण-कण में ईश्वर का वास है।[18] अत: जीवन के सार्वभौमिक सत्य की विवेचना में धार्मिक तथा निरपेक्ष अंतर गौण है। धर्मनिरपेक्ष स्वत: पवित्रता में परिवर्तित हो जाता है और केवल राज्य संबंधित तत्व (आध्यात्मिक तत्व के विपरीत) भी शाश्वत तत्व में परिवर्तित ईश्वर की सत्ता का बोध कराता है। मानव प्रकृति के ये विभिन्न आयाम ईश्वर की महत्ता तथा अद्भुत निर्माणक शक्ति के जीवंत उदाहरण हैं।[19]

राजनीतिक सुधारों की मांग प्रस्तुत करने में धर्म को विस्मृत करना उचित नहीं। राजनीति एवं धर्म दोनों ही मानव-विकास को अपना लक्ष्य मानते हैं। राजनीतिक संस्थाओं एवं क्रियाकलापों को धार्मिक तराजू में तौलना उचित है ताकि उनकी मानव-कल्याण संबंधी उपादेयता सिद्ध की जा सके। किन्तु राजनीति में स्थिरता जैसी चीज नहीं होनी चाहिए। धर्म तथा राजनीति को समय के साथ परिवर्तित होने की आवश्यकता है। मानव-प्रगति के साथ लय से लय मिलाकर चलने की आवश्यकता है निरंकुशता से लोकतंत्र की ओर बढ़ना इसी परिवर्तन का प्रतीक है। राजनीति धर्म के समान विकसित होती है, दी नहीं जा सकती। फ्रांस की राज्य-क्रांति के प्रणेता फ्रांस को नई राज्यव्यवस्था देना चाहते थे किन्तु परिणाम क्या हुआ? अमेरिका में गणतंत्रवाद विकसित हुआ - प्रदान नहीं किया गया। उसी कारण से वहाँ गणतंत्रवाद आज भी पल्लवित है।[20]

विपिनचन्द्र पाल अधिकारों को प्रदत्त करने के साथ-साथ कर्तव्यों के विकास पर बल देते थे। उनकी यह मान्यता थी कि अधिकारों एवं कर्तव्यों का उचित सामंजस्य आवश्यक है। इसी आधार का पाल ने यह व्यक्त किया कि राजनीतिक सुधारों की मांग के साथ धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों की भी आवश्यकता है। भारत का उदाहारण देते हुए यह प्रकट किया गया कि जहाँ धर्म भेदभाव सिखाता हो, ऊँच-नीच को बढ़ावा देता हो, वहाँ राजनीतिक सुधारों की स्वीकृति अथवा स्वशासित संस्थाओं की स्थापना खतरे में पड़ सकती है। वे मद्रास में पेरियाओं के साथ किये गये दुर्व्यवहार को दर्शाते हुए यह सिद्ध कर रहे थे कि भारत में जब तक छुआछूत, जातिभेद, धर्मान्धता समाप्त नहीं हो जाती और जब तक नवीन धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण विकसित नहीं होता, तब तक राजनीतिक सुधारों का कानून लागू कर भी दिया जाय, तब भी वे सफल नहीं हो सकते - इसका

यह अर्थ नहीं था कि पाल राजनीतिक सुधारों को सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों का अनुगामी बनाना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण जीवन के सभी विभागों में समान एवं सर्वव्यापी विकास को प्राप्त करने का था। राजनीतिक सुधार एवं धार्मिक सुधार साथ-साथ होना चाहिए ताकि दोनों की प्रगति, दोनों का सामंजस्य जनहित में प्रयुक्त किया जा सके। पाल ने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को भी इन्हीं आधारों पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। वे चाहते थे कि काँग्रेस द्वारा जातिवाद, पुरोहितवाद तथा सामाजिक सत्ता के कठिन बंधनों के विरूद्ध कार्य किया जाना चाहिए। काँग्रेस को धर्म, समाज तथा राजनीति - तीनों का ही परिष्कार करना है। वे क्रांति द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक सुधारों के पक्षपाती नहीं थे। उनका दृष्टिकोण मध्यम मार्ग अपनाने का था ताकि समस्त समाज को तथा भारतीयों के आंतरिक जीवन को अधिकार एवं कर्तव्यों के प्रति जागृत किया जा सके। नव-संगठित सामाजिक जीवन में ही भारत की भावी प्रगति संभव है। राजनीतिक प्रगति एवं राजनीतिक सुधारों की मांग तथा उनकी उपलब्धियाँ उन्हीं समस्याओं के समाधान में अन्तर्निहित है।[21]

बिपिन चन्द्र पाल के राजनीतिक विचारों में उनके द्वारा की गई राष्ट्र की व्याख्या महत्वपूर्ण है। 1904 में पाल ने राष्ट्र की तुलना गृह निर्माण से की। जिस प्रकार गृह निर्माण में सही योजना की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार से राष्ट्र निर्माण का कार्य भी योजनाबद्ध तरीका से किया जा सकता है। वे राष्ट्र को आंगिक इकाई मानते थे। राष्ट्र की संरचना में भूतकालिक इतिहास तथा वर्तमान जीवन की वास्तविकता परिलक्षित होती है। राष्ट्र की ईश्वरीय योजना को विचारों तथा संस्थाओं के माध्यम से पूर्ण करना देशभक्ति का सर्वोच्च कार्य है। वे एक ऐसे भारत राष्ट्र की कल्पना कर रहे थे जो आधुनिक मानवतारूपी महासंघ में समानता का स्तर प्राप्त कर सके। भारत का इतिहास उनकी दृष्टि में भारतीयों के साथ ईश्वर का साक्षात्कार था। भारत की राष्ट्रीयता को वे इसी आध्यात्मिक प्रेरणा पर आधारित करना चाहते थे। पुनः जागरणवाद से ही सब कुछ प्राप्त नहीं हो सकता था। हमें अपने अतीत के प्राचीन एवं मध्ययुगीन जीवन से बहुत कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता थी। आधुनिक राष्ट्र निर्माण का कार्य केवल प्राचीन भारतीय परम्पराओं एवं संस्कृति का अनुरूप ही नहीं होना चाहिए, बल्कि नवीन परिस्थतियों में नवीन आदर्शों को अपनाना भी आवश्यक है। हमें भूत एवं भविष्य दोनों का वर्तमान से जोड़ना है ताकि भारत राष्ट्र को यथार्थ के धरातल पर अवस्थित किया जा सके।[22]

पाल ने आत्मा तथा परमात्मा के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करना भारत की विशेषता रही है। केवल आत्मा तक सीमित रहने में संकीर्णता बढ़ती है। नवीन भारतीय राष्ट्र का निर्माण आत्मा, प्रकृति तथा समाज के संदर्भ में निर्धारित किया जाए। आत्मा का सर्वोच्चता सदैव मान्य होनी चाहिए अन्यथा आर्थिक गतिविधियों का प्रसार, समाज का पुनर्निर्माण तथा नागरिकता गुणों से अभिवृद्धि सभी कुछ शिथिल हो सकती है।[23] नवीन आधुनिक राज्य की स्थापना में हमारा जाति या गौरव एवं उसके प्रति चेतना हमेशा विद्यमान रहनी चाहिए। आर्थिक उन्नति एवं राजनीतिक जागरण दोनों में साम्य आवश्यक है। ये दोनों न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहे किन्तु इन्हें साध्य न मान लिया जाए। आत्मा के प्रति चेतना हमारे इतिहास का महत्वपूर्ण अध्याय रहा है। इसे भूला देना अपने भाग्य को विस्मृत कर देने के समान होगा। भारतीय राष्ट्र का आधार हमारी आध्यात्मिक चेतना ही है।[24] इसके साथ-साथ यह भी ध्यान रखना है कि भारत

में पाँच महत्वपूर्ण विश्व संस्कृतियों का संगम हुआ है। इन संस्कृतियों की विशिष्टताओं को बनाये रखना आवश्यक है। हमारी राष्ट्रीय एकता का यह अभिप्राय नहीं कि हम विभिन्नताओं को एकता के नाम पर बलि कर दें। विविधता में एकता विद्यमान रहना चाहिए। हिन्दू, पारसी, बौद्ध, मुस्लिम तथा ईसाई संस्कृतियों को राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्र के विकास में प्रयुक्त करना है। विभिन्न संस्कृतियों में बैमनस्य उत्पन्न होने के स्थान पर सामंजस्य होना चाहिए। प्रत्येक सभ्यता मानव-मस्ती की उपज है। मानव मात्र में एकता एवं समानता को स्वीकार कर लेना पर विभिन्न संस्कृतियों में अंतर्निहित एकता दर्शन के हो सकते हैं। भारत राष्ट्र की आधारशिला इसी पर आधारित होनी चाहिए। पारस्परिक सहयोग से ही यह संभव है। भारत में बसने वाली विभिन्न प्रजातियों का व्यवहार विभिन्न मार्ग अवरोधक न बने इसके लिए आवश्यक है कि उन्हें सहयोग एवं संगठन के माध्यम से पृथकत्व की भावना से दूर रखा जाय। समान आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में उन्हें सहभागी बनाया जाए। तभी एक शक्तिशाली, संगठित तथा महान् भारत-राष्ट्र का निर्माण सम्भव है।[25]

पाल ने राष्ट्र निर्माण में भौतिक तत्व की आवश्यकता पर भी बल दिया। जिस प्रकार से व्यक्तिगत जीवन में शारीरिक स्वास्थ्य एवं शक्ति का महत्व है, उसी प्रकार से राष्ट्रीय जीवन में भी शक्ति संचार होना चाहिए। विदेशियों ने भारत की बौद्धिक क्षमता की उच्चता को स्वीकार किया है किन्तु वे हमारी शारीरिक क्षमता तथा हमारे नैतिक गुणों की उच्चता को स्वीकार नहीं करते। हमें अपने राष्ट्रीय जीवन में इन कमियों को दूर करना है। ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों का राष्ट्र बनाना है जो अन्य के साथ तुलना में हेय नहीं कहे जायें। नवयुवकों एवं विद्यार्थियों में प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम जैसा अनुशासन आवश्यक है ताकि उनके स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण हमारे राष्ट्र को ऊँचा उठा सके। जीवन में सादगी का पाठ सिखलाना भी आवश्यक है। पाश्चात्य संस्कृति कि नकल करने से हमारा राष्ट्रीय पतन ही होगा पाश्चात्य राष्ट्रों के आधुनिक विलासितापूर्ण जीवन का भारत में अनुकरण अनुचित है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत में निवास करने वाले इतने सादगी का जीवन जीयें कि उनमें जिजीविषा ही न रहे। अच्छा भोजन तथा रहन-सहन का उचित स्तर आवश्यक है ताकि जीवन सुखमय बना रहे।[26]

संदर्भ-सूची

1. विपिन चन्द्र पाल, राइटिंग्स एंड स्पीचेज, खण्ड I (युगयात्री, कलकत्ता 1958), पृ० 3
2. वही, पृ० 1-7
3. वही, पृ० 3
4. वही, पृ० 4
5. वही, पृ० 5
6. वही, पृ० 6
7. विपिन चन्द्र पाल: स्वदेशी एंड स्वराज (युगयात्री प्रकाशक, कलकत्ता 1954), पृ० 124-127
8. वही, पृ० 171-172
9. बी०सी० पाल: दी न्यू स्पिरिट (सिन्हा सर्वाधिकारी एण्ड कम्पनी, कलकत्ता 1907), पृ० 222
10. पाल, रेस्पोसिबल गर्वमेन्ट (बनर्जी दास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता 1917), पृ० 41

11. मुखर्जी हरिदास एण्ड मुखर्जी उमा: विपिन चन्द्र पाल इडियाज स्ट्रगल फोर स्वराज (मुखोपाध्याय, कलकत्ता 1958) पृ० 6-12, 30
12. डॉ० पुरूषोत्तम नागर, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, पृ० 257
13. दी स्पिरिट आफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ० 11
14. पाल, श्री कृष्ण (टैगोर एण्ड कम्पनी मद्रास), पृ० 3, 165, 166
15. पाल, दी सोल आफ इंडिया (चौधरी कलकत्ता 1911), पृ० 124
16. वही, पृ० 135-143,
17. पाल, स्वदेशी एण्ड स्वराज, पृ० 161-167
18. पाल, दी स्पिरिट आफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ० 39
19. पाल, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृ० 11-13
20. वही, पृ० 14
21. वही, पृ० 21-24
22. वही, पृ० 25
23. वही, पृ० 27-28
24. वही, पृ० 28-29
25. वही, पृ० 30
26. वही, पृ० 30-33

प्राचीन भारत में मौर्यकालीन राजनैतिक व्यवस्था

विपिन दूबे

राजनीतिशास्त्र विभाग, पं० दीन दयाल उपाध्याय इन्टर महाविद्यालय, खजुरिया, बरौली (गोपालगंज)

चन्द्रगुप्त एक बड़ा योद्धा या विजेता ही नहीं था, वरन् एक महान् प्रशासक भी था। चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मेगास्थनीज ने उसके शासन-प्रबन्ध के बारे में काफी विवरण दिया है। विद्वान् राजदूत द्वारा दिये गये विवरण की पुष्टि चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के शिलालेखों तथा उनके मंत्री कौटिल्य द्वारा लिखे गये अर्थशास्त्र से भी होती है। अर्थशास्त्र का अस्तित्त्व निश्चित रूप से बाण तथा जैनों के नन्दिसूत्र (सातवीं शताब्दी) के पूर्व था। किंतु उसके वर्त्तमान स्वरूप को देखते हुए सन्देह होता है कि यही अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त के समय में भी था अथवा नहीं। हमें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन संस्कृत-साहित्य में चीन-पट्ट (चीनी रेशम) का जो उल्लेख मिलता है, वह मौर्यकाल के बाद की किस तिथि का है, क्योंकि मौर्य-काल के आरम्भ में चीन देश कल्पना से बाहर की वस्तु था। चीन का उल्लेख नागार्जुनिकुण्ड के पूर्व अनुपलब्ध था। हमें एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर भी ध्यान देना चाहिये। वह यह कि अर्थशास्त्र की रचना के समय संस्कृत राजभाषा थी, परन्तु मौर्य-काल में संस्कृत राजभाषा नहीं थी। चूँकि मुद्राओं एवं बांटों से संबंधित विवरण में डिनेरियस की चर्चा नहीं है, अत: हम इस बात की कल्पना कर सकते है कि इसकी रचना गुप्त-काल में हुई थी। गुप्त-काल में लिखे गये जैन-ग्रन्थों में भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बारे में जो चर्चा आयी है, वह भी उपर्युक्त दृष्टि से अनुकूल ही है। अर्थशास्त्र दूसरी शताब्दी से पूर्व का ग्रन्थ है, इस संबंध में पहले ही प्रमाण मिल चुके है। वैसे, यद्यपि यह कुछ देर का ग्रन्थ है, पर विभिन्न स्रोतों में उपलब्ध सामग्री की पुष्टि करने में इसका प्रयोग वैसे ही किया जा सकता है, जैसे कि रूद्रदामन के जूनागढ़-शिलालेखों का प्रयोग होता है।[1]

सर्वोच्च शासन के दो प्रमुख अंग थे-

1. राजा, और
2. महामात्र, अमात्य अथवा सचिव।

राजा पूरे राज्य का प्रधान शासक होता था। यद्यपि वह मर्त्य या नाशवान् माना जाता था, किन्तु ईश्वर से वरदान-प्राप्त तथा उसका प्रियपात्र समझा जाता था। राजा राज्य के सभी भौतिक साधनों का अधिष्ठाता तथा साम्राज्य के समूचे भू-भाग का स्वामी होने के करण बड़ा ही सत्ता-सम्पन्न या

शक्तिमान् होता था। लेकिन, उस समय कुछ प्राचीन नियम (पोराण-पकिती) होते थे जिनका सम्मान स्वेच्छाचारी से स्वेच्छाचारी राजा को भी करना पड़ता था, और वह करता था। जनता या प्रजा भी राज्य की महत्वपूर्ण इकाई (अंग) मानी जाती थी। प्रजा-रूपी शिशु के पालन के लिए राजा उत्तरदायी होता था और राजा द्वारा देश की सरकार के सुसंचालन से ही इस कर्तव्य का पूरा होना माना जाता था। जहाँ तक स्थानीय शासन-व्यवस्था का प्रश्न है, उसमें कुछ हद तक विकेन्द्रीकरण भी था। समूचे साम्राज्य की राजधानी तथा प्रान्तों के प्रमुख केन्द्रों में कुछ मंत्रियों की एक परिषद् रहती थी जिसमें समय-समय पर विचार विमर्श होता रहता था। संकट-काल में इन लोगों से सलाह-मशविरा अनिवार्य हो जाता था, तथा इन मंत्रियों का अधिकार भी था कि इनसे सलाह ली जाय। जो राजा के अधिकार व्यापक होते थे, उसके सैनिक, न्यायिक, वैधानिक तथा कार्यकारी (military, judicial, legislative and executive) कर्तव्य होते थे। हम पहले ही देख चुके है कि युद्ध के समय भी राजा अपने राजमहल से बाहर निकलता था। वह अपने प्रधान सेनापति के साथ सामरिक दाँव-पेंच पर विचार-विमर्श करता था।[2]

राजा अपने दरबार के समय न्यायिक कर्तव्यों का भी पालन करता था और इसमें किसी तरह का कोई व्यवधान पसंद नहीं करता था। शरीर में खुजलाहट होने पर चार अनुचर उसके शरीर को लकड़ी के टुकड़ों से खुजलाते थे, और वह अपना काम करता जाता था।[3] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि ''जब राजा दरबार में बैठा हो तो प्रजा से बाहर प्रतीक्षा नहीं करवानी चाहिये, क्योंकि जब राजा प्रजा के लिए दुर्लभ हो जाता है और अपना काम अपने मातहत अधिकारियों के जिम्मे छोड़ देता है तो प्रजा की अवस्था के समाप्त हो जाने तथा राजा के शत्रुओं के षड्यन्त्र-जाल में फँस जाने की आशंका पैदा हो जाती है। इसलिए देवताओं, प्राचीन विचारवालों, वेदों के विद्वान् ब्राह्मणों, तीर्थस्थानों, नाबालिगों, वृद्धों, पीड़ितों, असहायों तथा स्त्रियों से संबंधित जो कर्तव्य हो, उन्हें राजा स्वयं पूरा करे, और सभी कुछ कार्य की अनिवार्यता तथा बरीयता के आधार पर करे।''[4]

जहाँ तक राजा के संवैधानिक कर्तव्यों का प्रश्न है, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा को धर्म-प्रवर्तक कहा गया है। 'राजशासन को शासन-व्यवस्था (कानून) का स्रोत माना गया है। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के शिलालेखों को 'राजशासन' के उद्धरणों की संज्ञा दी जा सकती है।

राजा के कार्यकारी (executive) कर्तव्यों की चर्चा में विद्वानों ने आय-व्यय की जाँच करने और संतरियों, मंत्रियों, पुरोहितों व निरीक्षकों की नियुक्ति को राजा का ही कार्य है, वह शासन संबंधी रहस्यों पर मंत्रिपरिषद् से पत्र-व्यवहार करता था। गुप्तचरों की नियुक्ति करता था तथा विभिन्न देश के राजदूतों का स्वागत करता था।[5]

राजा ही राज्य की नीति के सिद्धान्त निर्धारित करता और अपने अधिकारियों को राजाज्ञाओं द्वारा समय-समय पर निर्देश दिया करता था। प्रजा के नाम भी उसकी राजाज्ञाएँ जारी होती थीं। चन्द्रगुप्त के समय में गुप्तचरों के माध्यम से दूरस्थ शासन कर रहे अधिकारियों पर सम्राट का पूरा नियन्त्रण रहता था। अशोक के समय में पर्यटक न्यायाधीशों से इस कार्य में सहायता ली जाती थीं। संचार-व्यवस्था के संचालन के हेतु सड़कें थीं। सामरिक महत्व की जगहों पर सेना की टुकड़ियाँ तैनात रहा करती थीं।

कौटिल्य का दृढ़ मत था कि राजत्व (प्रभुता) केवल सबों की सहायता से ही संभव है। सिर्फ एक पहिया कभी नहीं चल सकती। इसलिए राजा को सचिव की नियुक्ति करनी चाहिये तथा उनसे

मन्त्रणा लेनी चाहिये। ये सचिव तथा अमात्य कदाचित् वही लोग हैं जिन्हें मेगास्थनीज ने 'सातवीं जाति' की संज्ञा दी है। ये लोग प्रजा-संबंधी राजा के निर्णयों में राजा की सहायता करते थे। यद्यपि इस वर्ग के लोग बहुत थोड़े ही होते थे, किन्तु व्यावहारिक तथा न्यायिक बुद्धि में वे सबसे बढ़कर होते थे।[6]

सचिवों तथा मन्त्रियों में महामन्त्री लोग (High Ministers) उच्च माने जाते थे। अशोक के शिलालेखों में शायद इन्हें महामात्र कहा गया है तथा डायोडोरस ने इन्हें राजा का सलाहकार बताया है।

इन लोगों का चयन अमात्य-वर्ग के बीच से किया जाता था। इनके चरित्र की जाँच भी की जाती थी कि ये लोग किसी लालच में तो नहीं फसेंगे। इस वर्ग को सबसे ऊँचा वेतन दिया जाता था। इनका वार्षिक वेतन 48 हजार पण होता था (जो आजकल के हिसाब से लगभग 4 हजार रूपये प्रति मास होगा)।[7] विभिन्न विभागों में काम करने वाले अमात्यों के चरित्र की जाँच करने में उपर्युक्त महामंत्री लोग सहायता करते थे। हर प्रकार की प्रशासकीय कार्यवाही पर पहले तीन या चार मंत्रियों से विचार विमर्श कर लिया जाता था। संकट के समय (अत्ययिके कार्ये) मंत्रियों के साथ-साथ पूरी मंत्रि-परिषद् की बैठक बुलाई जाती थी। ये लोग युवराजों पर भी थोड़ा-बहुत नियंत्रण रखते थे, राजा के साथ युद्धक्षेत्र में जाते थे और सैनिकों को उत्साहित करते थे। ऐसे मंत्रियों में कौटिल्य प्रमुख थे। दूसरा मंत्री (प्रदेष्ट्रि) सम्भवत: मनियतप्पो था। यह जाटिलियन था। राजा लुटेरों का उन्मूलन करके साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों को शान्ति का वरदान देता था और मंत्री मनियतप्पो इस कार्य में राजा की सहायता करता था। 'मन्त्रिणा' शब्द के प्रयोग से पता चलता है कि मन्त्रियों (महामन्त्री) की संख्या एक से अधिक भी हुआ करती थी।[8]

मंत्रियों के अलावा एक मंत्रि-परिषद् भी होती थी। मंत्रि-परिषद् का अस्तित्त्व मौर्य-संविधान का एक मुख्य तत्त्व था, अशोक के शिलालेखों से भी यह सिद्ध होता है। मंत्रिपरिषद् के सदस्य तथा मंत्री लोग समान नहीं थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के कुछ अनुच्छेदों में मंत्रियों तथा मंत्रिपरिषद् के बीच अन्तर बताया गया है। मंत्रिपरिषद् का दर्जा कुछ कम था। मंत्रियों का वेतन 48 हजार पण तथा मंत्रिपरिषद् के सदस्यों का वेतन 12 हजार पण वार्षिक होता था। मामूली अवसरों पर इनसे राय नहीं ली जाती थी, किन्तु अत्ययिक कार्य के लिए मंत्रियों के साथ परिषद् के सदस्य भी बुलाये जाते थे। राजा बहुमत (भूयिष्ठा:) के निर्णय से कार्य करता था। राजदूतों के स्वागत के समय भी ये लोग उपस्थित रहते थे। एक अनुच्छेद में 'मंत्रिपरिषदं द्वादशामात्यान् कुर्वीत' अर्थात् मंत्रिपरिषद् में 12 अमात्य होनी चाहिये, लिखा मिलता है। इससे लगता है कि परिषद् के लिए सभी प्रकार के अमात्यों के बीच से चयन किया जाता था। कौटिल्य राजा के लिए छोटी परिषद् (क्षुद्र परिषद्) नहीं चाहता था। वह 'मानव' बार्हस्पत्य व औशनस के दृष्टिकोणों को भी ठीक नहीं समझता था। वह बड़ी (अक्षुद्र) परिषद् के साथ-साथ 'इन्द्र परिषद्' (एक सहस्र ऋषियों की परिषद्) भी चाहता था। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कौटिल्य ने एक उदीयमान् साम्राज्य की आवश्यकताओं का विशेष घ्यान रखा है। यह परिषद् निश्चय ही चन्द्रगुप्त की थी जिसे उसके सलाहकारों ने बड़ी परिषद् के गठन की सलाह दी थी।[9]

मंत्रियों तथा मंत्रिपरिषद् के अलावा भी अमात्यों का एक वर्ग और होता था जो प्रशासकीय एवं न्यायिक स्थानों की पूर्ति करता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि धार्मिक कसौटी से शुद्ध किये (धर्मोपधा शुद्ध) अमात्य को फौजदारी तथा दीवानी अदालतों का काम सौंपना चाहिये।

ध्यान की कसौटी से शुद्ध किये गये (अर्थोपधा शुद्ध) अमात्य को वित्त, गृह या भंडार-मंत्री बनाया जाना चाहिये। प्रेम (या वासना) की कसौटी पर शुद्ध किये गये (कामोपधा शुद्ध) अमात्य को क्रीड़ा-केन्द्रों का निरीक्षक बनाया जाना चाहिये। भय को कसौटी पर शुद्ध किये (भयोपधा शुद्ध) अमात्य को 'आसन्न कार्य' के लिए नियुक्त किया जाना चाहिये। जो इन कसौटियों पर खरे न उतरे, इन्हें खान, लकड़ी और हाथियों के जंगल व कारखानों, वगैरह में नौकरी देनी चाहिये। जिन अमात्यों की परीक्षा नहीं हुई रहती थी, उन्हें सामान्य विभागों में ही रखा जाता था। अमात्य पद के लिए अपेक्षित योग्यता वालों (अमात्यसम्पदोपेत) की नियुक्ति निसृष्टार्थाः' (साधिकार मंत्री), लेखक, पत्राचारमंत्री तथा अध्यक्ष या निरीक्षक के रूप में की जाती थी।[10]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि अमात्यों को कार्यकारी या न्यायिक पदों पर रखना चाहिये। अन्य ग्रन्थों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। स्ट्रैबो ने लिखा है कि ''सातवीं जाति में राजा के सलाहकार तथा मंत्री-वर्ग के लोग आते हैं। इन लोगों के जिम्मे सरकारी दायित्व, अदालतों तथा समूचे प्रशासन का काम रहता था।'' इतिहासकार एरियन ने भी लिखा है कि ''इन्हीं लोंगों मे से शासकों, गवर्नरों, कोषाध्यक्षों, सेनाध्यक्षों, नौसेना के कमाण्डरों, आय-व्यय-नियंत्रकों तथा कृषि-कार्य की देखरेख करने वालों का भी चयन किया जाता था।''

कौटिल्य के प्रशासकीय ढाँचे में अध्यक्षों को बडा महत्व दिया गया है। निम्नलिखित अनुच्छेद में इतिहासकार स्ट्रैबो के एक अनुवादक ने अध्यक्षों को मजिस्ट्रेट कहा है। इन मजिस्ट्रेटों में से कुछ को बाजार,[11] कुछ को नगर तथा कुछ को सैन्य व्यवस्था संबंधी दायित्व सौंप दिया जाता था। इनमें से कुछ मिस्त्र के मजिस्ट्रेटों की भांति नदियों की देखरेख करते थे, कुछ जमीन की पैमाइश का काम करते थे। कुछ लोग जलाशयों के पानी पर निगाह रखते थे ताकि सब लोग समान रूप से नहर के पानी का सदुपयोग कर सकें। शिकार की देखरेख भी इन्हीं लोगों के जिम्मे होती थी, और ये लोग अपने कर्तव्य पालन के सिलसिले में किसी को कोई पुरस्कार या दण्ड दे सकते थे। ये लोग टैक्स वसूलने के साथ-साथ भूमि, लकड़ी की कटाई, बढ़ईगीरी, पीतल के काम व खानों में काम करनेवालों की भी देखरेख करते थे। ये लोग सार्वजनिक मार्गों की देखभाल करते और मोड़ या जहाँ प्रमुख मार्ग से निकलने वाली कोई सड़क निकलती, ये वहाँ पत्थर गाड़ देते और उस पर दूरी व स्थान संबधी अपेक्षित सूचना अंकित कर देते। जिन लोगों के जिम्मे नगर का काम होता, वे छः (6) भागों में विभाजित होते थे तथा प्रत्येक भाग में 5 सदस्य होते थे। नगर के न्यायाधीशों के बाद गवर्नरों का ही पद आता था। इन लोगों के जिम्मे सामाजिक मामलों की देखरेख होती थी। इस वर्ग में भी 6 विभाग होते थे और प्रत्येक विभाग में 5 सदस्य होते थे।[12]

नगर के प्रशासन तथा सामरिक मामलों की देखभाल करने वाले प्रशासकों को ही अर्थशास्त्र में नगराध्यक्ष और बलाध्यक्ष कहा गया है। डाक्टर स्मिथ का कहना है कि 'राजधानी' तथा सेना के मामलों से संबंधित जिन बोर्डों का मेगास्थनीज ने उल्लेख किया है, कौटिल्य इन्हें जानता तक नहीं था। कौटिल्य ने इन विभागों के लिये भिन्न-भिन्न मन्त्रियों की नियुक्ति का सुझाव दिया है। हो सकता है कि विभिन्न बोर्डों का संगठन चन्द्रगुप्त की अपनी सूझ हो।''[13] किन्तु इतिहासकार ने यह नहीं सोचा कि कौटिल्य ने साफ-साफ लिखा है- 'बहुमुख्यम् अनित्यम् चाधिकारिनम् स्थापयेत्।' अर्थात्, प्रत्येक विभाग की देख-रेख के लिए अनेक अस्थायी अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए।[14]

'अध्यक्षाः संख्यायक-लेखक-रूपदर्शक-नोवी-ग्राहकोत्तराध्यक्ष-सखाः कर्माणि कुर्युः'- अर्थात्, राजकीय निरीक्षक एकाउण्टेण्ट, क्लर्कों, सिक्के के पारखियों तथा गुप्तचरों की सहायता से अपना काम चलाते थे। डाक्टर स्मिथ केवल अध्यक्षों के अस्तित्त्व को ही मान्यता देते हैं, अत्तराध्यक्षों तथा अन्यों की उपेक्षा की है। जहाँ तक अर्थशास्त्र का प्रश्न है, स्मिथ ने उसमें केवल अध्यक्षों तथा अन्य ग्रन्थों से केवल मण्डलों (boards) को ही माना है। इसके अलावा स्मिथ ने उन प्रधानों की उपेक्षा की है, जिनका उल्लेख निम्न अनुच्छेदों में आता है- 'एक डिवीजन प्रधान नौसेना-निरीक्षक के साथ रहता था। दूसरा डिवीजन उस व्यक्ति के साथ होता था जो वृषभ-दल का जिम्मेदार होता था। नौसेना-निरीक्षक तथा वृषभ-दल की देखरेख करने वाले को अर्थशास्त्र में क्रमशः 'नाव-अध्यक्ष' तथा 'गो-अध्यक्ष' कहा गया है। यह कहना भूल होगी कि प्राचीन काल में नाव-अध्यक्ष एक असैनिक अधिकारी होता था, उसे हिसकों (समुद्री लुटेरों) के उन्मूलन का उत्तरदायित्व दिया जाता था। महाभारत में नौसेना को राजा का अंग माना गया है। मेगास्थनीज द्वारा दिये गये विवरण में नाव-अध्यक्ष या एडमिरल के कुछ नागरिक कर्तव्य रखे गये है, जिनके अनुसार नाव-अध्यक्ष आवागमन तथा व्यापार के लिए जलयान किराये पर देता था।''[15]

लिच्छवि, मल्ल, शाक्य तथा अन्य संघराज्यों की तरह मौर्य-साम्राज्य में केन्द्रीय लोकप्रिय जनसभा नाम की कोई संस्था नहीं थी। ऐसा लगता है कि यदा-कदा ग्रामिकों या गाँव के मुखियों को बुलाने तथा उनसे कुछ विचार-विमर्श की परम्परा भी मौर्य-काल में प्रयोग में नहीं लायी गई। राजा की परिषद् केवल एक आभिजात्यवर्गीय संस्था मात्र थी, जिसमें देश के मुख्य-मुख्य लोग शामिल होते थे।[16]

संदर्भ-सूची

1. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास-डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी, पृ. 204
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र, X, पृ. 38
3. H & F, स्ट्रैबो III, पृ. 106-107
4. शामशास्त्री द्वारा अनुवाद कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ. 43
5. कौटिल्य, BK I, chap, XVI, XVII,
6. Chinnock, AÙkioan, पृ. 413
7. कौटिल्य, पृ. 247, स्मिथ (EHI चतुर्थ संस्करण, पृ. 149)
8. टर्नर का महावंश, P,XIII
9. दिव्यावदान, पृ. 372
10. मैक्रिडल कृत e megasthenes and AÙkian, 1926, पृ. 41, 42
11. Combridge History of India,I, पृ. 417
12. महाभारत, शान्ति पर्व
13. स्टीन, megasthenes and Kautilya, पृ. 233
14. अर्थशास्त्र 1919, पृ. 60
15. स्ट्रैबो, XV, पृ. 46
16. मोनाहन कृत Early History of bengal, पृ. 148

नेपाली के काव्य में प्रेम

दिवाकर चौधरी

यू.जी.सी, नेट, जे.आर.एफ, शोधछात्र (हिन्दी),
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, बिहार

गोपाल सिंह नेपाली छायावादोत्तरकालीन मस्ती, यौवन और प्रेमप्रधान गीतिकाव्य-धारा के प्रधान हस्ताक्षर के रूप में हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। इनकी काव्य-संवेदना के मूल में प्रेम और प्रकृति है। इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति से आधुनिक हिन्दी-कविता को एक गीति-भंगिमा दी। इनकी कविता उमंग, प्रेम और सौन्दर्य की कविता है, जीवन से जुड़ाव की कविता है। इसलिए उसमें पलायन का भाव नहीं, मस्ती और जोश के स्वर हैं तथा प्रेम के गीत हैं। प्रेम को नेपालीजी ने श्रेष्ठतम दर्जा दिया है और उसकी महिमा और जोश के स्वर हैं तथा प्रेम के गीत हैं। प्रेम को नेपालीजी ने श्रेष्ठतम दर्जा दिया है और उसकी महिमा का उद्घोष किया है-

जीवन में क्षण-क्षण कोलाहल, ज्यों सुख त्यों दुख, सुख-दुख समान
आती संध्या जाता विहान, जाती संध्या आता विहान
इसलिए जगत में दो ही तो कुछ शांति कभी देने वाले
है एक प्रकृति की मृदुल गोद, दूसरा प्रेम का मधुर गान।।[1]

प्रेम उनके सन्दर्भ में युवा कवि की भावुकता का उच्छलन नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव जाति के लिए उपादेय जीवनदृष्टि है। जिसकी प्रासंगिकता वर्तमान सन्दर्भों में और बढ़ जाती है। उनकी दृष्टि में प्रेम जीवन को सर्वांगपूर्ण तो करता ही है, साथ ही संसार-सागर को पार करने का एकमात्र माध्यम भी है-

तुम समझोगे नंदन वन के
सुन्दर, सरस सुमन सुकुमार,
इठला-इठला कर करते हैं
कुछ दिन वन-समीर से प्यार।
चातक, मोर, पपीहा, कोयल
अपने जीवन के दिन चार,
करते हैं आकर दुनिया में
यही प्रेम का ही व्यापार।
किन्तु, देव, कब समझोगे, है
यही स्वर्ग, जीवन, संसार

यही पुण्य है एक जगत का
उतरेंगे इससे ही पार।।[2]

वे जानते हैं कि प्रेम मरू की नीरसता में भी सरसता संचरित कर 'नंदनवन' बना सकता है। प्रेम के साहचर्य में सारे अभाव छोटे पड़ जाते हैं। जीवन का सूनापन दूर हो जाता है, हृदय की कलियाँ खिल उठती हैं और जीवन का सुख-बाग गुलजार हो उठता है-

सर्वनाश हो, प्रलय, निधन हो, होकर हमें करेगा क्या
ऐसी बन्दर-घुड़की से मानव हृदय डरेगा क्या
चलने का अभ्यस्त पाँव यह पथसे कभी टरेगा क्या
ईश्वर का यह अमर अंश रे छन में कहीं मरेगा क्या
जब तक यह संसार रहेगा तबतक हम अवतार सखी।।[3]

इसलिए उन्होंने प्रेम को इतना महिमामंडित कर दिया है कि उसके अभाव में यह संसार भी त्याज्य है, गर्हणीय है-

वन्दे तरु के पीले पत्ते, जिनमें कुछ रस-धार न हो
वैसे यहाँ न हो प्रेमी, तो सच कह दूँ, संसार न हो।।[4]

उनकी नजर में प्रेम ही स्वर्ग है, मुक्ति है, संपदा है। इसके अलावा सारे सांसारिक रिश्ते बंधन हैं, सिर्फ एकमात्र प्रेम ही जीवन है। यह वह 'पारस' है जिसके संस्पर्श मात्र से मानव-शरीर (वासना), कंचन के समान विशुद्ध (वासनारहित) हो जाता है। जीवन की विशेषता और कठिनाईयों पर सरसता रूपी सुधा बरसाने वाला एकमात्र 'घन', 'प्रेमघन' है-

अब समझी मैं यही स्वर्ग है, यही मुक्ति है, धन है,
और जगत में सब बंधन है, यही एक जीवन है।
यही एक 'पारस' है,जिससे बनता तन कंचन है,
सरस सुधा बरसाने वाला यही एक बस घन है।।[5]

वे प्रेम की स्वच्छन्दता में विश्वास रखते हैं और रस्मों का बहिष्कार करते हैं-

मन मिला तो जवानी रसम तोड़ दे,
प्यार निभाता न हो तो डगर छोड़ दे।
दर्द देकर न कोई बिसारा करे,
मन दुबारा-तिबारा पुकारा करे।।[6]

उन्हें दुनिया से कोई डर नहीं, वे निर्भीक भाव से कहते हैं-

डरता न तिमिर से मैं कुछ भी,
कुछ भीति नहीं है बादल से।
बस प्रीति रही जिससे मेरी,
उग आये गगन में वही चांद।।[7]

नेपालीजी के प्रेम-वर्णन में सिर्फ वायवीयता ही नहीं है अपितु उसमें प्रियतम के रूप का आकर्षण भी है और सम्मोहन भी। प्रियतमा का यह रूप द्रष्टव्य है जिसके सौन्दर्य-सागर में कवि की कल्पना का आकाश जैसे डूबने लगता है-

सुमुखि! तुम्हारे रूप-दीप में भरा हुआ इतना प्रकाश था
चहुँ दिशि छाए अन्धकार से था जीवन में ऊब गया मैं
बही तुम्हारी ज्योतिर्धारा सहसा उसमें डूब गया मैं
जब उतराया मैं तरंग पर मंत्र-मुग्ध हो मैंने देखा
कांप रहे तेरे अधरों पर खेल रहा स्वर्णिम सुहास था
मेरे जीवन की सन्ध्या में तुम झिलमिल तारा बन आईं
मधुर तुम्हारी रूप-सुधा से झूम उठी मेरी परछाईं
किसने मेरे शून्य कक्ष में यह दीपक रख दिया जलाकर
जिसकी ज्योति-लहर में मेरा डूब रहा कल्पनाकाश था।।[8]

...उसका सौन्दर्य जैसे सूर्योदय है, जिसके दर्शन मात्र से कवि का हृदय-कमल खिल उठता (ध्यातव्य है कि कमल सिर्फ सूर्य की रोशनी में ही खिलता है, अत: यहाँ कवि का अपनी प्रियतमा के प्रति एकनिष्ठ प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है) है-

सौन्दर्य तुम्हारा सूर्योदय, सन्ध्या हो आधी रात हो
दर्शन से खिलता मुग्ध हृदय जैसे कोई जलजात हो।।[9]

वह 'मृगनयनी' है, उसकी आवाज कोयल की तरह श्रव्य मधुर है, उसकी अलकें घन की श्यामलता को शर्मसार कर देने वाली है, उसके स्वर के समक्ष बांसुरी की तान भी झूठी मालूम होती है-

मृगनैनी-पिकबैनी! तेरे सामने बँसुरिया झूठी है।
रग-रग में ऐसा रंग भरा रंगीन चुनरिया झूठी है।।[10]

उसकी सुन्दरता कवि को सांसारिक ज्ञान की महिमा से कहीं ज्यादा श्रेष्ठतर प्रतीत होती है, क्योंकि-

दुनिया देखी पर कुछ न मिला, तुझको देखा सबकुछ पाया
संसार ज्ञान की महिमा से प्रिय की पहचान कहीं सुन्दर।
तेरी मुस्कान कहीं सुन्दर।।[11]

नेपाली ने प्रेम को एक स्वस्थ जीवन-दर्शन के रूपमें अंगीकार किया है। नानारूपात्मक जीवन-जगत से पराङ्मुख होकर मुक्ति का अन्वेषण करने वालों से कवि सहमत नहीं हो पाता है। यह गार्हस्थिक प्रेम का पक्षधर है, जो मनुष्य को कर्मण्य बनाता है।[12] इसलिए वे अपने प्यार की स्वीकृति चाहते हैं-

मैं प्यार मांगता हूँ
मनुहार मांगता हूँ
बस दो युवा-हृदय का
संसार मांगता हूँ।।[13]

साथ ही गार्हस्थ्य जीवन की धुरी नारी की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास भी करते हैं-

आधी दुनिया में हूँ, आधी तुम हो मेरी रानी।
तुमने हमने मिलकर कर दी पूरी एक कहानी।।[14]

उनके लिए 'प्रिय' और 'प्राण' जैसे एक ही सूत्र के दो सिरे हैं-

डोरी के दो मुँह जैसे ही प्राण और तुम एक प्रिय।
जग-जीवन यौवन अभिलाषा की मृदु-मृदु उद्रेक प्रिय।।[15]

नारी उनके लिए सिर्फ वासना का साधन नहीं है, अपितु वह कवि की शक्ति का अजस्र स्रोत भी है-

मैं शक्ति तुम्हीं से पाता हूँ
नव ज्योति तुम्हीं से मिलती है।।[16]

उन्हें नारी में उस जीवन-तथ्य के दर्शन होते हैं जो उन्हें अब तक मंदिरों, तीर्थों आदि में भटकने पर भी नहीं मिला था। उन्हीं के शब्दों में-

मंदिर में अर्पण ही अर्पण, तीर्थों में तर्पण ही तर्पण,
दर-दर भटका घर-घर अटका, मुझको न मिला जीवन-दर्पण।

वह दर्पण चमक उठा बिजली-सी नारी में,
मैं प्यार चुराता चला गया अंधियारे में।।[17]

प्रेम में सिर्फ आनन्द ही नहीं, दर्द भी अनिवार्यत: होता ही है। नेपालीजी की रचनाओं में भी प्रेम के प्रसाद अर्थात् वियोग को अभिव्यक्ति मिली है। प्रियतम का दिया दर्द इतना सघन है कि-

दूर तुमने किया, दर्द इतना दिया
हम जहाँ भी रहे गुनगुनाते रहे।
दो तुम्हारे नयन, दो हमारे नयन
चार दीपक सदा जगमगाते रहे।।[18]

प्रेम के दर्द ने उन्हें गीतसर्जक बनाया-

प्यार किया सर्वस्व लुटाया
प्रेमी मन को पहचाना।
खुशी हुई तो चुप्पी साधी
दर्द उठा, सूझा गाना।।[19]

वे अब प्रेम की वाणी कुछ-कुछ पहचानने लगे हैं। तज्जन्य व्यथा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति उनकी वाणी को हृदयस्पर्शी बना देती है। अब वे भी अभिनय कुशल हो गये हैं। क्योंकि उन्हें यह ज्ञात हो गया है कि प्रेम की वाणी अंतरतम की वाणी है। इसलिए अपने प्रिय को संबोधित करते हुए कहते हैं-

भीतर रोना बाहर हँसना
संगिनी, जान गया हूँ मैं,
नाच गई काँटों में मीरा
झूम-झूम गा गए कबीरा।
जग बदला मेरी बारी में
गंगा बनी गहन-गंभीरा,

इतना है कि प्रेम की वाणी
अब पहचान गया हूँ मैं।।[20]

उनकी प्रेम-दृष्टि व्यापक है। इसीलिए प्रिय से बिछुड़कर भी उनका हृदय हाहाकार नहीं करता वरन् नई जीवन-दृष्टि का उन्मेष करता है और प्रेम के लिए जीवन तक न्योछावर करने को तैयार हो जाता है-

तुम हो दूर, दूर हूँ मैं भी,
जीने की यह रीति निकालें।
तुम प्रेमी हो - प्रेम पसारो,
मैं प्रेमी हूँ - जीवन वारूँ।।[21]

नेपालीजी प्रेम की सम्पूर्णता के उपासक हैं। इसलिए वे प्रिय से 'वसंत' ही नहीं 'पतझड़' में भी आने की गुजारिश करते हैं-

मधुऋतु में जैसे तुम आए,
पतझड़ में भी आना।
पीले झरते हुए पात का
गाना सुनते जाना।।[22]

...और -

हम गाते हैं, इठलाते हैं
मुस्काकर प्यार जताते हैं
हैं आज हमारे सुख के दिन
हम प्रेमी हैं, मन भाते हैं।
किन्तु पड़ेगा जब रोना तब
दु:ख में नहीं रुलाओगे
जब आवेंगे संकट के दिन
कह दो, तब न भुलाओगे।।[23]

प्रेमी प्रिय के सम्पूर्ण जीवन-क्रम के सतत् साक्षात्कार का अभिलाषी होता है।[24] नेपालीजी भी अपने प्रिय का सतत् साहचर्य चाहते हैं-

जिन्दगी के सफर में चलो साथ दो,
कामना की लहर में डुबो रात दो।
दो नयन में नयन, हाथ में हाथ दो,
हाथ देकर न ऊँगली छुड़ाया करो।।[25]

प्रेमपूर्ण हृदय का विस्तार सम्पूर्ण सृष्टि तक हो जाता है।[26] नेपाली भी जब 'बुलबुल' को अपना घोंसला बनाते देखते हैं तो उनका प्रेमपूर्ण हृदय खिल उठता है, बुलबुल के सहारे अपने भविष्य के सुन्दर सपनों के प्रति मुखर हो उठता है-

वह सुन्दर नीड़ रचेगी
चुन-चुनकर खर लायेगी।
सजनी, फिर कभी किसी दिन
यह भी बैठी गायेगी।।
उसका संसार बसेगा
उसका भी जीवन होगा
जग के इतने आंगन में
उसका भी आंगन होगा।।[27]

उन्हें दुनिया में सर्वत्र प्यार ही प्यार दीखता है-

दुनिया के बाग-बगीचे सब
हम देख रहे हैं घूम-घूम
हर रोज प्रेम की चर्चा है
हर घड़ी प्यार की मची धूम।।[28]

यद्यपि नेपाली की प्रेम-दृष्टि में अपेक्षित गहराई का अभाव है, फिर भी उसका विस्तार विलक्षण है। नेपाली सच्चे पंडित हैं तो इसलिए कि इन्होंने 'ढ़ाई आखर प्रेम का' पढ़ा है, पचाया है। अगर स्नेह-सलिल से संचित न हो, तो जीवन की जमीन बंजर हो जाएगी। कवि प्रकृति और प्रेम की प्रतिष्ठा में यूँ ही नहीं लगा है। उसका पवित्र उद्देश्य है।[29]

नेपाली जी का प्रेम-वर्णन बहुआयामी है। उसमें प्रेम के कई रूप मिलते हैं। उसमें प्रकृति-प्रेम भी है, मानव-प्रेम भी, ईश्वरीय-प्रेम या भक्ति भी है, देश-प्रेम भी, राष्ट्रभाषा प्रेम भी है और संस्कृति-प्रेम भी। प्रकृति-प्रेम नेपाली जी के काव्य की प्रमुख विशेषता मानी जाती रही है। यहाँ तक कि उन्हें 'प्रकृति का प्रतिनिधि और अकेले सम्पूर्ण कवि'[30] माना गया है। इन्होंने प्रकृति की विविध चित्रावलियों से साहित्य-संचिका को सुशोभित किया है। प्रकृति आद्योपांत उनके काव्य-सृजन को आच्छादित किये है। उनकी कविता का लगभग अर्धांश प्रकृति को समर्पित है। इनके काव्य में प्रकृति के एक-से-एक स्वाभाविक चित्र मिलते हैं। कुछ चित्र द्रष्टव्य हैं-

पीपल के पत्ते गोल-गोल
कुछ कहते रहते डोल-डोल
जब-जब आता पंछी तरु
जब-जब जाता पंछी उड़कर
जब-जब खाता फल चुन-चुनकर
पड़ती जब पावस की फुहार
बजते जब पंछी के सितार
बहने लगती शीतल बयार
तब-तब कोमल पल्लव हिल-डुल
गाते सर्सर-मर्मर मंजुल

लख-लख सुन विह्वल बुलबुल
बुलबुल गाती रहती चह-चह
सरिता गाती रहती बह-बह
पत्ते हिलते रहते रह-रह।।[31]

मानव-प्रेम नेपाली के प्रेम का एक अन्य रूप है। वे मानव की समानता के पक्षधर थे-

मकान हो,
मनुष्य पांव तो पसार रह सके।
कि वस्त्र हो कि
जिन्दगी सज संवर रह सके।।
स्वतंत्रता रहे कि
दर्द लिख सके कि कह सके
विधान हो कि
राज भी कभी नहीं सके सता
मनुष्य मांगता यही, मनुष्य यही मानता
कि हो समाज राज में मनुष्य की समानता।।[32]

नेपालीजी के काव्य में अभिव्यक्त प्रेम का एक रूप 'ईश्वरीय प्रेम' या 'भक्ति' भी है। उनकी मान्यता है कि ईश्वर प्रकृति के कण-कण में अंतर्निहित है। सम्पूर्ण सृष्टि उसी की छाया-प्रतिच्छाया है-

जीवन की कृश काया पर
यह सुषमा का आवरण तुम्हारा
नील नग्न इस गगन अंग पर
तारों का आभरण तुम्हारा
प्राची देश में उठा बालरवि,
नभ में उड़े किरण के पंछी
निर्मल जल पर खिले कमल-दल,
कमल-कमल पर चरण तुम्हारा।।[33]

नेपालीजी के प्रेम का एक अन्य रूप देश-प्रेम है। देश-प्रेम इनके काव्य में अत्यंत प्रखरतम रूप में अभिव्यक्त हुआ है। वे राष्ट्र को सबसे ऊपर मानते हैं और स्वयं के कविकर्म को भी देशहित सम्बद्ध मानते हैं-

हुआ देश की खातिर जनम है हमारा
कि कवि हैं तड़पना करम है हमारा।
कि कमजोर पाकर मिटा दे न कोई
इसी से जगाना धरम है हमारा।।[34]

निष्कर्षत: नेपालीजी के काव्य का विस्तृत अनुशीलन करने पर हम पाते हैं कि उनके काव्य में उपलब्ध प्रेम के कई आयाम हैं। प्रेम के जितने रूप हो सकते हैं, नेपालीजी ने सबका समावेश किया

है। उसमें रूप है, सौन्दर्य है, प्रकृति है, देश है, मानव है, ईश्वर है और वह सब कुछ जिससे प्रेम किया जा सकता है, जिससे प्रेम हो सकता है। भले ही कहीं-कहीं भावातिरेक में कवि ने प्रेम में हल्केपन का परिचय दिया है। लेकिन प्रेम के संस्पर्श मात्र से मानवीय वासना प्रेममय हो जाती है, प्रेम का एक रूप हो जाती है, स्वयं प्रेम हो जाती है और तब वह निंदनीय नहीं, वरन् स्वीकार्य हो जाती है। जैसे समुद्र में मिलते ही नदी की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जाती है, नदी विलीन हो जाती है और समुद्र रह जाता है, ठीक वैसे ही प्रेमाभाव में वासना निंदनीय होती है। किन्तु, प्रेमस्नात वासना, वासना न होकर स्वयं प्रेम हो जाती है और तब वह भले ही समाज की कसौटी पर गर्हनीय हो, प्रेम की कसौटी पर ग्राह्य है। अत: हम कह सकते हैं कि नेपाली जी ने प्रेम को उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त किया है। उनका प्रेम के प्रति सहज आकर्षण है। यह आकर्षण वासनाजन्य नहीं वरन् अनुभवजन्य है। उन्होंने अपने जीवनानुभवों से प्रेम का महत्व पहचाना है, उसकी अनिवार्यता को पूरी शिद्दत से महसूस किया है और स्वयं अपने जीवन-संग्राम का विकट पथ प्रेम का पाथेय लेकर तय किया है। इसलिए वे प्रेम के प्रभाव को जानते हैं। प्रेम के प्रति उनकी धारणा स्पष्ट है। उनकी नजर में प्रेम से बढ़कर न तो कोई पुण्य है, यश है, धन-सम्पदा है और न ही कोई तीर्थयात्रा, बल्कि उनकी प्रेम ही 'परम-ब्रह्म' है, ईश्वर है। इसलिए वे दृढसंकल्पित होकर कहते हैं-

चाहे करूँ न पुण्य जनम भर
मिले न यश जग में अक्षय।
चाहे कर पाऊँ न यहाँ मैं
सोने-चांदी का संचय।।
किन्तु, जहाँ भगवान प्रेम की
होती है पूजा सविनय
करूँ तीर्थयात्रा उस जग की,
यह मेरे तन का निश्चय।।[35]

संदर्भ-सूची

1. नौका-विहार, शीर्षक कविता, उमंग, संपादक-नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-66
2. प्रेम, शीर्षक कविता, उमंग, संपादक-नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-27
3. जीवन-संगीत, शीर्षक कविता, उमंग, संपादक-नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-32-33
4. वंदगी, शीर्षक कविता, रागिनी, संपादक-नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-16
5. चहक, पंछी, संपादक-नंदकिशोर नंदन, पुस्तक भवन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-55
6. दूर जाकर न कोई बिसरा करे, शीर्षक कविता, गोपाल सिंह नेपाली, समग्र भाग-1, संपादक-सविता सिंह नेपाली, प्रकाशक-गोपाल सिंह नेपाली फाउन्डेशन, बेतिया (प. चम्पारण), प्रथम संस्करण-2010, पृ.-602

7. उग आय गगन में वही चांद, शीर्षक कविता, नीलिमा, संपादक-नंदकिशोर नंदन, पुस्तक भवन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-55
8. रूपदीप, शीर्षक कविता, पंचमी, संपादक-नंदकिशोर नंदन, साहित्य संसद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृ.-41
9. सौन्दर्य तुम्हारा सूर्योदय, शीर्षक कविता, गोपाल सिंह नेपाली, समग्र, भाग-1, संपादक-सविता सिंह नेपाली, प्रकाशक- गोपाल सिंह नेपाली फाउन्डेशन, बेतिया (प. चम्पारण), प्रथम संस्करण-2011, पृ.-592
10. चुनरिया झूठी है, शीर्षक कविता, गोपाल सिंह नेपाली, समग्र, भाग-1, संपादक- सविता सिंह नेपाली, प्रकाशक- गोपाल सिंह नेपाली फाउन्डेशन, बेतिया (प. चम्पारण), प्रथम संस्करण-2010, पृ. 593
11. सुन्दर का ध्यान कहीं सुन्दर, शीर्षक कविता, गोपाल सिंह नेपाली, समग्र, भाग-1, संपादक- सविता सिंह नेपाली, प्रकाशक- गोपाल सिंह नेपाली फाउन्डेशन, बेतिया (प. चम्पारण), प्रथम संस्करण-2010, पृ. 603
12 रवीन्द्र उपाध्याय, आलेख- 'उमंग'- प्रकृति-प्रेम और पौरुष की जीवन्त कविताएँ, नेपाली: चिन्तन-अनुचिन्तन, संपादक-सतीश कुमार राय, समीक्षा प्रकाशन, दिल्ली/मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण-2009, पृ. 245
13. मैं प्यार मांगता हूँ, शीर्षक कविता, पंचमी, संपादक-नंदकिशोर नंदन, साहित्य संसद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृ.-107
14. दबे पांव तुम आईं रानी, शीर्षक कविता, नीलिमा, संपादक- नंदकिशोर नंदन, पुस्तक भवन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.49
15. पदध्वनि, शीर्षक कविता, रागिनी, संपादक- नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-20
16. इस तरह उचककर तुम न डरो, शीर्षक कविता, नीलिमा, संपादक- नंदकिशोर नंदन, पुस्तक भवन, नई दिल्ली, संस्करण 2011, पृ. 47
17. मैं प्यार चुराता चला गया अंधियारे में, शीर्षक कविता, गोपाल सिंह नेपाली, समग्र, भाग-1, संपादक सविता सिंह नेपाली, प्रकाशक- गोपाल सिंह नेपाली फाउन्डेशन, बेतिया (प. चम्पारण), प्रथम संस्करण-2010, पृ.-621
18. दो तुम्हारे नयन, शीर्षक कविता, गोपाल सिंह नेपाली, समग्र, भाग-1, संपादक सविता सिंह नेपाली, प्रकाशक- गोपाल सिंह नेपाली फाउन्डेशन, बेतिया (प. चम्पारण), प्रथम संस्करण-2010, पृ. 598
19. रैन बसेरा, शीर्षक कविता, रागिनी, संपादक- नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-52
20. अंतरा, शीर्षक कविता, रागिनी, संपादक- नंदकिशोर नंदन, राजदीपप्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-14
21. मैं विद्युत् मैं तुम्हें निहारूँ, शीर्षक कविता, नीलिमा, संपादक- नंदकिशोर नंदन, पुस्तक भवन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ. 51
22. पतझड़ में भी आना, शीर्षक कविता, पंचमी, संपादक- नंदकिशोर नंदन, प्रकाशक- साहित्य संसद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011, पृ.-59

23. वचन, शीर्षक कविता, उमंग, संपादक- नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2011, पृ.-97

24. रामचंद्र शुक्ल, श्रद्धा-भक्ति, चिन्तामणि (पहला भाग), प्रकाशक- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, 2004, पृ.-11

25. दिल चुराकर न हमको भुलाया करो, शीर्षक कविता, गोपाल सिंह नेपाली, समग्र, भाग-1, संपादक सविता सिंह नेपाली, प्रकाशक- गोपाल सिंह नेपाली फाउन्डेशन, बेतिया (प. चम्पारण), प्रथम संस्करण-2010, पृ.-607

26. इक लफ्जे-मुहब्बत का
अदना ये फसाना है।
सिमटे तो दिल के आशिक,
फैले तो जमाना है।।
जिगर मुरादाबादी, मोहब्बतों का शायर, सम्पादक- निदा फाजली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1997, पृ.-37

27. जीवन, शीर्षक कविता, उमंग, संपादक- नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-46

28. खेतों की चादर हरी-हरी, शीर्षक कविता, नीलिमा, संपादक- नंदकिशोर नंदन, पुस्तक भवन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-46

29. रवीन्द्र उपाध्याय, आलेख- 'उमंग', प्रकृति, प्रेम और पौरुष की जीवन्त कविताएँ, नेपाली: चिन्तन-अनुचिन्तन, संपादक- सतीश कुमार राय, प्रकाशक- समीक्षा प्रकाशन, दिल्ली/मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण-2009, पृ.-247

30. गोपाल सिंह नेपाली: प्रतिनिधि कविताएँ, भूमिका, संपादन- सतीश कुमार राय, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2009, पृ.-6

31. पीपल, शीर्षक कविता, उमंग, संपादक- नंदकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-33

32. मनुष्य की समानता, शीर्षक कविता, हिमालय ने पुकारा, संपादक-नन्दकिशोर नंदन, प्रकाशक, साहित्य संसद, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-78

33. वंदनागीत, शीर्षक कविता, पंचमी, संपादक-नंदकिशोर नंदन, प्रकाशक- साहित्य संसद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2011, पृ.-30

34. नजर है नई तो नजारे पुराने, शीर्षक कविता, हिमालय ने पुकारा, संपादक- नन्दकिशोर नंदन, प्रकाशक-साहित्य संसद, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ. 85

35. निश्चय, शीर्षक कविता, उमंग, संपादक- नन्दकिशोर नंदन, राजदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृ.-21

हिन्दी कविता में दलित चेतना

डॉ० महेश प्रसाद सिंह

व्याख्याता हिन्दी-विभाग, राय विरेन्द्र सिंह महाविद्यालय,
कुतुबपुर कोठी, हाजीपुर (वैशाली)

कलाकार की मानसिक अवस्था-विशेष में हृदय के भाव जब सहज रूप से छन्दोबद्ध होकर फूटते हैं तो उसे ही कविता कहते हैं। जहाँ तक दलित-काव्य की बात है, काव्य-साहित्य को किसी जाति-विशेष या वर्ग-विशेष में विभक्त कर देखना साहित्य के साथ अन्याय होगा। आज दलित-काव्य की रचना हो रही है, कल महादलित काव्य की भी रचना होगी ही और फिर अगड़े-पिछड़े वर्ग की कविता भी होगी। इसी की देखा-देखी ब्राह्मण-कवि, क्षत्रिय-कविता और वैश्य कविता में भी काव्य-साहित्य का विभाजन हो सकता है। आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री ने अपने 2007 ई० के जन्म-दिवस पर आयोजित अपने भाषण में स्पष्ट रूप से कहा था कि 'काव्य को किसी जाति, वर्ण या वर्ग में विभक्त नहीं किया जा सकता।'

जो भी हो, आज कुछ विद्वानों ने काव्य की एक अलग ही श्रेणी बना दी है जो दलित काव्य के नाम से जानी जाती है। आलोचकों के अनुसार दलित काव्य में दलित कवियों द्वारा भोगे गये यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। 'दलित कविताओं में आज-साक्षात्कार है तो आत्म-चेतना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी।'[1]

पूर्व में दलित कविताएँ 'हंस' पत्रिका के 'सत्ता विमर्श' और 'दलित अंक में लगभग दो दर्जन कविताओं का प्रकाशन हुआ जिनमें 'गूंगा नहीं था मैं', 'तिनका तिनका आग' (जय प्रकाश कर्दम,) 'सदियों का संताप', 'वक्त! बहुत हो चुका' (ओमप्रकाश वाल्मीकि) 'एकलव्य' (माता प्रसाद), 'आग और आन्दोलन' (मोहन दास नैमिशराय), 'सतह से उठते हुए, चेतना के स्तर' (डॉ० एन. सिंह), 'यातना की आंखें' (दयानन्द बटरोही), 'सुनो ब्राह्मण' (मलखान सिंह), 'हार नहीं मानूँगा' (ईश कुमार गंगानिया), 'टुकड़े-टुकड़े दंस' (कुसुम वियोगी), 'हीरामन, किनारे भी मंझधार भी, कम्पिला' (डॉ. धर्मवीर), 'क्रौंच हूँ मैं', 'नई फसल' (श्यौराज सिंह बेचैन), 'नियति नहीं यह मेरी' (सुदेश तनवर), 'शब्द थके जरूर हैं' (चिरंगी लाल कटारिया), 'सवालों का सूरज', 'दखल देती कविता' (पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी), 'अनुभूति से अभिव्यक्ति तक', (विपिन बिहारी), 'पदचाप' (रजनी तिलक), 'बिरसा' (जियाला आर्य), 'पुश्तैनी पीड़ा' (तेजपाल सिंह तेज), 'दलित पचासा' (एस.आर. विद्रोही), 'अम्बेडकर शतक' (सोहनपाल सुमनाक्षर) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सर्वप्रथम दलित कविता की रचना अछूतानन्द ने की थी, जिसमें एक ओर तो उन्होंने इस भारत देश को परतंत्र बनाने वाले अंग्रेजों के प्रति विद्रोह का भाव व्यक्त किया था और दूसरी ओर मनुस्मृति तथा वेदों की प्रासंगिकता पर अपनी आवाज बुलन्द की थी–

पुरखे हमारे थे बादशाह, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
अब हिन्द में हम हैं तबाह, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
इतिहास में जो नामवर, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
थे सभ्यता में अग्रसर, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
आये थे आर्य यहाँ नये, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
छल-बल से वे मालिक भये, तुम्हें याद हो कि न याद हो।'[2]

तत्पश्चात् स्वतंत्र भारत में दलित कविताएँ लिखी जाने लगीं। इन कविताओं का विषय शूद्रों और दलितों की स्त्रियों को बनाया गया और पुरुषों के वर्चस्व को ललकारा गया–

तुम्हें क्यों शर्म नहीं आई?
गल चुकीं मोबत्तियाँ
आज वह जंगल की आग है
बुझाए न बुझेगी
आग का दरिया बन जाएगी
उसके तेवर पहचानो
सँभालो पुराने जेवर
थान के थान परिधान
नंगेपन पर उतरकर
पुरुष के सर्वस्व को नकार कर
नीचा दिखाएगी।[3]

दलित कविताओं में जाति-पाँति और छुआछूत पर तो कुठाराघात किया ही गया। सामाजिक रूढ़ि और अन्धविश्वास की अर्गला पर भी करारी चोट की गयी। ओम प्रकाश वाल्मीकि ने अपनी एक कविता में धर्म की ठेकेदारों पर कसकर प्रहार किया है।

समाज की यथास्थिति को बनाये रखने के विरुद्ध भी दलित कवियों ने विद्रोह का शंख-निनाद किया है। इन कवियों ने पूजा-पाठ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों की भी खिल्ली उड़ायी है और ध र्मग्रन्थों की भी निन्दा की है। कर्मकाण्ड को इन कवियों ने बिल्कुल ही व्यर्थ माना है।

दलित कवियों ने भूतकाल के छल-प्रपंच को अच्छी तरह पहचान लिया है तथा मिथकों के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। वर्तमान समय का दलित कवि द्रोण के छल-प्रपंच से पूरी तरह परिचित है। इसीलिए वह नकली गुरु को पसन्द नहीं करता और न उनकी मूर्ति बनाकर उनके प्रति भक्ति का भाव दर्शाना चाहता है। आज का एकलव्य द्रोण की चाल को अच्छी तरह जान गया है। अब वह अपने छली गुरु को अपना अँगूठा काटकर देने को तैयार नहीं है। वह आत्म-चिन्तन के उपरान्त ही कोई काम करता है। तभी तो वह कहता है–

अँधेरे की गहन गुफा को
घाव सहने दो
जाओ द्रोण जाओ
दर्द को हरियाने दो
एकलव्य मैं पहले था
आज भी हूँ
अब जान गया हूँ
अँगूठा दान क्यों माँगते हो?[4]

दलित-लेखक मनुवादी व्यवस्था के प्रति मन में विद्रोह का भाव रखना है। उसके अनुसार भगवान ने चारों वर्ण की सृष्टि नहीं की, बल्कि वर्णों के ये चार विभाग मनु द्वारा निर्मित किये गये हैं और शूद्रों को सबसे नीच वर्ण माना गया है। इसलिए आज का शूद्र या दलित 'मनुस्मृति' को देखना भी नहीं चाहता है। इन शूद्रों में विगत वर्षों में कई बार 'मनुस्मृति' की प्रतियाँ भी जलाई है। उसे लगता है कि 'मनुस्मृति' के चलते ही समाज में वह घृणित, उपेक्षित और प्रताड़ित हो रहा है। तभी वह कहता है–

निश-दिन मनुस्मृति ये, हमको जला रही है,
ऊपर में उठने देती नीचे गिरा रही है.....
ब्राह्मण व क्षत्रियों को, सब को बनाया अफसर,
हमको 'पुराने उतरन' पहनो बता रही है.....
दौलत कभी न जोड़ें, गर हो तो छीन लें वह
फिर 'नीच' कह हमारा दिल भी दुखा रही है।.....

(दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 408)[5]

दलित कवियों का हृदय ऐसे लोगों के प्रति विद्रोह का भाव रखता है जो उच्च वर्ण के महापुरूषों या उच्चवर्गीय स्त्रियों की तो प्रशंसा करता है, मगर दलित वर्ग की विभूतियों का स्मरण नहीं करता है। उसका कहना है कि अगर सवर्ण मंगल पाण्डे का स्मरण करता है तो उसे मातादीन भंगी और विरसा मुण्डा को भी नहीं भूलना चाहिए। अगर वह झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को याद करता है तो उसे झलकारी बाई को भी याद करना चाहिए। यहाँ ध्यान देने की बात है कि 'सदियों से सामाजिक प्रपंचों को झेलने के कारण दलित कवि का स्वर कटु हो गया है। यहाँ मुक्ति की छटपटाहट अनेक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त की गई है। दलित कविता में व्यक्त 'मैं' ही हम है जिनमें समस्त दलित समाज की पीड़ा ध्वनित होती है। दलित साहित्य में पारम्परिक प्रतीकों के स्थान पर नए और मौलिक प्रतीकों की अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ पेड़, जंगली सुअर, लोकतंत्र भेड़िये, घड़ियाल, कुत्ते आदि प्रतीक शोषण दमन और गुलामी को रेखांकित करते है। (दलित विमर्श और दलित साहित्य, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, पृ. सं. 215)[6]

जो भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'पूरे दलित समुदाय के उत्पीड़न और शोषण के अनुभव कमोवेश एक जैसे रहे हैं। इसलिए स्वानुभूत दलित लेखन का एकरस हो जाना स्वाभाविक है।[7]

इस प्रकार ऊपरलिखित तथ्यों से स्पष्ट है कि दलित-काव्य में दलित चेतना की व्यंजना यथार्थ की पीठिका पर हुई है।

सन्दर्भानुक्रम

1. डॉ. सतीश कुमार राय, शोध निकष, वर्ष : 1, अंक: 2, जुलाई-दिसम्बर 2011, पृ. सं. 97
2. हरिनारायण ठाकुर–दलित साहित्य का सामाजशास्त्र, पृ. सं. 2009, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्सटीटूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली, पृ. सं. 407 से उद्धृत।
3. डॉ. सत्यरंजन–दलित-जागरण, पृ. सं., जानकी मुद्रणालय, जनकपुर धाम, (नेपाल), पृ सं. 14 से उद्धृत
4. दलित विमर्श और दलित साहित्य–बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, पृ. सं. 214
5. हंस, अगस्त 2004, पृ. सं. 188-189 से उद्धृत
6. दलित विमर्श और दलित साहित्य, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, पृ. सं. 215
7. सं. डॉ. एम. फीरोज अहमद–वाङ्मय, वर्ष-2, अंक-8, जनवरी-मार्च 2006, पृ. सं. 61

भाषा–विज्ञान के क्षेत्र में भारत का योगदान
एक सर्वेक्षण

डॉ० पूजा कुमारी

व्याख्याता, हिन्दी विभाग, पारस-कौशल डिग्री महाविद्यालय, छपरा, सारण

आज भाषा-विज्ञान का जो सच हम देखते हैं, वह आधुनिक युग की देन है और उसका नाम भी यूरोपीय विद्वानों की ही देन है। मगर यह समझना हमारी भूल होगी कि यह पश्चिम की उपज है। भाषा विज्ञान का वर्तमान रूप शताब्दियों की विकास-यात्रा का प्रतिफल है। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों वेद, प्रातिशाख्य, अष्टाध्यायी, शिक्षा आदि में तो भाषा-विज्ञान के सिद्धांत की तात्विक व्याख्या की ही गई हैं, चीन के शुओ-बेन-कीत्सी, एर्हय आदि ग्रन्थों में भी भाषा-विज्ञान-संबंधी अनेक तथ्यों के निरुपण हुए हैं। अतः भाषा विज्ञान को पूर्णतः पश्चिम की उपज कहना एकदम गलत होगा।

सुकरात (469 ई. पू. से 369 ई. पूर्व) ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार किया था तथा प्लेटो ने (429 ई. पू. से 347 ई पू.) शब्दार्थ-संबंध के अतिरिक्त ध्वनियों के वर्गीकरण पर भी विचार किया है। इसके अतिरिक्त उसने व्याकरण-संबंधी लिंग, कारक, संज्ञा, क्रिया और काल आदि पर भी विचार किया है।

यूनान से ही ग्रीक तथा लैटिन भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ। अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाषा-विज्ञान पर कार्य करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में रूसों, कैडिलेक, हर्डर, पादरी कोडौ, डॉ. जेनिश आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतवर्ष में आज भी अत्यन्त ही प्राचीन भाषाएँ सुरक्षित हैं, जिनके आधार पर भाषा-विज्ञान-संबंधी अनेक नये-नये तथ्य प्रकाश में आये हैं। हिन्दू धर्म के कारण वैदिक और लौकिक संस्कृति, जैन धर्म के कारण अर्ध मागधी और बौद्ध के कारण पाली भाषा आज भी भारत में सुरक्षित है। भाषा संबंधी इतनी कालक्रमागत सुरक्षा विश्व के और किसी भी देश में नहीं है। प्राकृत भाषा के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की सामग्रियाँ भी सुरक्षित हैं। भाषा की यह परंपरा यहाँ लगभग 3500 वर्षों की है।

भाषा-विज्ञान संबंधी भारतीय अध्ययन को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं- (1) प्राचीन और (2) अप्राचीन।

(क) ऋग्वेद- विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के वागाम्भृणीय सूक्त (10/125) में वाक् (भाषा) से सम्बन्धित अनेक तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। सूक्त 10/71 में भाषा की उत्पत्ति की चर्चा भी की गई है। इसमें बताया गया है कि 'पहले बोलने की इच्छा होती

है, फिर चिन्तन होता है। उसके बाद स्वर उत्पन्न होता है और अन्त में सुनने या देखने योग्य वाणी प्रकट होती है।'

(ख) अथर्ववेद- इसमें भाषा की उत्पत्ति के संबंध में विस्तार से वर्णन किया गया है।

(ग) ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रंथ- इसमें शब्द और अर्थ पर ही नहीं विचार किये गये हैं बल्कि उनके व्युत्पत्तिपरक विश्लेषण को इतना समृद्ध बना दिया गया है कि पारिभाषिक शब्दावलियों के निर्माण में इससे काफी सहायता मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण में तो धात्वर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की गई है।

(घ) पदपाठ- इसमें संधि और समास के आधार पर शब्दों को अलग-अलग करने की प्रक्रिया बताई गई है एवं सुराघात पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। वेद में कई प्रकार के पाठ हैं, जैसे- मंत्र-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, घन-पाठ आदि-आदि। पदों को तोड़-तोड़कर एवं पदों को मिला-मिलाकर पाठ करने की विधि का इसमें बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुतीकरण किया गया है

(ड) शिक्षा- वैदिक ध्वनियों को शुद्ध बनाये रखने के लिए हमारे वैदिक ऋषियों ने शिक्षा नामक वेदांग की रचना की है जिसमें ध्वनियों के उच्चारण, वर्गीकरण, सुव्यवस्था आदि पर विचार किया गया है। पाणिनि और पतंजलि दोनों ही ने बताया है कि अशुद्ध उच्चारण का परिणाम बड़ा ही अशुभ होता है। शिक्षा-ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रातिशाख्य हैं। प्रत्येक वेद के अलग-अलग प्रातिशाख्य हैं।इन प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ भी शिक्षा-ग्रंथ ही है- पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, भावशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, काण्डव्य शिक्षा, अमोघ नन्दिनी शिक्षा, केशवीय शिक्षा, वर्णरत्न-प्रदीपिका, मल्लकर्म शिक्षा, स्वरांकुश शिक्षा, षोडश श्लोकीय शिक्षा, स्वर-भक्ति-लक्षण, नारदीय शिक्षा और माण्डूकी शिक्षा।

इन ग्रन्थों में वर्ण, स्वर-मात्रा, बल, ध्वनि के आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता आदि पर विचार किया गया है।

(च) प्रातिशख्य- शिक्षा-विषयक ज्ञान का विवेचन करने वाले ग्रन्थ प्रातिशाख्य हैं। इनमें वेदों की विभिन्न शाखाओं के अनुसार ध्वनि के संबंध में विचार किए गये हैं। इन दिनों उपलब्ध प्रातिशाख्यों की संख्या छः हैं- ऋक् प्रातिशाख्य (शौनककृत), शुक्लयजुः प्रातिशाख्य (कात्यायनकृत), कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय और मैत्रायणी प्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्पसूत्र और अथर्व प्रातिशाख्य (शौनककृत)।

पो० राजकिशोर सिंह के अनुसार, 'वेदमंत्रों के उच्चारण की शुद्धता के लिए ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रातिशाख्य के रूप में मिलता है। इन प्रातिशाख्यों में वेदों की प्रत्येक शाखा के अनुसार शब्दों और ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। उनके उच्चारण की सुरक्षा उनका मुख्य उद्देश्य है। परिणामतः मात्रा, काल, स्वराघात और उच्चारण-सम्बन्धी नियमों का वैज्ञानिक अध्ययन ही मुख्य उद्देश्य है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रातिशाख्यों में ध्वनि-विज्ञान का प्रायोगिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

(छ) निरुक्त- यास्क रचित निरुक्त में वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्ण-लोप और धात्वर्थ विस्तार से कहा गया है- 'निरपेक्षतया पदजात यत्र उक्तं तत्र निरुक्तम्' अर्थात् अर्थ

का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र रूप से पदों का जो संग्रह है, वही निरुक्त है। भाषा-विज्ञान-संबंधी तथ्यों के निरुपण का यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। 'इसमें शब्द का अर्थ, वाक्य, भाषा, भाषा का वैज्ञानिक विवेचन, शब्दों का इतिहास, धातुओं में शब्द का मूल, विभाषाओं की ओर संकेत, पदों के नाम, उपसर्ग, निपात, आख्यात आदि के विषय में प्रारंभिक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन मिलता है।'

(ज) व्याकरण- वेदांग में व्याकरण का बड़ा ही अधिक महत्त्व है। जिसके द्वारा सुबन्त, तिङन्त आदि शब्दों की व्याख्या की जाती है, वही व्याकरण हैं। इस वेदांग का उद्देश्य है वेदों के अर्थ को सुरक्षित रखना और उनके अर्थ को व्यक्त करते हुए वेदार्थ की रक्षा करना। व्याकरण-शास्त्र के प्राचीन काल में तीन सम्प्रदाय थे- आपिशलि सम्प्रदाय, काशकृत्स्न सम्प्रदाय और ऐन्द्र सम्प्रदाय। भाषा विज्ञानके अध्ययन में इन सम्प्रदायों से काफी सहायता तिली है।

वर्तमान समय में प्राप्त व्याकरणों में सबसे प्राचीन पाणिनि मुनिरचित 'अष्टाध्यायी' है। विभिन्न व्याकरणों में पाणिनि-पूर्व अनेक व्याकरणाचार्यों के नाम भी मिलते हैं, यथा - गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि-आदि। पाणिनि के परवर्ती व्याकरणाचार्यों में पतंजलि, कात्यायन, जिनेन्द्र मुनि, भर्तृहरि, कैय्यट, विमल सरस्वती, भटोजि दीक्षित, हेमचन्द्र आदि के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं।

व्याकरण के अन्तर्गत उन दिनों उन समस्त, विषयों का अध्ययन होता था, जिनका अध्ययन आधुनिक भाषा-विज्ञान में किया जाता है।

(ज) अष्टाध्यायी- पाणिनि रचित 'अष्टाध्यायी' आठ अध्यायों में विभक्त है जिसमें चार हजार सूत्रों द्वारा संस्कृत को बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से नियमबद्ध करने का प्रयास किया गया है। अगर इस गन्थ को भाषा-विज्ञान का मेरुदण्ड मान लिया जाय, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। पाणिनि का समय ई॰ पूर्व 750 से ई॰ पूर्व 700 का मध्य माना गया है।

अष्टाध्यायी की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

(1) व्याकरण जैसे कठिन विषय को सूत्रों में बाँधकर सहज और सरल बना दिया गया है।

(2) पाणिनि ने शब्द को न स्वीकार कर भाषा के चरम अवयव पद को स्वीकार किया है।

(3) इस ग्रन्थ में शब्दों को तीन कोटियों में रखा गया है- सुबन्त, तिङन्त और अव्यय।

(4) एकाक्षर धातुओं के सम्पूर्ण शब्दों की रचना इस ग्रन्थ में हुई है। उपसर्ग, प्रत्यय आदि द्वारा भी बहुत-से शब्दों की रचना हो सकती है। भाषा की इकाई वाक्य है। इस मत के मूल में पाणिनि का यही धातु-सिद्धान्त है।

(5) ध्वनि-विज्ञान का प्रारंभिक रुप भी 'अष्टाध्यायी' में प्रस्तुत किया है।

(6) 'अष्टाध्यायी' की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

(7) चौदह माहेश्वर सूत्रों के माध्यम से अष्टाध्यायी में समस्त वर्णमाला का एक वैज्ञानिक रुप प्रस्तुत किया जाना भी इसकी एक महती विशेषता है।

पाणिनि का परवर्ती युग

पाणिनि के पश्चात् भी भारतवर्ष में भाषा-विज्ञान संबंधी विविध तथ्यों पर काम किये गये, जिन्हें हम निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं-

(क) कात्यायन- पाणिनि के परवर्ती व्याकरणाचार्य कात्यायन ने सूत्र-शैली में ही पाणिनि के मत की आलोचना की। इनके सूत्र 'वार्तिक' कहे जाते हैं। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पाणिनि की अपेक्षा कात्यायन ने अधिक सामग्री दी है।

(ख) पतंजलि- इन्होंने अपने 'महाभाष्य' में कात्यायन के सूत्रों की आलोचना कर पाणिनि के सूत्रों को समर्थन दिया है। इन्होंने महाभाष्य ध्वनि, ध्वनि-समूह, वाक्य आदि पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है।

(ग) काशिका- पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि- इन तीन मुनियों के पश्चात् टीकाकारों ने भी भाषा-विज्ञान-संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। इस क्षेत्र में वामन जयादित्य की 'काशिका', जिनेन्द्र बुद्धि का 'काशिका-न्यास' और हरदत्त की 'पदमंजरी' को काफी प्रसिद्धि मिली है।

(घ) कौमुदी- कौमुदी ग्रन्थों में भाषा के वर्णनात्मक रूप पर विचार किया गया है। कौमुदी-ग्रंथों में 'सिद्धान्तकौमुदी', 'मध्यकौमुदी', 'लघुकौमुदी', 'प्रक्रियाकौमुदी', 'रुपमाला' आदि को विशेष ख्याति मिली है। इन ग्रन्थों में भट्टोजिदीक्षित लिखित 'सिद्धांतकौमुदी' सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

(ङ) वाक्य-प्रदीप- भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इस ग्रन्थ की महान उपलब्धि को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। 'यह भाषा-तत्त्व की वह अपूर्वतम कृति है जिसे पढ़े बिना आज की बहुत-सी भाषा-वैज्ञानिक समस्याएँ असमाहित रहेंगी। इस ग्रन्थ में भाषा, नाद, स्फोट, ध्वनि, वर्णान्तरस्वरुप, शब्द, मुख्य और गौण अर्थ आदि पर विचार किया गया है।'

(च) प्राकृत वैयाकरण- प्राकृत व्याकरणों में प्राकृत भाषा के विविध पक्षों पर विचार किया गया है। प्राकृत व्याकरणों में वररुचि लिखित 'प्राकृत-प्रकाश' तथा हेमचन्द्र और मार्कण्डेय के ग्रन्थों को अधिक प्रसिद्ध मिली है। मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ में भाषा के तीन वर्ग स्थापित किये - भाषा, विभाषा और अपभ्रंश। पहले के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी प्राच्चा, आवन्ती और मागधी को लिया गया। दूसरे के अन्तर्गत शाकारी, चाण्डली, शाषटी, आभीरिका और टाक्की को लिया गया तथा तीसरे के अन्तर्गत नागर, ब्राचड़ और उपनागर को लिया गया। इसके अतिरिक्त एक पैशााची का वर्ग भी है जिसके तीन भेद किये गये - कैकेय पैशाचिकी, शौरसेनी पैशाचिकी और पांचाला पैशाचिकी।

पालि भाषा के क्षेत्र कच्चायन, मोग्गलायन आदि द्वारा रचे गये व्याकरण भी अपना महत्त्व रखते हैं। कतिपय साहित्यशास्त्रियों और नैयायिकों ने भी अपने शास्त्रों में शब्द-शक्ति की विवेचना की है। इन शब्द-शक्तियों पर ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश रसगंगाधर आदि ग्रन्थों में सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। आधुनिक ग्रन्थों में जगदीश तर्कालंकाररचित 'शब्द-शक्ति-प्रकाशिका' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आधुनिक युग में भाषाविज्ञान संबंधी कार्य

भाषा विज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक युग में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य अपने देश में नहीं हो सका है, यद्यपि यहाँ के भाषा-वैज्ञानिक इस क्षेत्र में काफी सक्रिय हैं। इस क्षेत्र में आधुनिक युग में विदेशी भाषाशास्त्रियों ने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। मगर भारतीय विद्वानों ने अपनी सक्रियता द्वारा कतिपय नये-नये कार्य अवश्य किये हैं। इन विद्वानों में रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी, डा॰ कत्रे कोकंणी, सुकुमार सेन, तारापुरवाला, डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, डॉ॰ बाबूराम सक्सेना, डॉ॰ हरदेव बाहरी आदि ने विभिन्न भाषाओं पर कार्य किये हैं।

इनके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त पक्ष पर कार्य करने वाले विद्वानों में डॉ॰ श्याम सुन्दर दास, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, डॉ॰ उदय नारायण तिवारी, आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

वास्तव में भाषा-विज्ञान से संबंधित कार्य जितने अधिक प्राचीन भारत में हुए हैं, उन भाषा वैज्ञानिक उपलब्धियों की प्रशंसा भारतीय विद्वानों ने तो की ही है, विश्व के विभिन्न देशों के भाषाशास्त्रियों ने भी इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में मानव मूल्य

डॉ० प्रमिला यादव

प्रवक्ता, हिन्दी, मो० हसन पी०जी० कालेज, जौनपुर

भवानी प्रसाद मिश्र के जन्म से उनके जीवन तथा रचना यात्रा के एक लम्बे कालखण्ड तक का समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा चलाये जा रहे मुक्ति आन्दोलन के उतार-चढ़ाव का काल था। इस सम्पूर्ण कालखण्ड में कांग्रेस पर गाँधी जी का पूर्ण प्रभाव रहा। गाँधी जी का यह प्रभाव कांग्रेस या उसके द्वारा चलाए जा रहे राष्ट्रीय आन्दोलन पर ही नहीं, अपितु भारतीय जनमानस के हर वर्ग पर था। ऐसे में कोई भी रचनाकर्मी अपने आप को इससे अलग कैसे रख सकता था। अस्तु, तत्कालीन लगभग सभी रचनाकर्मियों ने गाँधीवादी मार्ग पर कम या ज़्यादा दूर तक अपनी रचना यात्रा किया। सरल, सहिष्णु तथा संवेदनशील भवानी प्रसाद मिश्र गाँधीवादी विचारघारा से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने 1942 के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया और तीन वर्ष के लिए वह जेल भी गए। आजीवन वह मनसा, वाचा, कर्मणा से गाँधीवादी बने रहे। सत्य, अहिंसा एवं करुणा उनके हृदय में गहराई तक समा गई। इन सबसे उनमें दृढ़ संकल्प की ऐसी अग्नि प्रज्ज्वलित हुई जो जलाती नहीं पिघलाती थी तथा कठोरता को तरलता में बदल देती थी। इन सबका परिणाम रहा कि मिश्र जी दुनियाँ को शक्ति एवं संघर्ष के बजाय प्रेम के बल पर बदलने की बात अपने सम्पूर्ण रचनाकाल में करते रहे।

इन सारे प्रभावों के परिणामस्वरूप ही उनके मन में मानव मूल्यों की स्थापना के लिए भाव जगता है और वह आजीवन मानवतावाद तथा जनपक्षधरता की वकालत अपनी कविताओं में करते हैं। उनके अनुसार मानवतावाद की स्थापना का मुख्य आधार प्रेम है। प्रेम मानव मन की ऐसी भावना है जो व्यक्ति से व्यक्ति की असम्पृक्तता समाप्त करती है जिस कारण आपस में स्नेह, सम्बन्ध तथा सहयोग का विकास होता है। यही कारण है कि उनकी प्रेम-कविताएँ मानवतावाद को मुखरित करती हैं। इसमें वह व्यक्ति से लोक की यात्रा करते हैं। इनमें भावना का उद्वेग, विचारों की गम्भीरता एवं प्रेम की शूक्ष्मता चरमोत्कर्ष पर है। ये मानव संघर्ष को समेटे मानव जीवन-मूल्यों की ग्रन्थियों को सुलझाते हुए आगे बढ़ती हैं। वह यह मानते हैं कि प्रेम सामाजिक सुख-शान्ति का एकमात्र साधन है। अगर यह नहीं है तो बहुत सारे सुख-साधन भी मनुष्य को सुखी नहीं बना सकते। वह राष्ट्र प्रेम से लेकर प्रकृति प्रेम तथा पारिवारिक प्रेम और प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम तक को अपनी रचना का विषय बनाते हैं-

तुमसे मिलकर
ऐसा लगा जैसे
कोई पुरानी या प्रिय किताब
एकाएक फिर हाथ लग गयी
या फिर पहुँच गया हूँ मैं
किसी पुराने ग्रन्थागार में
समय की खुशबू
प्राणों में भर गयी।[1]

गाँधीवाद तथा मानवतावाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गाँधीवाद से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण मिश्र जी का सम्पूर्ण रचना संसार मानवतावाद तथा जन पक्षधरता का समर्थन करता है। वह जीवन की सार्थकता दूसरों के संकट को मिटाने को मानते हैं-

एक कण भी दुख का
यदि मैं जगत का खो सका रे
एक क्षण भी यदि की
सान्त्वना हो सका रे
तो सफल यह रात, ये तारे
तरंगों की रवानी
वायु की हलचल, सुरभि की गति
सघन वन की कहानी।[2]

मिश्र जी का समस्त रचना-संसार समाज के प्रति उनकी सतत् जागरूकता का प्रतिबिम्ब है। समकालीन समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता, भाई-भतीजावाद, चारित्रिक पतन आदि पर उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से निर्भीकता के साथ लगातार प्रहार किया-

हाँ ऐसे लोग भी हैं
जिनकी कीमत
दो-कौड़ी की नहीं है
जो आपकी गाणी के पहिए के
नीचे की धूल है
जो बहुत हुआ
तो आपके
जूतों के नीचे के
कुचले हुए फूल हैं।[3]

करुणा, शान्ति, ममता, त्याग, दया और विश्व-बन्धुत्व पर उनका सतत् जोर रहा। उनका रचना-संसार मानवीय जीवन-मूल्यों तथा मानवता एवं समाज के उन्नयन में अपना अमूल्य योगदान करता है। उनकी मानवीय-मूल्य की तलाश बड़ी-बड़ी हवेलियों एवं महलों पर नहीं, गाँव की झोपड़ी पर जाकर खत्म होती है-

धँसो गाँव में बैठो जाकर
एक जरा सी कुटिया छाकर
गले-गले तक दुख में डूबा
है किसान जीवन से ऊबा
धीरज उसको ज़रा बँधाओ
अगर आग से बाहर आओ।[4]

उनका मानना है कि विश्व बन्धुत्व तथा मानवतावाद के भाव शान्ति के जनक हैं। उनके अनुसार जब तक समाज में समरसता स्थापित नहीं होगी तब तक निरंकुश शासन को समाप्त नहीं किया जा सकता-

कैसा मजा है
मुँह खोला भर
कि तैयार कोई सजा है
दु:शासन को अनुशासन पर्व
कहो तो ठीक
पुलिस और सेना की क्रूरता पर
गर्व करो तो ठीक
और यह भी कहो
कि एक ही व्यक्ति देश है
एक ही व्यक्ति प्रजा है
ये कैसा मजा है।[5]

गाँधी जी ने विश्वप्रेम तथा जीवन-मूल्य का सपना देखा था। गाँधीवादी विचारों से प्रभावित मिश्र जी भी इसके हिमायती रहे। इसीलिए वह मानवजाति की सर्वाधिक मुक्ति को मानवतावाद के संकल्प की आधारशिला मानते हैं-

बाहर जाकर इतना कहिए
भीतर के लोग जोश में हैं
और इससे ज़्यादा बड़ी बात
भीतर के लोग होश में हैं।[6]

मिश्र जी ने अपनी लगभग सभी रचनाओं में दया एवं त्याग को प्रमुखता दी है। उन्होंने सबमें स्वार्थ, त्याग एवं शुभ कामनाओं को वरीयता प्रदान किया है। उनके अनुसार त्याग एवं सर्वकल्याण का भाव मनुष्य में प्रांजलता लाता है। दया एवं त्याग के सुन्दर समन्वय को निम्नलिखित रचना में देखा जा सकता है-

हे! सजीले हरे सावन,
है! कि मेरे पुण्य पावन,
तुम बरस लो वे न बरसें,
पाचवें को वे न तरसें,
मैं मजे में हूँ सही है,
घर नहीं हूँ बस यही है,
किन्तु यह सब बड़ा बस है,
इसी बस से सब विरस है।
किन्तु उनसे यह न कहना,
उन्हें देते धीर रहना,
उन्हें कहना लिख रहा हूँ
उन्हें कहना पढ़ रहा हूँ।
काम करता हूँ कि कहना,
नाम करता हूँ कि कहना,
चाहते हैं लोग कहना,
मत करो कुछ शोक कहना।[7]

मिश्र जी विशुद्ध जनवादी कवि थे। आत्मकेन्द्रित रचनाकारों को भी वह जनमानस की समस्याओं से जुड़ी रचनाएँ करने के लिए कहते थे। ऐसे रचनाकारों को झकझोरती मार्मिक शब्दों से युक्त रचना द्रष्टव्य है-

हर तरह के लोग इसमें
तपे तू बैठा रहेगा,
हाय! इतना सुख जलन के
बीच में कैसे सहेगा।[8]

इसके साथ ही वह समसामयिक विकृत सामाजिक सन्दर्भों के घिनौने रूप से सबको सावधान करते हैं-

मैं असभ्य हूँ क्योंकि
खुले नंगे पाँवों चलता हूँ
+ + + + + + + +

मैं असभ्य हूँ क्योंकि
आपके कपड़े स्वयं बने हैं
आप सभ्य हैं क्योंकि
आपके जबड़े खून से सने हैं।[9]

गरीबों, निस्सहायों, वंचितों तथा भूखों के लिए उनके मन में वेदना थी। इस वेदना को वह लोक तक फैलाना चाहते थे। इसीलिए वे कहते हैं–

इस हड्डी के ढाँचे पर
थोड़ी सी माँस बढ़ा दे यदि
कहीं कोई दम तोड़ रहा हो
थोडी साँस बढ़ा दे यदि,
तो आप धन्य हो उठे,
आपको मानवता का प्यार मिले
अधिकार स्वयं हो सौ धन्य
यदि ऐसा अधिकार मिले।[10]

गाँधीवादी विचारधारा मिश्र जी को जनजीवन के कवि के रूप में स्थापित करती है। वे सामाजिक सन्दर्भों में किसी भी प्रकार की विषमता स्वीकार नहीं करते। उन्हें पूँजीवादी व्यवस्था के दानव से घबराहट व बेचैनी होती है। इसीलिए आज़ादी के बाद जब वह मूल्यों के पतन को देखते हैं तो उन्हें असहनीय पीड़ा होती है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं–

विज्ञान धर्म और ईमान
और पढ़ना लिखना
हर चीज़ आज कोठों पर है
पैसे का दानव
इनके मन पर
इतना ज़्यादा हावी है।[11]

वे मनुष्य को एक आदर्श मनुष्य के रूप में देखना चाहते हैं। यह तभी सम्भव है जब मानव मन से घृणा, क्रोध, उपेक्षा तथा दब्बूपन समाप्त हो जाय–

गाँधी त्यौहार मनेगा तब
जब आज और आगे के माथे से
छोटी–बड़ी क्रूरता का

कलंक धुल जायेगा
जब धरती पर
हर जीव के निर्भय होकर
जीने का द्वार खुल जायेगा।[12]

मिश्र जी कविता की वास्तविक जमीन मानव तथा समाज को मानते हैं। उनका कहना है कि कविता को भी अपना सर्वस्व-समर्पण समाज के लिए करना होगा जिसने एक व्यक्ति को पूरी हरी घास का अस्तित्व प्रदान किया है-

उठो इस एकान्त से
दामन छुड़ाओ
इस महज शांत से
चलो उतरकर
नीचे सड़क पर
जहाँ जीवन सिमट कर बह रहा है
साहस की दिशा में
सिमट कर बहते हुए
जीवन में उतरो
घाट से घाट तक जाओ
जाओ तूफान के बीच में
मत बैठो
ऐसे चुपचाप तट पर।[13]

मनुष्य का सर्वांगीण विकास उसके शारीरिक एवं मानसिक दोनों के विकास पर निर्भर होता है जिसके लिए व्यक्ति का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शारीरिक एवं मानसिक विकास आवश्यक हाता है। तभी मानव-मूल्यों की सुदृढ़ स्थापना हो सकती है। गाँधीवादी विचारधारा से अतिप्रभावित भवानी प्रसाद मिश्र इससे भलीभाँति अवगत थे। इसीलिए उन्होंने मानव-मूल्यों की स्थापना के उक्त आधारों की मूल्यवत्ता के प्रति अपनी रचनाओं को समर्पित किया तथा उनकी समग्र समृद्धि एवं सन्तुलित विकास का मार्ग अन्वेषित किया। उन्होंने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र के उन्नयन के बीच अपने मानवतावाद को विकसित किया तथा अपनी मानवतावादी जन पक्षधरता सम्बन्धी कविताएँ इतिहास, कल्पना, समाज, राजनीति एवं धर्म से सामग्री चुनकर अपने गहन चिन्तन एवं मनन द्वारा स्वस्थ जीवन-मूल्यों की स्थापना के निहितार्थ सरल एवं प्रवाहमय शैली में दुनियाँ को दिया।

सन्दर्भ-सूची

1. भवानी प्रसाद मिश्र संचयिता, समय गन्धा, सं० प्रभात त्रिपाठी, पृ० 57
2. गांधी पंचशती, भवानी प्रसाद मिश्र
3. दिनमान, 6 फरवरी, 1983, पृ० 45
4. गीत फरोश, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० 145
5. त्रिकाल संध्या, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० 120
6. गान्धी पंचशती, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० 60
7. घर की याद, भवानी प्रसाद मिश्र,
8. चकित है दुख, भवानी प्रसाद मिश्र
9. गान्धी पंचशती, जाहिल मेरे बाने, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० 127
10. गान्धी पंचशती, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० 33
11. चकित है दुख, भवानी प्रसाद मिश्र
12. गान्धी पंचशती, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० 205
13. गीत फ़रोश, भवानी प्रसाद मिश्र, पृ० 178

डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि में 'निराला' और 'प्रेमचंद'

डॉ० अशोक कुमार सिन्हा

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा (बिहार)

डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, प्रबुद्ध चिन्तक एवं मार्क्सवादी आलोचक हैं। इनकी सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनमें से मात्र चार-पाँच पुस्तकें ही अंग्रेजी में हैं, शेष सभी हिन्दी में हैं। इन्होंने सन् 1934 से लिखना आरंभ किया, और सन् 2000 के आरंभ तक लिखते रहे। लगभग छियासठ वर्षों का यह लेखन-काल इनकी अप्रतिम प्रतिभा, विद्वत्ता, सृजनशीलता एवं चिन्तन की अद्‌भुत प्रस्तुति से जाज्वल्यमानित है।

हिन्दी आलोचना-साहित्य में डॉ. रामविलास शर्मा का आगमन महाकवि 'निराला' पर लिखे लेख एवं 'प्रेमचंद' पर लिखी पुस्तक से होता है। जुलाई 1934 ई. के 'अभ्युदय' में 'ज्योति प्रसाद निर्मल' ने 'निराला' की रचनाओं पर कई तरह के आरोप लगाते हुए एक लेख लिखा। अन्य कई साहित्यकार भी 'निराला' के विरोध में थे। 'निराला' के विरोध के एक खेमा ही बनता जा रहा था। इन सबका तर्कपूर्ण ढ़ंग से उत्तर देना आवश्यक हो गया था। डॉ. रामविलास शर्मा ने इन सबों का उत्तर 'निरालाजी की कविता नामक लेख लिखकर दिया। अपने काव्य संग्रह 'रूप-तरंग' की भूमिका में डॉ. रामविलास शर्मा इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं– 'यदि मेरे प्रिय कवि पर प्रहार न होते तो मैं आलोचना के क्षेत्र में संभवत: उतरता ही नहीं।' सन् 1946 में जन प्रकाशन गृह मुम्बई से इनकी पुस्तक 'निराला' प्रकाशित हुई। इसमें बैसवाड़े का जीवन, साहित्य की पृष्ठभूमि और एक आकर्षक व्यक्तित्व नामक तीन अध्याय हैं। बैसवाड़े का जीवन में वहाँ के साहित्यिक वातावरण एवं 'निराला' के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। डॉ. शर्मा के अनुसार 'निराला' की रचनाओं को समझने के लिए उनके जीवन के विविध प्रसंगों की जानकारी आवश्यक है। 'निराला' की कविता के संबंध में वे कहते हैं–'निरालाजी' की कविता को समझने के लिए किसी रहस्यवाद या छायावाद और फिलासफी में पारंगत होने की आवश्यकता नहीं। कविता हृदय की भाषा है। उसे रस लेने के लिए भावों को सभ्य बनाना चाहिए, अपने कविता के स्वाद को सुशिक्षित बनाना चाहिए।'[1] 'निराला' की 'जागो फिर एक बार' कविता का उद्धरण देते हुए ये इसमें व्याप्त नाद-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं।

'निराला' की महत्वपूर्ण कृति 'तुलसीदास' की छंद रचना के संबंध में ये लिखते हैं– 'छंद भी ऐसा चुना है कि पढ़ने पर तरंगों के से भंग पाठक को आगे बहाते चलते हैं। दो पंक्तियाँ छोटी और तीसरी बड़ी मिलकर आधा बन्द बनाती हैं। इसी को दुहराने से एक पूरा बन्द बनता है। मुक्त छन्द

के अलावा छन्द-बद्ध कविता में निरालाजी ऐसा ओज गुण पहले न ला सके थे।'[2] इस कविता में तुलसीदास के माध्यम से देश के सांस्कृतिक उत्थान-पतन का चित्र उपस्थित किया गया है। इसमें निराला सर्वप्रथम उन परिस्थितियों का चित्रण करते हैं, जिसमें तुलसीदास का जन्म हुआ। उस समय हिन्दू जनता न केवल मुगलों के आक्रमण से आक्रान्त थी, बल्कि उनकी सभ्यता एवं संस्कृति भी पतनोन्मुख हो चली थी। हिन्दी सभ्यता का सूर्य अस्त हो चला था और इस्लामी सभ्यता का चाँद निकल आया था। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए लोगों ने मुगलों के सामने घुटने टेक दिये थे। तुलसीदास इस स्थिति पर सोचते हैं। सहसा उन्हें रत्नावली की याद आती है, और उसके पास चल पड़ते हैं। रत्नावली उन्हें फटकारती है– 'राम के नहीं काम के सूत कहलाये।' इस कविता में निहित प्रतीक को डॉ. रामविलास शर्मा इस प्रकार स्पष्ट करते हैं– 'रत्नावली के शब्दों में तुलसीदास को नहीं वरन् साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परम्परा को धिक्कारा गया है। उसके योगिनी रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका भेद वाला रूप जल कर भस्म हो गया है।'[3]

'तुलसीदास' राम की शक्ति-पूजा और सरोज-स्मृति निराला की प्रसिद्ध कविता है। राम की शक्तिपूजा की कथा राम-रावण युद्ध के समय की है। कविता का आरंभ सूर्यास्त के समय राम-रावण के अनिर्णीत युद्ध के वर्णन से होता है– 'रवि हुआ अस्त ज्योति के पत्र लिखा अमर, रह गया राम-रावण का अपराजेय समर।' डॉ. रामविलास शर्मा इस कविता की तुलना 'मिल्टन' के 'पैराडाइस लौस्ट' से करते हैं– 'कवि का ध्येय राम-रावण का युद्ध-वर्णन नहीं हैं, इसलिए वह सूर्य को अस्त कर पहले ही बता देता है कि आज का युद्ध समाप्त हो चुका है। ऊपर की पंक्तियों के बाद युद्ध का वर्णन चलता जाता है, किन्तु वह चित्र का पश्चाद्भाग सृजित करने के लिए, कवि का वह मूल विषय नहीं। कुछ-कुछ इसी प्रकार 'मिल्टन' ने भी खुदा और शैतान के युद्ध का वर्णन किया है।'[4] राम अट्टहास करते रावण पर बाण छोड़ते हैं, पर उस पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। युद्ध-भूमि से लौटने के बाद राम सभी के साथ मिल-बैठकर मंत्रणा करते हैं। जाम्बवान उन्हें शक्ति-पूजन के लिए कहते हैं। हनुमान फूल लाने निकल पड़ते हैं। दूसरे दिन सुबह से राम 108 कमलों से पूजा करने लग जाते हैं। अंतिम दिन देवी परीक्षणार्थ अंतिम कमल गायब कर देती है। राम का मन बेचैन हो उठता है। वे कहते हैं–'धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध, धिक् साधन जिसके लिए किया सदा ही शोध।' डॉ. रामविलास शर्मा इस पंक्ति में 'निराला' के व्यक्तित्व की छाप देखते हैं। मुक्त छंद के कारण निराला को भी संघर्ष करना पड़ा। डॉ. शर्मा के ही शब्दों में–'धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध' यह पंक्ति पूरी कविता का सूत्र है। कहना न होगा कि यह पंक्ति स्वयं कवि के जीवन पर कितनी घटित होती है।'[5] अंत में देवी प्रसन्न होती है और राम को विजय का आशीर्वाद देती है। यहाँ 'राम-धर्म' के प्रतीक हैं ओर रावण अधर्म का। इस कविता में अधर्म का चित्रण एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में हुआ है, जिसके सामने एक बार तो राम का साहस भी कुण्ठित होने लगता है।'[6] 'निराला' अपनी पुत्री सरोज के निधन के बाद 'सरोज-स्मृति' की रचना कहते हैं। इसमें निराला का व्यक्तिगत दु:ख सबों को झकझोर कर रख देता है। डॉ. रामविलास शर्मा इस कविता की तुलना 'शेक्सपीयर' के किंग लिचर से करते हैं– 'यूरोप के शोक-गीतों में दु:ख और क्षोम की ऐसी विकट परिणति कहीं नहीं है। किन्तु शेक्सपीयर के किंग लिचर में है, मृत्यु के कुछ क्षण पूर्ण

जब वह मृत-कन्या कौडिलिया का शव लिये मंच पर आता है। निराला का कुछ विक्षुब्ध स्वर किंग लिचर की करूण व्याकुल पुकार से मिलता-जुलता है।'[7]

'राग-विराग' डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा सम्पादित निराला की कविताओं का संग्रह है। इसकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें निराला की कविताओं की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए ये लिखते हैं– 'जैसे कीट्स ने नाइटिंगेल और शेली ने स्काईलार्क पक्षियों को अमर कर दिया, वैसे ही जुटटी, बेला या नर्गिस क नाम लेते ही निराला का स्मरण हो आता है। चाँदनी रात, मलयानिल, उपवन सर सरित, गहन गिरि-कानन इन सबके केन्द्र में जुही की कली। गंगा के कगार, आकाश में नक्षत्र, चन्द्रमा विश्व का तारतम्य सघन- इन सबका केन्द्र नर्गिस। धरती पर लू के झोंके, आकाश में जलता हुआ सूर्य, चारों ओर घूल, कवि का अशान्त मन और इन सबके केन्द्र में वनबेला। निराला को फूलों से ऐसा ही प्रेम था। प्रकृति के केन्द्र में धरती की सुगन्ध।'[8]

राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली से प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक 'निराला की साहित्य-साधना' एक प्रमुख पुस्तक है। इसमें निराला के जीवन एवं साहित्य पर विस्तार से चर्चा की गयी है। निराला की साहित्य-साधना, भाग-1 में ये 'निराला' को अत्यन्त प्रतिभावान मानते हैं– 'निराला जितने कल्पनाशील थे, उतने ही मेधावी। उनकी कल्पना और मेघा को प्रेरित करने वाली थी उनकी अपूर्व ऊर्जा। कल्पना, मेधा ओर ऊर्जा उनमें सहज, जन्मजात उनके व्यक्तित्व का मूलाध ार थी।'[9]

प्रेमचंद पर डॉ. रामविलास शर्मा की दो पुस्तकें प्रकाशित हैं– प्रेमचंद (1941 ई.) और 'प्रेमचंद और उनका युग (1952 ई.)। उस समय 'निराला' की तरह 'प्रेमचंद' के भी अनेक विरोधी थे। उनके ऊपर तिलिस्म होशरुबा, उमराव जान अदा, फिसानए आजद आदि के प्रभाव का आरोप लगाया गया। डॉ. रामविलास शर्मा ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि 'इन्हें पढ़ने से उनकी कल्पना-शक्ति प्रखर हुई और खुद भी लिखने की उन्हें प्रेरणा मिली।' लेकिन प्रेमचंद ने तिलिस्म होशरुबा का रास्ता नहीं अपनाया। उनकी रचनाएँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास के कथा-साहित्य का अगला ओर स्वाभाविक कदम थीं।'[10] इसी प्रकार प्रेमचंद की तुलना भरतचंद से किये जाने पर उन्होंने अपना विरोध प्रकट किया– 'शरत बाबू बंगाल के भद्रलोक और वहाँ की घरेलू समस्याओं का चित्रण करते हैं। उनकी संस्कृति, उनका समाज सुधार उनकी क्रांति भी भद्रलोक की है। प्रेमचंद को ऐसी समस्याओं के चित्रण से कोई वास्ता न था, उनका मार्ग ही दूसरा था। अपने उपन्यासों में उन्होंने सामाजिक संघर्ष के चित्र दिए हैं। 'प्रेमाश्रम' का आधार किसान-जमींदार का संघर्ष है, 'गोदान' की समस्या किसान-महाजन की है। 'कर्मभूमि' में अछूत आन्दोलन और 'रंगभूमि' में नए उद्योग-धंधों से गाँवों में परिवर्तन का चित्रण किया गया है।'[11] इसी पुस्तक में वे प्रगतिशील साहित्य से जुड़े साहित्यकारों को कहते हैं– आज के साहित्यिक के विचार बहुत कुछ स्पष्ट हो गये हैं, परन्तु उनके पास प्रेमचंद का अनुभव नहीं है, उनकी-सी सच्चाई भी कम है। प्रेमचंद की कृतियों का हमारे लिए यह संदेश है कि हम जनता में जाकर रहें और काम करें–अपनी रचनाओं में जनता-जनता कम चिल्लाएँ।'[12]

राजेन्द्र कॉलेज, छपरा की ख्याति आरंभ से ही रही है। यहाँ के प्राध्यापकों की पुस्तकें सदा चर्चित रही हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के लेखन के आरंभिक समय में यहाँ हिन्दी विभाग में जनार्दन प्रसाद

झा 'द्विज' ओर आचार्य शिवपूजन सहाय थे। कहा जाता है कि आचार्य शिवपूजन सहाय ने प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' के प्रकाशन के समय उन्हें सहयोग एवं सम्मतियाँ दीं। जर्नादन प्रसाद झा 'द्विज' ने 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' नाम से प्रेमचंद पर एक आलोचनात्मक पुस्तक की रचना की। डॉ. रामविलास शर्मा इस पुस्तक की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं– 'जर्नादन प्रसाद झा 'द्विज' की पुस्तक 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' दिसम्बर 1933 में वाणी मंदिर छपरा से प्रकाशित हुई थी। कई दृष्टियों से यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है।'[13] इस पुस्तक में 'द्विज जी' प्रेमचंद की तुलना रूसी भाषा के प्रमुख साहित्यकार 'मैक्सिम गोर्की' से करते हुए कहते हें कि रूसी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार मैक्सिम गोर्की अपनी रचनाओं में अपने देश की स्थिति का चित्रण उसी प्रकार करते हैं, जिस तरह प्रेमचंद जी। 'गोर्की' वर्तमान रूस की सामाजिक और राजनैतिक क्रांति के सबसे बड़े विश्लेषक हैं और प्रेमचंद जी आधुनिक भारत की सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के। डॉ. रामविलास शर्मा इस तथ्य से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं– 'झा ने प्रेमचंद की तुलना गोर्की से की है। यह तुलना बहुत दिलचस्प है और इसे विस्तार से उद्धृत करना आवयक है।'[14] प्रेमचंद के उपन्यासों पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि प्रेमचंद की लोकप्रियता का सबसे बड़ा तत्व कथावस्तु के लिए ग्रामीण परिवार एवं समाज का सच्चा चित्र प्रतिबिम्बित हो उठा है। हमारे देश की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है और उनकी जीविका का आधार कृषि है। कृषि से आय की स्थिति यह है कि उससे परिवार की आवश्यक आवयकता भी पूरी नहीं हो पाती है। कृषक को अन्नदाता कहा गया है, पर वे अपने घर के लिए सालभर अन्य की व्यवस्था नहीं कर पाते हैं। वे खेतों में जी-तोड़ परिश्रम कर फसल उपजाते हैं, पर उनकी फसल पर समाज के प्रभावशाली लोगों का अधिकार हो जाता है।

गोदान प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसका प्रमुख पात्र 'होरी' है। होरी एक परिश्रमी किसान है, और उसके शोषक एक नहीं अनेक है। जमींदार, पटवारी, पंच, साहूकार, मिल-मालिक, महाजन सभी उसका शोषण करते हैं और उसकी स्थिति बद से बदतर बनाकर रख देते हैं। होरी अपने खेतों में ईख उपजाता है। ईख लेकर जब वह मिल जाता है तो उसकी पत्नी धनिया ओर बच्चे सभी खुश नजर आते हैं। ये सब पैसे लेकर होरी के आने का इन्तजार करते हैं पर मिल के फाटक पर ही झिंगरी सिंह और नोखेराम सूद सहित पैसे वसूल लेते हैं, और होरी खाली हाथ निराश घर लौटता है। डॉ. रामविलास शर्मा इस प्रसंग का चित्रण इस प्रकार करते हैं– 'घर पहुँचे तो सब आद-स्वागत को दौड़े कि ऊख के रुपये लाया होगा। रूपा पानी लेकर दौड़ी, सोना चिलम भर लाई, धनिया ने चबेना और नमक लाकर रख दिया। होरी को न मुँह-हाथ धोते बनता था, न चबेना बचाते, ऐसा लज्जित और ग्लानित था मानो हत्या करके आया हो।'[15] डॉ. रामविलास शर्मा होरी के अनेक शोषकों की चर्चा करते हैं– 'पाँच साल हुए होरी ने मंगरू साह से साठ रुपये उधार लिये थे, बैल लाने के लिए। उसमें से वह आठ दे चुका था, परन्तु वह साठ रुपये अब भी बने हुए थे। दातादीन पंडित से उसने तीस रुपये लिये थे आलू बोने के लिए। दुर्भाग्य से आलू चोर खोदकर ले गये परन्तु उन तीस रुपये के तीन सौ रुपये हो गये। दुलारी विधवा सहुआइन नोन-तेल-तमाखू की दुकान करती थी, इकन्नी रुपया का ब्याज लेती थी। इनके भी सौ रुपये हो गये थे। फसल होते ही माल सब महाजनों को तौल देना पड़ता और ब्याज भी बढ़ने लगता।'[16]

डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचक हैं। मार्क्सवादी समाज में शोषक एवं शोषित दो वर्ग मानता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के उपन्यासों में शोषक एवं शोषित वर्ग पर गहनता से विचार किया है। 'यों तो महाजन सब कहीं, सभी वर्गों में हैं, किन्तु उनके शोषण का घातक सम्बन्ध जितना किसानों से है उतना औरों से नहीं। उनके चित्र हमें प्रेमचंद की कृतियों में सर्वत्र मिलते हैं। जैसे 'प्रेमाश्रम' सर्वाधिक जमींदारी शोषण का उपन्यास है, उसी प्रकार 'गोदान' महाजनी शोषण की विशद् गाथा है।'[17] इस शोषण एवं शोषित वर्ग की कथाएँ हमें प्रेमचंद के किसान सम्बन्धी उपन्यासों में अधिक मिलती है। लेकिन प्रेमचंद के पारिवारिक उपन्यासों में यह वर्ग-संघर्ष नहीं है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस तथ्य को सूक्ष्मता से समझा और इसका उल्लेख किया है– 'प्रेमचंद के उपन्यास 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', और 'गोदान' गाँवों से संबंधित हैं और इसलिए प्रेमचंद को वहाँ के दो वर्गों का चित्रण करना आवश्यक था। 'सेवासदन', 'गबन' और 'निर्मला' की समस्याएँ एक ही वर्ग या परिवार की है। अथवा वहाँ वर्ग-संघर्ष इतना स्पष्ट नहीं हो पाया है।'[18]

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में समाज की विविध समस्याओं यथा, दहेज प्रथा, बाल-वृद्ध विवाह, विमाता, नारी की दयनीय स्थिति, अछूतोद्धार आदि का अत्यन्त स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। दहेज प्रथा हिन्दू समाज की एक प्रमुख विचारणीय समस्या है। भारतीय समाज में दहेज-प्रथा का वर्णन प्राचीन काल से ही मिलता है, पर उस सयम लेन-देन की चर्चा नहीं है। लोग अपनी मर्जी, स्वेच्छा एवं शौक से अपनी कन्या को धन देते थे। लेकिन आज शादी विवाह के समय सबसे पहले तिलक-दहेज की तय कर लेने की बात उठती है। हिन्दू समाज की यह प्रथा एक ओर कन्या के मन को आहत करती हे, तो दूसरी ओर सामान्य परिवार की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय कर देती है। सामान्य परिवार के लोग लड़की के जन्म लेते ही उसके विवाह एवं तिलक-दहेज की चिंता से चिन्तित हो उठते हैं। कभी-कभी लाचार पिता को अपनी लड़की की शादी अधिक उम्र के वर से कर देने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अनमेल विवाह परिवार में अनेक संकटों को उत्पन्न करता है। गोदान में होरी को अपनी बेटी रूपा की शादी 40 वर्ष के रामसेवक महतो से कर देनी पड़ती है। रामसेवक महतो इसके लिए उसे दो सौ रुपये भी देता है। रुपा की शादी के बाद होरी दो दिनों तक घर से नहीं निकलता है। 'निर्मला' उपन्यास भी इसी समस्या पर आधारित है। दहेज के कारण निर्मला का विवाह एक विधुर व्यक्ति से कर दिया जाता है, जिसके लड़के की उम्र लगभग निर्मला के बराबर होती है। अंत में पति की मृत्यु के बाद वह संकट से घिर जाती है। डॉ. रामविलास शर्मा इस घटना का उल्लेख अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप से करते हैं– 'मंसाराम की मृत्यु के बाद निर्मला का जीवन लक्ष्यहीन हो जाता है और रोग और दरिद्रता में उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ भी निर्मला के सहारे, प्रेमचंद वयस्क दोहाजू के विवाह से उत्पन्न घरेलू समस्याओं का ताना-बाना बुनते हैं'।[19]

भारतीय समाज में अछूतों के उद्धार की समस्या एक भीषण समस्या है। प्रेमचंद के समय मंदिरों, ठाकुरद्वारों एवं अन्य धार्मिक स्थलों पर अछूतों का प्रवेश वर्जित था। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में इस प्रसंग को उठाया है और इनके प्रति सहानुभूति व्यक्त की है। 'कर्मभूमि' उपन्यास का प्रमुख पात्र अमरकान्त अपना घर छोड़कर चमारों की बस्ती में रहने लगता है। डॉ. रामविलास शर्मा 'कर्मभूमि' उपन्यास की चर्चा के क्रम में इसका विस्तार से उल्लेख करते हैं– 'कर्मभूमि के तीसरे भाग में

प्रेमचंद ने शहर के अछूत आन्दोलन का चित्र पाठक के सामने रखा है। एक ठाकुरद्वारे में कई दिन से कथा हो रही थी। एक दिन एक ब्रह्मचारी ने देखा कि श्रोताओं के पीछे कुछ अछूत भी बैठकर कथा सुनने आते हैं। ब्रह्मचारी उन्हें उठाने लगे तो और लोगों का ध्यान उधर गया। लाला समरकान्त ने सबों को मारकर निकाल देने की आज्ञा दी। एक बूढ़े अछूत ने कहा कि वे लोग तो जूतों के पास बैठे थे। परन्तु ब्रह्मचारी जी के लिए जूता पवित्र था, जूता बनाने वाला अपवित्र।'[20]

डॉ. रामविलास शर्मा की इन पुस्तकों का आज भी काफी महत्व है। महाकवि निराला एवं प्रेमचंद पर शोध-कार्य या श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना इन पुस्तकों की चर्चा के बिना संभव नहीं है।

संदर्भ-सूची

1. डॉ. रामविलास शर्मा–निराला, पृ. 77
2. डॉ. रामविलास शर्मा–निराला, पृ. 126
3. डॉ. रामविलास शर्मा–निराला, पृ. 134
4. आजकल (सितम्बर, 2012) रामविलास शर्मा विशेषांक, पृ. 18
5. डॉ. रामविलाश शर्मा–निराला, पृ. 136
6. सं. डॉ. नगेन्द्र–हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 557
7. सं. डॉ. रामविलास शर्मा–राग-विराग, पृ. 30
8. सं. डॉ. रामविलास शर्मा–राग-विराग, पृ. 18
9. डॉ. रामविलास शर्मा–निराला की साहित्य, साधना (भाग-1), प. 422
10. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद और उनका युग, पृ. 19
11. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद पृ. 10
12. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 16
13. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 13
14. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 14
15. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 96
16. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 94
17. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 93
18. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 132
19. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 132
20. डॉ. रामविलास शर्मा–प्रेमचंद, पृ. 113.

संस्कृत

गीता–ज्ञान, कर्म एवं भक्ति का समन्वय

सुमन्त कुमार

यू०जी०सी० (नेट), संस्कृत, कमलनगर, मिरजानहाट, भागलपुर

महाभारत के भीष्मपर्व के अठारह अध्यायों का एक अंश *'श्रीमद्भगवद्गीता'* के नाम से प्रसिद्ध है। *"श्रीमद्भगवद्गीता"* भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि है। यद्यपि कि गीता विशालतम महाभारत का अग है तथापि इसे स्वतंत्र ग्रंथ का महत्व मिला है। प्राचीन काल से ही इसपर अनेक व्याख्यायें लिखी गई है। आज भी विश्व में सर्वाधिक प्रचलित संस्कृत ग्रंथ गीता को ही माना जाता है। पाश्चात्य विद्वान हम्बोल्ट ने गीता से प्रभावित होकर कहा है कि – 'किसी ज्ञात भाषा में उपलब्ध गीतों में सम्भवत: सबसे अधिक सुन्दर और दार्शनिक गीता है। गीता शास्त्र विश्व जगत् की परम निधि है। महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने अर्जुन को कर्म मूलक उपदेश दिए जिसका संकलन गीता के 700 श्लोकों में हुआ है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय गीता के 18 अध्याय में हैं। इन अध्यायों में प्रत्येक 'योग' के नाम से विख्यात है। गीता के प्रणेता महर्षि वेदव्यास है किन्तु उपदेशों के प्रवक्ता के रूप में भगवान् श्री कृष्ण का नाम अमर है। गीता के महत्व के विषय में कहा गया है कि समस्त उपनिषद रूपी गायों से दुहा गया यह अमृतमय दुग्ध है जिसे गोपाल नंदन कृष्ण ने अुर्जन को बछड़ा मानकर दुआ तथा सभी परवर्ती विद्वान इसका पान करते हैं–

''सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनन्दन:।
पार्थो वत्स: सुधीभेक्ति दुग्धं गीतामृतं महत्।।''

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने गीता की प्रशंसा करते हुए इसे मानव धर्म की संहिता बताया हैं इसकी तुलना कामधेनु और कल्पवृक्ष से की गई है। दार्शनिक विचारों को सरलतम भाषा में अभिव्यक्त करने वाले गीता का प्रचार भारतीय जनमानस में अत्यधिक हैं।

गीता की लोकप्रसिद्धि इसलिए हुई है क्योंकि इसमें पूर्ववर्ती एकांगी मार्गो का समन्वय किया गया है। उपनिषदों में केवल ज्ञान मार्ग पर, ब्राह्मण कर्मकाण्डों में केवल भक्ति मार्ग पर तथा विभिन्न देवताओं के वैदिक उपासकों में केवल भक्ति मार्ग पर बल दिया जाता था। गीता में इन सभी विचारों का समन्वय किया गया है तथा इसे योग कहा गया है। योग का अर्थ है तीनों का समन्वय। गीता में योग के विषय में दो परिभाषाएँ मिलती हैं –

क) योग कर्मसु कौशलम्' अर्थात् विभिन्न कर्मों को कुशलतापूर्वक करना योग है।

ख) समत्वं योग उच्यते[2]

कर्म के समय समत्व दर्शन करना अर्थात सुख-दुख लाभ हानि आदि की चिन्ता न करना योग है।

गीता मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को ही प्रधान साधन के रूप में स्वीकार करती है। ज्ञान योग पर आचार्य शंकर ने भक्ति योग पर आचार्य रामानुज ने तथा कर्मयोग पर मीमांसकों ने गम्भीर विवेचन किया है।

लोकमान्य तिलक ने गीता को कर्मयोग प्रधान ग्रंथ माना है। दैवीय सेवा अर्थात् कर्म के द्वारा हम सर्वोच्च सत्ता तक पहुंच सकते हैं, जिससे अमूर्त भी मूर्त रूप धारण करता है, वह भी कर्म है। कर्म अनादि है और सृष्टि का कार्य किस प्रकार होता है, कहना कठिन है। सृष्टि के अन्त में समस्त जगत एक सूक्ष्म कार्य रूपी बीज की अवस्था में विद्यमान रहता है और अगली सृष्टि में अंकुर रूप में प्रस्फुटित रहने के लिए उद्यत रहता है।[3] वेदों तथा उपनिषदों में वैदिक कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। कर्मयोग के अनुसार यज्ञ सम्पादन को मनुष्य का परम कर्त्तव्य बताया गया है। इसे स्वर्गप्राप्ति का साधन भी कहा गया है - अश्वमेधेन यजेत स्वर्गकामी। कठोपनिषद् में नचिकेता ने नम से उस अग्नि यज्ञ के विषय में जिज्ञासा प्रकट की जिससे स्वर्गादि लोक की प्राप्ति होती है।[4] ईशावस्योपनिषद में वेदविहित निष्कामकर्म करने का उपदेश दिया गया है जिससे मनुष्य कर्म से लिप्त नहीं होता है।

कुर्वन्नवेहे कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्मिन न कर्म लिप्यते नरें।[5]

गीता के अनुसार कोई मनुष्य किसी क्षण कर्म से रहित नहीं होता है- न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत। इसकी कुंजी है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।[6]

कर्म में फल की आसक्ति न रखना कर्मयोग है। किन्तु फल की इच्छा न रखने से कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म योग में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों का समन्वय है। गीता कर्म का निषेध नहीं करती अपितु कर्म में फलाशक्ति का निषेध करती है। अज्ञान के कारण कर्म को छोड़ना तमोगुण युक्त त्याग है। परिणामों के भय से कर्मों को छोड़ना रजोगुण युक्त त्याग है। कर्म का सबसे उत्तम रूप है - अनासक्ति की भावना से और परिणाम के भय से सर्वथा रहित होकर कर्म का सम्पादन, क्योंकि इसमें सात्त्विक गुण का प्राचुर्य है।

कर्म का त्याग अनुचित है। बिना किसी पुरस्कार की आशा से जा कर्म किया जाता है वही सच्चा त्याग है। गीता के अनुसार जब हमें कोई कर्म करना ही है तो हमारा आचरण ऐसा होना चाहिए जिससे धर्म का हित हो तथा जिसका परिणाम आध्यात्मिक शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति हो। कर्म मार्ग आचरण का वह मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

गीता के अनुसार कर्म के द्वारा ही संसार के साथ सम्बन्ध स्थिर होता है। मनुष्य का महत्वाकांक्षी आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति है जिसे भौतिक तत्वों से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने तथा आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने में सत्कर्म सहायक होता है। सत्कर्म के साथ-साथ मनुष्य को उन्हीं कर्मों का सम्पादन करना चाहिए, जिससे अधिकाधिक लोगों का लाभ हो। वेदों में

सिर्फ स्वहित से सम्बन्धित कर्मों का निषेध किया गया है। गीता में इस सत्य का इने शब्दों में व्यक्त किया गया है-

'भुजते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'।[7]

अर्थात् जो अपने लिए पकाते हैं वे पाप का भक्षण करते हैं। अत: मनुष्य जाति से यह अपेक्षित है कि वे सर्व जन हिताय या सर्व जन सुखाय कर्म का सम्पादन करें। मनुष्य को संकुचित नहीं अपितु व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए - यही गीता का सन्देश है।

गीता के अनुसर निष्क्रिय रहकर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है और न ही शरीरधारी जीव नितान्त रूप से कर्म का त्याग कर सकते हैं। अत: कर्म का त्याग कर सन्यास ग्रहण करने के इच्छुक मनुष्य को गीता सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। कर्म ही संसार- चक्र की गति को जारी रखता है और प्रत्येक व्यक्ति को इस चक्र की गति को सक्रिय रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक कर्म का सम्पादन अनिवार्य है।

गीता के अनुसार हमें इस प्रकार का कर्म करना चाहिए जिससे वह हमें बन्धन में न डाल सके। ईश्वर भी मनुष्य जाति के लिए कर्म करता है। अत: अर्जुन को आदेश दिया गया है कि युद्ध करो और अपने कर्त्तव्य का पालन करो। मनुष्य मात्र की सेवा ईश्वर की उपासना है। निष्काम भाव से तथा विदेहवृत्ति से संसार एवं ईश्वर के निमित्त किया गया। कर्म बन्धन का कारण नहीं होता है।

कर्म योग ज्ञानी के लिए होता है, साधारण जनों के लिए नहीं। इसलिए यह निष्काम कर्म ज्ञान की अपेक्षा रखता है जो भगवद् प्राप्ति का एक अन्य मार्ग है। ज्ञान शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों को सुरक्षित रखता है। जब इन्द्रियों को विषयोपभोग से पृथक किया जाता है तो भी मन में भोग की लालसा बनी रहती है। यह भोग की लालसा आत्मज्ञान ने निवृत्त होती है। ज्ञान से ही परम शान्ति मिलती है। ज्ञान को गीता का पवित्रतम पदार्थ कहा गया है -

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

मोक्ष प्राप्ति हेतु ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान अनिवार्य है-

'ऋते ज्ञानात् न मुक्ति:'।

कठ तथा बृहदारण्यकोपनिषद में प्रतिपादित है कि जब मनुष्य के हृदय में स्थित समस्त कामनाओं का उन्मूलन हो जाता है तो मर्त्य का ज्ञान प्राप्त होता है जिसके द्वारा वह मोक्ष या ब्रह्म को प्राप्त करता है -

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा' येऽस्या हृदि स्थिता:'।[9]

गीता में इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहा गया है जो व्यवसायित्मका बुद्धि के द्वारा समस्त कामनाओं के नाश से सम्भव है। इस अवस्था में प्राण त्यागकर मनुष्य मोक्ष पाता है-

'प्रजहाति यदा कामनान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।''[10]

गीता दो प्रकार के ज्ञान का प्रतिपादन करती है- एक वह जो बुद्धि के द्वारा बाह्य जगत के अस्तित्व को समझाने का प्रयत्न करता है और दूसरा वह जो अर्न्तदृष्टि के बल से इन समान घटनाओं की श्रृंखला की पृष्ठभूमि में जो परमत्व है उसे ग्रहण कराता है। समस्तज्ञान ईश्वर का ज्ञान है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही अनादि अनन्त आत्मा के अन्दर वस्तुओं के एकत्व रूपी सत्य को पहचानने का प्रयत्न करते हैं। विज्ञान विषयक ज्ञान रजोगुण प्रधान है एवं आध्यात्मिक ज्ञान सत्वगुण प्रधान है।

गीता में ज्ञान तथा कर्म के साथ भक्ति को भी मोक्ष प्राप्ति का साधन बनाया गया है। उपनिषदों में उपासना का प्रतिपादन किया गया है। मन, सूर्य, चन्द्र आदि में विद्यमान पुरुष जिसे ब्रह्म माना गया है, उपासन के विषय है। उपासना उपास्य का विस्तार करती है ताकि उसके प्रति अनुराग एवं प्रशंसा का भाव समृद्ध हो। ऋग्वेद के '़द्यो' मेरे पिता है 'अदिति' मेरी माता है आदि कथनों में भक्ति भावना तथा श्रद्धा का दर्शन होता है। भक्ति का शब्द का सर्वविदित अर्थ में प्रयोग श्वेता-श्वतर उपनिषद् में हुआ हैं- 'यस्य देवे परा भक्तिः'। कठोप-निषद् में आस्था या श्रद्धा ब्रह्म प्राप्ति के लिए प्रथम आवश्यक तत्त्व कहा गया है।[11] गीता में भी कहा गया है -

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।'

भक्ति ज्ञान एवं कर्म दोनों से भिन्न भावनामयी आसक्ति का नाम है। भक्ति मार्ग किसी व्यक्ति विशेष के लिए न होकर सभी प्राणियों के लिए है। यह अत्यधिक सुगम मार्ग है। सर्वोपरि ब्रह्म के प्रति भक्ति एक शरीरधारी ईश्वर को मानने से ही सम्भव है जो मूर्तिमान व्यक्ति है और आनन्द एवं सौन्दर्य से पूर्ण है। जो अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देता है उसे ईश्वर का द्वार खुला मिलता है। जो उसके चरणों में अपने को झुका देता है उसे भगवान् कहते हैं- यह मेरा प्रतिवचन है कि वह जो मुझसे प्रेम करता है नष्ट नहीं होता है-

'कौन्ते प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।'[12]

कर्म फल का निवारण भी भगवद्-भक्ति से सम्भव है। यह कर्म विधान का अतिक्रमण नहीं है अपितु उक्त विधानानुसार भक्तिरूप कर्म का भी पुरस्कार मिलना चाहिए। कृष्ण कहते हैं यदि पापी मनुष्य भी अनन्यभाव और प्रेम के साथ मेरी भक्ति करता है तो वह भी धर्मात्मा है। भगवान् किसी के पुण्य या पाप को नहीं देखता है। वह मनुष्य का हमेशा ध्यान रखता है। इसलिए कहा गया है- मुझे न कोई प्रिय है और न अप्रिय, मेरे भक्त मुझे प्रिय है-

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः
ये भजन्ति तु मां भक्ता मयि ते तेषु चाप्यहम्।''[13]

सच्ची भक्ति गीता के अनुसार ईश्वर में विश्वास उससे प्रेम, उसके प्रति श्रद्धा एवं उसी के अन्दर प्रवेश का नाम है। वह स्वयं ही अपना पुरस्कार है। विचारों एवं पूजा की विधि में मनुष्य को स्वतंत्रता दी गई है। मनुष्य के जैसे विचार होते है वह वैसा ही हो जाता है। जिस किसी पदार्थ में उसका श्रद्धा या भक्ति होगी वही उसे प्राप्त हो जाएगा। पूजा करने वाला जिस किसी स्वरूप की पूजा श्रद्धा भक्ति के साथ करता है मैं उसी स्वरूप के प्रति उसकी भक्ति को स्थिर करता हूँ।

'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामव विदधाम्यहम्।''[15]

उसी श्रद्धा को धारण करके वह उक्त देवता की पूजा करने का प्रयत्न करता है। उसी से उसे सब उपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति होती है जो वस्तुत: मेरे द्वारा दी गई है। भक्ति के विविध प्रकार है। ईश्वर की शक्ति, ज्ञान तथा साधुता का चिन्तन भक्तिपूर्ण हृदय से निरन्तर उसका स्तरण अन्यान्य व्यक्तियों के साथ उसके गुणों के विषय में सम्भाषण अपने साथियों के साथ उसके स्तुतिपर गीतों का गायन और समस्त कर्मों को ईश्वर की सेवा के भाव से करना। यों तो भगवान् को सभी भक्त प्रिय है लेकिन ज्ञानी सबसे अधिक प्रिय है-

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं च मम प्रिय:।''[16]

आतुर, जिज्ञासु और स्वार्थवश भक्ति करने वालों के उद्देश्य तुच्छ होते हैं और जब उनकी इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो ईश्वर के प्रति प्रेम रखना छोड़ देते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष उसकी उपासना सदा ही आत्मा के पवित्र भाव से करते हैं -

''यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।''[17]

ज्ञान और भक्ति परस्पर एक दूसरे के ऊपर निर्भर हो जाते हैं। सच्ची भक्ति नि:स्वार्थ आचरण के द्वारा प्रकट होती है। गीता का आदर्श वह भक्त है जिसमें प्रेम के साथ-साथ ज्ञान का प्रकाश है और जो मनुष्य जाति के लिए कष्ट उठाने को लालायित रहता है। भक्ति गीता का हृदय है। गीता का आरम्भ भी प्रपत्ति या शरणगति से होता है।

अर्जुन कहते हैं -

'शिष्यऽस्तेऽहं शाद्धि मां त्वां प्रपन्नम्।'

गीता का अंत भी इसी से होता है -

'मामेक' शरणं व्रज'।

यह भक्ति योग ज्ञान याग और कर्म योग से अनुप्राणित है। पराभक्ति, परमज्ञान तथा निष्काम कर्म ये तीनों वस्तुत: एक ही है। तीनों का अर्थ है - निर्विकल्प, अपरोक्ष आत्मानुभूति। कर्म करके चित शुद्धि प्राप्त करके, ज्ञान निष्ठा को प्राप्त करके भी पुरुष तब तक ज्ञान को प्राप्त नहीं करता है जब तक उसमें भक्ति का उदय न हो -

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वत:।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।''[18]

निष्कर्षत: गीता कर्म, भक्ति और ज्ञान को पृथक-पृथक मार्ग न मानकर एक दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार करती है। भक्ति ज्ञान और कर्म का मोह केवल लौकिक व्यवहार में होता है। अपनी अन्तिम अवस्थ में ये सब के सब अपरोक्ष अनुभूति में 'परिणत हो जाते हैं। इन तीनों का समन्वय व्यवहारिक जीवन के लिए भी कल्याणकारी है। सच्चा कर्मयोगी भक्तिभाव से युक्त होकर सफलता-पूर्वक जीवन जीता है। वह अपने सभी कर्मों का कृष्णार्पण भाव से सम्पन्न करते हुए सभी प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व का दर्शन करता है।

संदर्भ सूची-

1. *श्री मद्भगवद्गीता* 2/50
2. *वही* 2/48
3. *गीता सौरभम्*-विनोदकुमार शर्मा पृ॰-24
4. *कठोपनिषद्* 1/18
5. *ईशावस्योपनिषद्* 1/2
6. *श्री मद्भगवद्गीता* 2/17
7. वही 3.13
8. वही 18.16
9. कठ 6.14
10. वृहा 4.4.7
11. गीता 2.55
12. *कठोपनिषद्* 6.13
13. गीता 9.31
14. वही 9.29
15. वही 18.65
16. वही 7.21
17. वही 7.17
18. वही 18.5
19. वही 18.55

संस्कृत

द्वैत वेदान्त दर्शन

आशुतोष कुमार

शोधछात्र, दिल्ली विश्वविद्यालय

दृष्टिरेव दर्शनम् अर्थात् देखना। **दृश्यतेऽनेनेति** अर्थात् देखने का साधन। साधन से तात्पर्य है - **दृश्यते प्रेक्ष्यते ज्ञायते अनेन इति दर्शनम्** अर्थात् जिसके माध्यम से तत्त्वों का साक्षात्कार हो, वह दर्शन है।[1] विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय या सिद्धान्त ही वे साधन हैं। समस्त भारतीय दर्शन सम्प्रदायों को दो वर्गों[2] में बाँटा गया है -

आस्तिक एवं नास्तिक[3]। आस्तिक सम्प्रदाय - सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) हैं और नास्तिक सम्प्रदाय से अभिप्राय है- चार्वाक, बौद्ध एवं जैन।

भारतीय दर्शन में वेदान्त दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त में उपनिषत्प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। **'वेदानां अन्तः इति वेदान्तः'** इस व्युत्पत्ति से 'वेदान्त' शब्द का व्यवहार मुख्य रूप से वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों के लिए होता है। वेद के अन्त अर्थात् चरमोत्कर्ष एवं प्रमाण रूप होने से ही यह वेदान्त है। **वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च**[4] के अनुसार ब्रह्मविद्या अथवा प्रमाणरूप उपनिषद् ही वेदान्त है, उनके उपकारक अर्थात् अर्थ का अनुवर्तन करने वाले शारीरक सूत्रादि ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता आदि भी उपचार से वेदान्त है। इन्हें प्रस्थानत्रयी भी कहा जाता है। **वेदान्त** के गूढ रहस्यों को सुलझाने हेतु प्रस्थानत्रयी पर अनेक भाष्यकारों ने भाष्य लिखे, जिसके फलस्वरूप **वेदान्त दर्शन** के अनेक सिद्धान्त विकसित हुए। इनमें प्रमुख पाँच सिद्धान्त इस प्रकार है - आचार्य शङ्कर का अद्वैतवाद (नॉन डुअलिज़्म), आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद (क्वालीफाइड मोनीज़्म), आचार्य मध्व का द्वैत (डुअलिज़्म), आचार्य निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद (डुअलिज़्म कम नॉन डुअलिज़्म) एवं आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत (प्योर नॉन डुअलिज़्म)।

उपरोक्त वर्णित वेदान्त सम्प्रदायों में शोध विषय होने के कारण द्वैतवाद अथवा द्वैत वेदान्त का सारांशात्मक विवरण देना आवश्यक है। जो इस प्रकार है -

I. द्वैत वेदान्त सम्प्रदाय

मध्वाचार्य दक्षिणात्य द्वैत वेदान्त थे। इन्हें ही **द्वैत वेदान्त सम्प्रदाय** का संस्थापक माना जाता है। इनका सम्प्रदाय 'ब्रह्म सम्प्रदाय' के नाम से भी जाना जाता है। यह सम्प्रदाय भेदवादी, ईश्वरवादी एवं यथार्थवादी दर्शन है। मध्वाचार्य (1238-1317 ई०)[5] का जन्म दक्षिण भारत में शृंगेरी से पश्चिम कनारा जिले के उडुपि (उडिपी) के समीप रजतपीठ नामक स्थान के पाजक नामक ग्राम में एक

ब्राह्मण के घर हुआ था। इनके पिता का नाम मध्यगेह भट्ट था। इनके गुरु का नाम अच्युत प्रेक्ष्य था। व्यावहारिक पक्ष में द्वैत वेदान्त सम्प्रदाय भक्तिवादी है तथा आध्यात्मिक पक्ष में वह भेदवादी या द्वैतवादी है।

सुब्बानाचार की माने तो द्वैत केवल भेद मात्र नहीं है, वह दो स्वतंत्र तत्त्वों को निर्देश करने का माध्यम है, वह स्वतंत्र और परतंत्र तत्त्व के मध्य की विलक्षणता है, सर्वोत्तम (सर्वकारण) तत्त्व का कार्य मात्र है। जिस प्रकार स्वतंत्र विष्णु द्वैत की प्रवृत्ति और स्थिति का कारण है।[6] मध्व सिद्धान्त की परम्परा में इसे ब्रह्ममीमांसा, ब्रह्मवाद, विष्णुशास्त्र, सरशास्त्र और वैष्णव सिद्धान्त भी कहते है। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थों की संख्या सैंतीस मानी जाती है। उनमें प्रस्थानत्रयी का भाष्य, भागवततात्पर्यनिर्णय, महाभारततात्पर्यनिर्णय, विष्णुतत्त्वविनिर्णय, मायावाद खण्डन, उपाधिखण्डन, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान, कर्मनिर्णय तथा तत्त्वोद्योत आदि प्रमुख ग्रन्थ है।

द्वैत वेदान्त की आचार्य परम्परा

मध्वाचार्य के पश्चात् द्वैत वेदान्त परम्परा में अनेक प्रतिभाशाली आचार्य हुए है, जिनमें कतिपय प्रसिद्ध आचार्यों का कालक्रम[7] संहित संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय इस प्रकार है –

1. पद्मनाभ तीर्थ (1318–24 ई०) – द्वैत-वेदान्त परम्परा में पद्मनाभ तीर्थ का नाम मध्वाचार्य कृत भाष्य पर प्रथम टीकाकार के रूप में स्मरणीय है। मध्व विजय के अनुसार यह गोदावरी तट के उत्तरी कर्नाटक के निवासी थे।[8]

इनकी विद्वता के कारण ही, इनके लगभग 'पन्द्रह' हस्तलिखित ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। जयतीर्थ की विद्वता, प्रक्रिया और स्वरूप दोनों की दृष्टि से पद्मनाभ तीर्थ की ऋणी है।[9] मध्व के दसों प्रकरण ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीता भाष्य इत्यादि पर इनकी टीकाएँ है, किन्तु इनके प्रकाशित ग्रन्थों की सूची नगण्य ही है। इसका कारण जयतीर्थ की प्रसिद्धि ही है।

2. नरहरि तीर्थ (1324–1333 ई०) – नरहरि तीर्थ संभवत: आन्ध्र अथवा उड़ीसा निवासी थे। मध्व विजय में नरहरि का नामश: उल्लेख न होने पर भी श्रीकुरम् तथा अन्य स्थलों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि नरहरि भी मध्व के प्रत्यक्ष शिष्य थे, किन्तु उनके जीवन वृत्त के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। नरहरि तीर्थ के अनेक ग्रन्थों के उल्लेख मिलते है, किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ गीताभाष्य की भावप्रकाशिका टीका है, जो अनेक स्थलों से खण्डित है।

3. अक्षोभ्य तीर्थ (1350–1365 ई०) – अक्षोभ्य तीर्थ आचार्य मध्व के प्रत्यक्ष शिष्यों में अन्तिम थे, जो पीठाधिपति के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इनका पूर्व नाम गोविन्द शास्त्री था। द्वैत परम्परा की अनुश्रुति के अनुसार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विचारक एवं लेखक विद्यारण्य (1302–87 ई०) के साथ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यार्थ पर विवाद हुआ था। सम्प्रदाय में प्रचलित श्रुति 'असिना तत्त्वमसिना परजीवप्रभेदिना। विद्यारण्यमहारण्यमक्षेभ्य –मुनिरच्छिनत्।।' इसका समर्थन करती है।

बी०एन०के० शर्मा के अनुसार यह द्वैत वेदान्त के प्राचीन टीकाकारों में से एक है।[10] किन्तु द्वैत वेदान्त परम्परा को इनका अमूल्य उपहार तो जयतीर्थ जैसा सदादर्श शिष्य एवं मठाधिपति देना ही महनीय कार्य रहा, जिसने द्वैत वेदान्त चिन्तन को एक नया आयाम दिया है।

4. जयतीर्थ (1365-1388 ई०) - उपरोक्त कतिपय प्राचीन टीकाकारों के पश्चात् जयतीर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जयतीर्थ के मूल स्थान के विषय में पर्याप्त मतभेद है। गुरुचर्या के अनुसार वह वृष्टिखेट ग्राम के निवासी थे।[11] इनके पिता का नाम रघुनाथ था। इनकी विद्वता के विषय में एस.एन. दास के शब्द इस प्रकार हैं - "जयतीर्थ द्वारा प्रदर्शित प्रखर द्वन्द्वात्मक तर्क कौशल भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में अप्रतिम है।"[12] इन्होंने पूर्व आचार्यों के ग्रन्थों को नितान्त श्रद्धा के साथ आत्मसात करके, अत्यधिक प्रौढ़ता एवं विद्वता के साथ ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन्हें टीकाचार्य के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त है। द्वैत वेदान्त में इनका स्थान व्याकरण क्षेत्र के महाभाष्यकार पतञ्जलि के समतुल्य माना जाता है।

जयतीर्थ ने मध्वाचार्य के प्राय: सभी ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। जयतीर्थ कृत टीकाओं पर भी अनेक विद्वानों ने टीकाऐं लिखी हैं। वादावली एवं प्रमाणपद्धति ये दो स्वतंत्र ग्रन्थ भी जयतीर्थ द्वारा रचित है। जयतीर्थ कृत प्रमाणपद्धति द्वैत वेदान्त का एक प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें मुख्यत: द्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में ही यह कहा गया है कि अल्पज्ञ नवच्छात्र का द्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों से परिचय कराने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई है। प्रमाणपद्धति में सविस्तार और मुख्यतया से प्रमाण मीमांसा का ही विवेचन किया गया है। जिसके अन्तर्गत प्रमाण लक्षण, प्रमाण भेद, यथार्थ-अयथार्थ ज्ञान का स्वरूप, संशय का स्वरूप, तर्क का स्वरूप, अनुमान दोष निरूपण की आवश्यकता, आगम प्रमाण की आवश्यकता, शब्द स्वरूप, शब्द-वाक्य दोष, वाक्यार्थ प्रतीति, उपमान अर्थापत्ति का अन्तर्भाव इत्यादि तथ्यों का विश्लेषणात्मक निरूपण प्राप्त होता है। प्रमाणपद्धति तीन अध्यायों में विभक्त है- प्रत्यक्ष, अनुमान, एवं आगम परिच्छेद। उपर्युक्त तथ्यों का तत्सम्बद्ध अध्यायों में विवेचन किया गया है। प्रमाणपद्धति में न्याय मत और मीमांसक मत का निरन्तर उल्लेख प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन प्रमाणशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जिसमें भारतीय दर्शन सम्मत प्रमाण और द्वैत वेदान्त सम्मत प्रमाण का विश्लेषण किया गया है।

प्रमाणपद्धति की टीकाएँ - प्रमाणपद्धति द्वैत वेदान्त सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण, संक्षिप्त और सरल सुबोध शैली में लिखा गया प्रकरण ग्रन्थ है। जिसकी उपादेयता को समझते हुए परवर्ती अनेक विद्वानों ने प्रमाणपद्धति पर अपनी-अपनी टीकाऐं लिखी हैं। प्रत्यक्षत: प्रकाशित रूप में इनकी संख्या आठ है। इन टीकाओं और टीकाकारों के नाम इस प्रकार है -

1. विजयीन्द्रतीर्थ टीका - विजयीन्द्रतीर्थ (1514-1595 ई0),
2. वेदेशतीर्थ टीका - वेदेशतीर्थ (1570-1620 ई0),
3. श्रीनिवासतीर्थ टीका - श्रीनिवासाचार्य (1590-1640 ई0),
4. राघवेन्द्रतीर्थ टीका - राघवेन्द्रतीर्थ (1623-1671 ई0),
5. अभिनवामृत टीका - विजयीन्द्रतीर्थ (1648-1674 ई0),
6. जनार्दन टीका - जनार्दन भट्ट (17वीं शताब्दी),
7. विट्ठल टीका - विट्ठल भट्ट (18वीं शताब्दी),
8. आदर्श टीका - नरसिम्हा (19वीं शताब्दी).

उपर्युक्त आठ टीकायें प्रमाणपद्धति के अध्ययन और विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण एवं सहायक है। इनका योगदान किसी भी दृष्टि से उपादेय है- यह टीकायें ग्रन्थ के वक्तव्य को सरल और सुबोध शैली में समझाती है एवं अन्य सम्प्रदायो के प्रामाणिक तथ्यों को उद्धृत करते हुए तथ्यों का निरूपण करती है। यह कतिपय स्थलों पर परिभाषाओं का पदकृत्य अर्थ भी स्पष्ट करती है। यह टीकायें द्वैत वेदान्त के अन्य ग्रन्थ अनुव्याख्या, न्यायसुधा, तर्कताण्डव इत्यादि के उद्धरण भी प्रस्तुत करती है। यह टीकायें और ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विषय प्रतिपादन के समय द्वैत वेदान्त से भिन्न यथा - बौद्ध, मीमांसा, न्याय-वैशेषिक इत्यादि सम्प्रदायों के मतों को प्रस्तुत करके उनका खण्डन भी किया है। परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ तुलनात्मक और आलोचनात्मक रूप को उद्घाटित करता है। प्रमाणपद्धति की भाषा सरल, सुबोध, संक्षिप्त और वैज्ञानिक है। ये द्वैत वेदान्त के दुरूह विषय को इतनी बोधगम्य रीति से समझाता है कि ज्ञाता अथवा श्रोता को काठिन्य का अनुभव नहीं होता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ नवच्छात्र और विद्वद्जन दोनों के लिए ही अत्यधिक उपादेय सिद्ध होता है ।

5. व्यासतीर्थ (1478-1539 ई०) - सोमनाथ कृत व्यासयोगिचरित से व्यासतीर्थ के जीवनवृत्त का पूर्ण एवं विश्वसनीय चित्र अङ्कित हो जाता है। जयतीर्थ द्वारा प्रारम्भ परम्परा को पल्लवित एवं पुष्पित अत्यन्त विद्वत्ता से व्यासतीर्थ ने ही किया है। व्यासतीर्थ ने न्यायामृत, तात्पर्यचंद्रिका, तर्कताण्डव, मायावादखण्डनमंदारमंजरी, उपाधिखण्डनमंदारमंजरी, तत्त्वविवेक मंदारमंजरी, भेदोज्जीवन इत्यादि ग्रन्थों की रचना की है।[13]

6. विजयीन्द्रतीर्थ (1514-1595 ई०) - व्यासतीर्थ के पश्चात् द्वैत वेदान्त के रक्षक की भूमिका उनके प्रिय शिष्य विजयीन्द्रतीर्थ के कंधों पर पूर्णतः आ गई, जिसका निर्वाह उन्होंने विद्वत्ता से पूर्णरूपेण किया। इनका अधिकांश समय कुंभकोनम में व्यतीत हुआ। ये अद्वैत मत के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पय दीक्षित के समकालीन थे।

मध्व के दसों प्रकरणों के टीकाकार होने पर भी उपलब्ध टीका में केवल तत्त्वोद्योत एवं तत्त्वसंख्यान टिप्पणी ही प्राप्य है।

इनके मध्वनयमंजरी पर लघुआमोद, प्रमाणपद्धतिव्याख्या, अधिकरणमाला, चंद्रिकोदाहृतन्यविवरणम्, चक्रमीमांसा, न्यायमुकुर, न्याससंग्रह, भेदविद्याविलास अद्वैतशिक्षा इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राप्य हैं।[14]

7. वादिराजतीर्थ (1480-1600 ई०) - व्यासतीर्थ के प्रत्यक्ष शिष्य वादिराजतीर्थ तुलु (शिवाल्ली) ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रामाचार्य था।

वादिराज द्वारा रचित ग्रन्थों की लम्बी शृंखला सुनी जाती है। जिनमें कतिपय प्रसिद्ध रचनाएँ भी हैं- दश प्रकरणों पर टीका, एकोनपंचपादिका, विवरणव्रणम्, पाष्णडखण्डनम्, युक्तिमल्लिका, न्यायरत्नावली, मध्व वाग्वज्रवाली, वृन्दावनाख्यान श्रुतितत्त्वप्रकाश, कल्पलता, तीर्थप्रबन्ध, त्रिविक्रमस्तोत्र, कृष्णस्तुति, प्रश्नावली इत्यादि।[15]

8. सत्यनाथयति (1648-1674 ई०) - सत्यनाथ द्वारा बारह ग्रन्थों की रचना मानी जाती है। उसमें आठ हस्तलिखित ग्रन्थ रूप में प्राप्य है। खण्डनत्रयकर्मनिर्णय पर कर्मप्रकाशिका, मायावादखण्डन पर परशु, अभिनवचंद्रिका, ऋग्भाष्यटिप्पणी, अभिनवामृत, अभिनवतर्कताण्डव, विजयमाला, अप्पयदीक्षित के विरोध में लिखी टीका अभिनव गदा[16] इत्यादि सत्यनाथयति रचित ग्रन्थ है।[17]

9. वनमाली मिश्र (1650-1720 ई०) - सत्रहवीं शताब्दी में ब्राह्मण कुलावतंश मथुरा क्षेत्र में वनमाली मिश्र का जन्म हुआ। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों[18] में तरंगिनी सौरभ, न्यायामृत सौंगध, चण्डमारुत, प्रमाणसंग्रह, अभिनवपरिमल, वेदान्त सिद्धान्तमुक्तावली, भक्तिरत्नाकर मध्वमुखलंकार, जीवेश्वराभेदधिक्कार, अद्वैतसिद्धिखण्डन आदि प्रमुख है।

II. द्वैत वेदान्त के तत्त्वत्रय

द्वैत वेदान्त परम्परा के अनेक लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्यों तथा शताधिक ग्रन्थों के पश्चात् भी आचार्य मध्व का द्वैतवाद अप्रचलित रहा। इसके कारण - आचार्य मध्व का उग्र द्वैतवादी स्वभाव, आचार्य की अस्पष्ट शब्दावली एवं आचार्य शङ्कर का कट्टर विरोधी होना माने जा सकते हैं ।

शङ्कराचार्य के सिद्धान्त मायावाद का आविर्भाव और विस्तार इतना गहरा एवं प्रभावशाली था कि 'वेदान्त' शब्द अद्वैतवाद में रूढ़ हो गया। दासगुप्त के शब्दों से भी यह तथ्य दृष्टिगोचर हो रहा है कि "शङ्कर द्वारा प्रस्थापित दर्शन का प्रभाव इतना व्यापक है। कि जब भी वेदान्त-दर्शन की चर्चा करते है, तो हमारा तात्पर्य उस दर्शन से होता है जो शंकर द्वारा मंडित किया गया है।"[19] यद्यपि अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के समान मध्वाचार्य का ब्रह्म सिद्धान्त भी आचार्य शङ्कर के विरोध में सविशेष, ब्रह्मवाद, जगत्सत्यत्व, भक्तिवादादि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, तथापि कतिपय अंशों में वेदान्त परम्परा से हटकर आत्यन्तिक भेदवाद या द्वैतवाद का समर्थन भी करता है। आचार्य मध्व अनेक विषयों में रामानुज के यथार्थ सत्ता सम्बन्धी विचार से सहमत प्रतीत होते है यथा - तीन नित्य तत्व हैं, क्योंकि इनकी प्रतीति होती हैं जो मूलत: अन्यों से भिन्न है- ईश्वर, जीव और जगत्। इन तीनों तत्त्व के दो वर्ग है - स्वतंत्र एवं परतंत्र।[20] इनमें ईश्वर (विष्णु) स्वतंत्र या स्वाश्रित तत्त्व है। वह स्वरूप, प्रवृत्ति और सत्ता की दृष्टि से पूर्णत: स्वतंत्र है एवं अन्य परतंत्र अथवा पराश्रित है।

ईश्वर अन्तर्यामी है। वह जीव को नियंत्रित करता है। जीव अणु निर्मित है। इस आधार पर तीन प्रकार का है - नित्य, मुक्त और बद्ध। इस तथ्य पर दोनों आचार्य ऐकमत्य हैं, किन्तु उनमें कतिपय भेद है[21]-

1. रामानुज मत में जीवात्मा अपने स्वाभाविक रूप में एक हैं, किन्तु मध्व के अनुसार उनमें भेद है।
2. मध्व ब्रह्म को उपादान कारण नहीं मानते, किन्तु रामानुज मानते हैं।
3. रामानुज ब्रह्म के अवतार के मानने के पश्चात्, अवतारों में ईश्वर के न्यून गुणों का आविर्भाव मानते है, जबकि मध्व अवतारों को ईश्वर के समान गुणों से युक्त स्वीकार करते है।

मध्व परमसत्ता में भेद मानते हैं। वे प्रत्यक्ष एवं श्रुति का आश्रय लेकर ईश्वर, जीव एवं जड़ तत्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित पञ्च भेद[22] स्वीकार करते हैं-

1. ब्रह्म (ईश्वर) का जीव से भेद
2. ब्रह्म का जड़ पदार्थ से भेद
3. जीव का जीव से भेद

4. जीव का जड़ पदार्थ से भेद
5. जड़ पदार्थ का जड़ पदार्थ से भेद

इसके अतिरिक्त मध्व जीव और ब्रह्म में भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए "तत्त्वमसि" की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं - आत्मा अतत् त्वम् असि अर्थात् तुम वही (ब्रह्म) नहीं हो, अतः जीव और ब्रह्म का ऐक्य नहीं है।

1. ईश्वर (ब्रह्म) - विष्णु ही ब्रह्म है (स विष्णुराह हि तं ब्रह्मोत्याचक्षते)। परमात्मा अनन्त गुणों से परिपूर्ण है अर्थात् वे सर्वज्ञ हैं। शरीरी होने पर भी परमात्मा नित्य और स्वतंत्र है। वह नित्य, चित्, सर्वव्यापी, सर्वद्रष्टा, समस्त शक्तियों से पूर्ण और जीव-जगत् से पूर्णतः भिन्न हैं। मध्वाचार्य के ईश्वर के आठ कार्य है[23] - सृष्टि, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष' - सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानावरणबन्धमोक्षाः (ब्रह्मसूत्रभाष्य मध्व)।

2. जीव - जीव अनेक हैं, अणुपरिमाण हैं, कर्म और प्राकृत शरीर जन्म बन्धन के कारण संसरणशील हैं। जीव कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है, किन्तु जीव का नियन्ता ईश्वर ही है। वह निरवयव और अनादि है। यद्यपि आत्मा ईश्वर पर आश्रित है, तथापि वह स्वतंत्र कर्त्ता है, क्योंकि भले बुरे कर्म वह स्वयं करता है। एक पाप-पुण्य स्वयं अर्जित करता है और तदनुरूप फल पाता है। जीव की दो उपाधियाँ होती है- स्वारूपोपाधि और ब्राह्य उपाधि। ब्राह्य उपाधि अधिक नित्य है, इसलिए जीव अविनाशी होती है-

जीवोपाधि द्विधा प्रोक्तं स्वरूप ब्राह्य एव च।
ब्राह्योपाधितयं याति मुक्तावन्यस्य तु स्थिति।।
तथोपाधेश्च नित्यत्वान्नैव जीवो विनश्यति।।

मध्व के अनुसार जीव के तीन भेद है[24] - मुक्ति योग्य, तमोयोग्य और नित्य संसारी। इनमें नित्य संसारी तथा तमोयोग्य मुक्ति के अधिकारी नहीं होते है।

3. जगत् - मध्वाचार्य के अनुसार 'जगत्' की सत्ता ब्रह्म की सत्ता के समान ही पारमार्थिक है। यह जगत् ब्रह्म के समान सत्य है तथा सृष्टि की प्रक्रिया ईश्वरेच्छा के कारण प्रकृति से (जो उसका उपादान कारण है) उत्पन्न होती है । जगत् की सृष्टि में एकमात्र ईश्वरेच्छा को ही प्रमुख कारण माना गया है । यद्यपि ईश्वर आप्तकाम है और उनमें किसी प्रकार के फल की इच्छा नहीं होती तथापि वे अपनी लीला से वशीभूत होकर जगत् की सृष्टि करते है ।

द्वैत वेदान्त में जगत् की सत्यता के पक्ष में जो सबसे प्रबल तर्क दिया जाता है, उसका आधार 'अनुभव' है । प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा अनुभव के द्वारा हमें जगत् की सत्यता का ज्ञान होता है ।

III. द्वैत वेदान्त की ज्ञान मीमांसा और पदार्थ मीमांसा

1. ज्ञान-मीमांसा - मध्व, रामानुज के अनुसार ही प्रमाण-त्रय को स्वीकार करते हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।[25] प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण स्वयं विश्व की समस्या को हल करने में हमारे सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष की पहुँच उन्हीं तत्त्वों तक है, जो इन्द्रियगोचर है और अनुमान हमें कोई नवीन तथ्य नहीं दे सकता, अतः आगम की प्रधानता है, क्योंकि नारायण, विष्णु, ईश्वरादि आगम प्रमाणगम्य है। मध्व ने वेद को अपौरूषेय माना है और उसका उपदेशक ईश्वर को कहा है।

मध्व इसके अतिरिक्त केवल प्रमाण[26] को भी माना है। जयतीर्थ के अनुसार 'यथार्थज्ञान' केवलप्रमाण है।[27] यथावस्थित वस्तु का उसी रूप में ज्ञान केवलप्रमाण है। ईश्वर, लक्ष्मी, योगिजन इत्यादि को ज्ञान की प्राप्ति के लिए किसी प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती है। उन्हें वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान जिज्ञासा या दर्शन मात्र से ही हो जाता है। 'यथार्थ' पद के द्वारा संशयादि अयथार्थज्ञान का निरास किया गया हैं।[28] यथार्थज्ञान कहने से प्रत्यक्ष में केवलप्रमाण का लक्षण घटित नहीं हो सकता है। भाव अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण यह लिङ्ग ज्ञान (अनुमान) एवं वाक्य ज्ञान (आगम) से अनुप्रमाण में भी अतिव्याप्त नहीं होता है। अत: यह प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञेय विषय का कारण होने से केवल प्रमाण कहलाता है।[29] द्वैत वेदान्तानुसार केवलप्रमाण चार प्रकार का होता है – ईश्वरज्ञान, लक्ष्मीज्ञान, योगिज्ञान एवं अयोगिज्ञान।[30] प्रमाणचंद्रिका में भी इसी स्वरूप का अनुकरण किया गया है।[31] इन चार भेदों को मानने का मुख्य उद्देश्य भी अपने द्वैत वेदान्ती सिद्धान्त अर्थात् भेदवादी दृष्टिकोण को परिपुष्ट करना है कि तत्त्व द्विविध होते हैं- एक स्वतन्त्र और दूसरा परतन्त्र।

प्रमाण के द्विविध 'प्रमा ज्ञान' और 'प्रमा ज्ञान के साधन' अर्थों को प्रदर्शित करने एवं अपने भेदवादी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए केवल प्रमाण और अनुप्रमाण भेदों का निरूपण किया गया है।

1. ईश्वर ज्ञान – यह ज्ञान सदैव स्वतंत्र रहता है तथा स्वरूपत: ईश्वर पर ही आश्रित रहता है। ईश्वर ज्ञान की स्वतंत्रता उनके ज्ञान को लक्ष्यादि ज्ञान से भिन्न प्रदर्शित करती है। ईश्वर ज्ञान उस प्रकार का ज्ञान है जो 'स्व' एवं 'परगत' सर्वार्थ (सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त) होता है।[32] यह ज्ञान ईश्वर स्वरूपभूत अथवा स्वभाव से अनादि एवं नित्य होता है[33] एवं अतिशय रूप में स्पष्ट है।

2. लक्ष्मी ज्ञान – यह ज्ञान केवल ईश्वर ज्ञान पर ही आश्रित होता है। इस कारण ही ईश्वर ज्ञान की अपेक्षा यह न्यून होता है।[34] यह ज्ञान भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष होता है, जो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में व्याप्त होता है। स्वभावत: यह ज्ञान यथार्थ होता है एवं ईश्वर ज्ञान के समान ही, स्वरूपभूत होने के कारण अनादि एवं नित्य होता है।[35]

3. योगिज्ञान – 'ध्यानादि योग के प्रभाव से योगियों को जो अतिशय ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह योगि ज्ञान है'।[36] प्रमाणपद्धति में योगिज्ञान त्रिविध कहा गया है- ऋजुयोगिज्ञान, तात्त्विकयोगिज्ञान एवं अतात्त्विकयोगिज्ञान[37]।

ऋजुयोगि वे जीव है, जो ब्रह्मत्व के योग्य होते हैं।[38] ईश्वर से अन्यत्र सभी विषयों का आलोचनात्मक ज्ञान इन योगियों को होता है। ऋजुयोगिज्ञान भी स्वरूप एवं मनोवृत्ति रूप से द्विविध होता है।[39] योगियों का स्वरूपज्ञान सदैव अनादि एवं नित्य होता है। किन्तु उनका मनोवृत्त्यात्मक ज्ञान प्रभाव रूप से अनादि होता है एवं योग से अनुगृहित प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है।[40] दोनों ही ज्ञान नियम से यथार्थ है। ईश्वर में तो अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक विषयों का ज्ञान होता है। तत्त्वाभिमानी देव तात्विक योगियों की श्रेणी में आते हैं।[41]इन्हें जो तत्व ज्ञान होता है, उसके साथ इन्हें तत्त्वज्ञान का अभिमान भी होता है। ऋजुयोगि इनके विपरीत स्वभावत: अभिमान से निर्लिप्त होते हैं। इनका ज्ञान भी अनादि है, किन्तु ऋजुयोगि के समान इनका ज्ञान सर्वविषयात्मक नहीं होता है। इसके भी स्वरूप एवं बाह्यज्ञान प्रकारक द्विविध भेद हैं। प्रथम स्वरूप पूर्व सदृश ही अनादि एवं स्वरूप से यथार्थ होता है। द्वितीय बाह्य में कदाचित् अयथार्थ हो सकते हैं।[42]

इसके अतिरिक्त देवता, ऋषि योगि आदि अतात्विकयोगि है।[43] इनका ज्ञान अनादि नहीं अपितु आदि है। इनका ज्ञान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में अल्प ज्ञान युक्त भी होता है अथवा अज्ञान से युक्त होता है। इनका ज्ञान पूर्ववत् द्विविध प्रकारक ही होता है - स्वरूप एवं बाह्य।

4. अयोगिज्ञान - उपर्युक्त योगियों से व्यतिरिक्त जीव अयोगि ज्ञान स्वरूप है।[44]इन जीवों के ज्ञान में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान अज्ञान से परिपूर्ण होते है। इन लौकिक जीवों का ज्ञान पूर्ववत् द्विविध उत्पत्ति एवं विनाश से युक्त होता है। क्योंकि इनका ज्ञान अनादि एवं नित्य नहीं है। अयोगिज्ञान भी त्रिविध प्रकार का होता है - मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी एवं तमोयोग्य।[45]

मुक्तियोग्य जीवों का स्वरूपज्ञान सदैव यथार्थ होता है। नित्यसंसारी जीवों का ज्ञान मिश्र अर्थात् यथार्थ एवं अयथार्थ दोनों ही प्रकार का हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य तमोयोग्य जीव का ज्ञान अयथार्थ ही होता है। इन तीनों प्रकार के जीवों का बाह्य ज्ञान उपर्युक्त प्रकार से यथार्थ, मिश्र एवं अयथार्थ ही होता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी यथार्थज्ञान चतुर्विध प्रकार का होता है - इन्द्रियज, लिङ्गज, स्मृति, एवं आर्ष।[46] सम्भवत: द्वैत वेदान्त को इस प्रकार के विभाजन की प्रेरणा वैशेषिक दर्शन से ही प्राप्त हुई है।

द्वैत वेदान्त प्रतिपादित अनुप्रमाण और उसके भेद

यथार्थज्ञान साधन अर्थात् ज्ञेय (प्रमेय) की यथावस्थित उपलब्धि के साधन अनुप्रमाण का निरूपण करते है।[47] ज्ञेय के अनुरूप ही ज्ञान का प्रकटीकरण करना यथार्थ ज्ञान है, इसी यथार्थज्ञान का करण (साधन) अनुप्रमाण है। ग्रन्थकार के अनुसार उपर्युक्त लक्षण के पदों का प्रयोग समीचीन है, इसके पक्ष में तर्क देते हुए कहते हैं, यदि अनुप्रमाण का लक्षण केवल 'यथार्थ' पद द्वारा दिया जाता तो यह उक्त केवल प्रमाण में अतिव्याप्त हो जाता। यदि ज्ञान कहकर करते तो यह संशयादि एवं प्रत्यक्षादि में अव्याप्त हो जाता। यदि केवल 'साधन' कहते तो कुठारादि साधन में अतिव्याप्त हो जाता। यदि 'यथार्थज्ञान' कहते तब भी केवल प्रमाण में अतिव्याप्त होता। यदि 'यथार्थ साधन' रूप में देते तो यह प्रत्यक्षसाधन में अतिव्याप्त हो जाता। ज्ञान साधन कहने से संशयादि साधन में अतिव्याप्त हो जाने और यथार्थज्ञान कारण से प्रमाता में अतिव्याप्त हो जाता है। इसलिए अनुप्रमाण लक्षण में प्रयुक्त सभी पद सार्थक है। यथार्थ ज्ञान के साधन को अनुप्रमाण कहते हैं। द्वैत वेदान्त के अनुसार यह तीन प्रकार का होता है- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम।[48] इनका विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से पूर्व यहाँ इसका संक्षिप्त निरूपण करना श्रेयस्कर रहेगा -

1. प्रत्यक्ष प्रमाण - निर्दोष इन्द्रियों से वस्तु के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।[49] यह इन्द्रिय भेद से सप्तविध होता है- साक्षीन्द्रिय, मन, नेत्र, त्वक्, रसना, श्रोत एवं घ्राण। इनमें प्रमाता का स्वरूपेन्द्रिय ही साक्षी कहलाता है। प्रत्यक्ष मुख्यत: चार प्रकार का होता है- ईश्वरप्रत्यक्ष, लक्ष्मीप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष एवं अयोगिप्रत्यक्ष।[50]

2. अनुमान प्रमाण - अनुमान प्रमाण का लक्षण है- 'निर्दोष उपपत्तिरनुमानम्'[51]अर्थात् व्याप्ति के स्मरण के साथ-साथ लिङ्ग या हेतु या व्याप्य का देश काल में सम्यक् ज्ञान से साध्य, अनुमेय पदार्थ के ज्ञान का साधन अनुमान कहलाता है। अनुमान के दो मुख्य अङ्ग है- व्याप्ति एवं पक्षधर्मता। जयतीर्थ के अनुसार प्रमाणपद्धति में अनुमान के चतुर्विध विभिन्न भेद दृष्टिगोचर होते है-

3.1 कार्यानुमान, कारणानुमान एवं अकार्यकारणानुमान।[52]

3.2 दृष्ट एवं सामान्यतोदृष्ट।[53]

3.3 साधनानुमान एवं दूषणानुमान।[54]

3.4 स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान।[55]

3. आगम प्रमाण - इसका लक्षण है - 'निर्दोषः शब्दः वाक्यमिति वा आगमः' निर्दोष (निर्दुष्ट) शब्द अथवा वाक्य आगम कहलाता है।[56] शब्द और वाक्य में सप्तविध दोष हो सकते हैं - अबोधकता, विपरीतबोधकता, ज्ञातज्ञापकता, अप्रयोजनवत्ता, अनभिमतप्रयोजनवत्ता, अशक्यसाधनप्रतिपादकता एवं गौरव। इन दोषों से रहित शब्द ही आगम कहलाता है।[57] आगम द्विविध हैं- अपौरुषेय अथवा नित्य एवं पौरुषेय अथवा अनित्य।[58]

2. पदार्थ-मीमांसा - मध्व के अनुसार 'प्रमेयत्व'[59] पदार्थ का सामान्य लक्षण है। जो पदार्थ है वह निश्चय रूप से प्रमेय अर्थात् प्रमा का विषय है। मध्व न्याय-वैशेषिक के प्रथम पाँच और अभाव के अतिरिक्त चार और पदार्थों का मानता है, जो इस प्रकार - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशि, शक्ति, सादृश्य एवं अभाव।[60]

2.1 द्रव्य - 'उपादानकारणत्वं वा द्रव्यम्'[61]- अर्थात् उपादानकारणत्वं को द्रव्य के रूप में ग्रहण किया गया है। मध्व के अनुसार द्रव्यों की संख्या 20 है जो इस प्रकार है - परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, त्रिगुण, महत्, अहंकार, बुद्धि, मनस्, तन्मात्र, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब।

2.2 गुण - गुण द्रव्य के आश्रित होते है। मध्व दर्शन ने वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, तितिक्षा, सौन्दर्य, गाम्भीर्य, शौर्य, ओदार्य और गुणों की गणना की है। वस्तुतः गुणों की संख्या अनन्त है।

2.3 कर्म - यह न तो द्रव्य है और न गुण, अपितु दोनो से भिन्न है। कर्म को पाप और पुण्य का असाधारण कारण कहा गया है - 'साक्षात्परम्पत्या वा पुण्यपापासाधारणकारणम् कर्मेति कर्मसामान्यलक्षणम्'[62] मध्व के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते है- विहित, निषिद्ध एवं उदासीन। वेदशास्त्रोक्त कर्म को विहित कर्म कहा गया है। शास्त्रों द्वारा अविहित कर्म को निषिद्ध कर्म कहा गया है और इन दोनों से भिन्न उदासीन कर्म परिस्पन्दात्मक होते हैं।

2.4 सामान्य - मध्व ने सामान्य को द्रव्य के अतिरिक्त स्वतंत्र पदार्थ माना है। इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है - "वह पदार्थ जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न वस्तुओं में समानता का ज्ञान होता है, वह सामान्य है"।[63] जाति और उपाधि के भेद से तथा नित्य और अनित्य भेद से यह दो प्रकार का होता है।

2.5 विशेष - भेद के न रहने पर भी भेद की तरह व्यवहार के कारणभूत तत्त्व को विशेष कहते है। यह विशेष पदार्थ समस्त पदार्थों में रहता है और अनन्त है।[64]

2.6 विशिष्ट - विशेषण से युक्त पदार्थ को विशेष कहते है अर्थात् विशेषण के सम्बन्ध के उपरान्त विशेष्य का जो रूप हो जाता है, उसे विशिष्ट कहते है।[65]

2.7 अंशि - विशिष्ट की तरह अंशि को भी मध्व ने एक अलग वर्ग माना है।

2.8 शक्ति – शक्ति को माध्व दर्शन में चतुर्विध[66] माना गया है।

2.8.1 अचित्य शक्ति – यह वह रहस्यमयी शक्ति है जिसके द्वारा सभी प्रकार की असम्भव बाते सम्भव हो सकती है। इसलिए मध्वदर्शन इसे अघटित घटना परीयसी कह कर परिभषित करता है।

2.8.2 आधेय शक्ति – किसी वस्तु में जब किसी अन्य वस्तु के द्वारा इसकी शक्ति उत्पन्न होती है, तब उसे आधेय शक्ति कहते है। यथा– प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा द्वारा नवीन शक्ति का उत्पन्न होना।

2.8.3 सहज शक्ति – वस्तुओं में जो अन्य कार्यों को उत्पन्न करने की स्वाभाविक कारण शक्ति होती उसको सहज शक्ति कहते है।

2.8.4 पद शक्ति – पद एवं पदार्थ के वाच्य–वाचक भाव सम्बन्ध को पद शक्ति कहते है।

2.9 सादृश्य – सादृश्य पदार्थ को प्रभाकर मत के समान ही एक पृथक पदार्थ मानते है। किसी भी वस्तु की समानता का ज्ञान सादृश्य द्वारा ही होता है। पदार्थ संग्रहकार के अनुसार सादृश्य दो प्रकार का होता है– नित्य और अनित्य।

2.10 अभाव – मध्व ने न्यायदर्शन की भांति ही अभाव के चार विभाग माने है– प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

IV. द्वैत वेदान्त में मोक्ष–मीमांसा

भारतीय दर्शन में मोक्ष को ही परमपुरुषार्थ के रूप में प्रतिपादित किया जाता है। प्रायः सभी दार्शनिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष रूप में ग्रहण करते है। द्वैत वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप न्याय के समान केवल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं है, अपितु आनन्दमय एवं भावात्मक रूप है, जो कि द्वैत वेदान्त में जीवात्मा का पारमार्थिक स्वरूप है। जयतीर्थ के अनुसार जीव का अविद्या रूपी आवरण मोक्ष के समय ईश्वर प्रसाद से ही निवृत्त होता है। ज्ञान एवं भक्ति की सम्प्राप्ति के पश्चात् ईश्वर के परम प्रसाद से जीव के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है, जिसमें भावात्मक आनन्द का प्राचुर्य रहता है। यही मोक्ष की वास्तविक स्थिति है।

पदार्थसंग्रह नामक ग्रन्थ में बीस साधारण कारणों का उल्लेख है, जिनकी उपलब्धि मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक सभी जीवों के लिए अनिवार्य है। इनमें इहामुत्रफ्रलभोगविराग, शमदमादिषटकसम्पत्ति, परमात्मभक्ति, सर्वस्वसमर्पण, उपासना, गुरूभक्ति इत्यादि का उल्लेख किया गया है ।

द्वैत वेदान्त दर्शन की संक्षिप्त साध्य–साधन की रूपरेखा इस पद्य में समायोजित इन नौ सिद्धान्तों अथवा प्रमेयों द्वारा भी ज्ञात हो सकती है, जो द्वैत वेदान्त मत में सर्वथा मान्य भी है –

श्रीमन्मध्वमते हरिः परमतरः सत्यं जगत् तत्वतो।
भिन्ना जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्यभावं गताः।।
मुक्तिनै जसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन
ह्यक्षदित्रितय प्रमाणमखितामनमैकवेद्यो हरिः।।

– द्वैत वेदान्त परम्परा

सन्दर्भ-सूची

1. भारतीय दर्शन परिभाषा कोष, दीनानाथ शुक्ल, दिल्ली, 1993, पृष्ठ 109.
2. आस्तिक एवं नास्तिक - पाणिनि के अनुसार 'ठक्' प्रत्यय से निष्पन्न है - 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (अष्टाध्यायी, 4.4.60), अस्ति परलोकः इत्यैव मतिर्यस्य सः आस्तिकः, तथा नास्ति इति मतिर्यस्य सः नास्तिकः, अर्थात् परलोक पर विश्वास करने वाला आस्तिक और विश्वास न करने वाला नास्तिक है।
3. 'नास्तिको वेदनिन्दकः', मनुस्मृति, 2.11, पृष्ठ 40.
4. वेदान्तसार, सदानन्द, (अनु०) सन्त नारायण श्रीवास्तव, इलाहाबाद, 1983, पृष्ठ 39-40.
5. ए हिस्ट्री ऑफ द्वैत स्कूल ऑफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ 77-79.
6. "दि मीनिंग एण्ड सिंगनिफिकेन्स ऑफ 'द्वैत' इन द्वैत वेदान्त", आर०एन०वी० सुब्बनाचार, पृष्ठ 14.
7. द्वैत वेदान्त आचार्यों का कालक्रम, ए हिस्ट्री ऑफ द्वैत स्कूल ऑफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, पर आधारित है।
8. 'कर्नाटकोत्तरादेहि पद्मनाभमुनेरसौ।', सुमध्व विजय, नारायण पण्डिताचार्य, 15.127.
9. न्यायसुधा, जयतीर्थ, 1.4.
10. ए हिस्ट्री ऑफ द्वैत स्कूल ऑफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, पृष्ठ 239.
11. 1. 'वृष्टिखेटाधिपो घोण्डो रघुनाथामिधः प्रभु। चतुरङ्गबलोपेतो मृगया प्रचरन् वने।', उपरिवत्, पृष्ठ 247.
    2. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग-4, डॉ०एस.एन. दासगुप्त, 1972, पृष्ठ 12.
12. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग-4, एस.एन.दासगुप्त, भूमिका, पृष्ठ 8.
13. ए हिस्ट्री ऑफ द्वैत स्कूल ऑफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, बी०एन०के० शर्मा, पृष्ठ 297.
14. उपरिवत् , पृष्ठ 303.
15. ए हिस्ट्री ऑफ द्वैत स्कूल ऑफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर , पृष्ठ 311.
16. 'सदापेये दीक्षितस्य मृघे दुरभिमानिनः। पातयामि शिरस्यद्य गुर्वीमभिनवां गदाम्', उपरिवत् .
17. उपरिवत्, पृष्ठ 322.
18. उपरिवत्, पृष्ठ 330.
19. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग-1, एस.एन. दासगुप्त, पृष्ठ 429.
20. 'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते.....स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुः', तत्त्वसंख्यान, पृष्ठ 6-14.
21. द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन, भूमिका, पृष्ठ 4-5.
22. 'जगत्प्रवाहः सत्योऽयं पञ्चभेदसमन्वितः। जीवेशयोर्भिदा चैव जीवभेदः परम्स्परम्।।
    जडेशयोर्जडानाञ्च जडजीवभिदा तथा।।', महाभारततात्पर्यनिर्णय,
    एवं 'पञ्चभेदास्तु जीवेशयोर्भेदः..जडजीवयोर्भेदः। मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ 31.
23. उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृतिः।
    बन्ध मौक्षौ च पुरुषाद्यस्मात् स हरिरेकराट्।। पूर्णप्रज्ञभाष्य, पृष्ठ 6.
24. प्रमाणपद्धति, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृष्ठ 11.
25. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ 19-23.

26. प्रमाणपद्धति, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृष्ठ 10.
27. 'यथार्थज्ञानं केवल प्रमाणम्...,' उपरिवत्, पृष्ठ 91.
28. 'यथार्थमिति संशयादिव्युदासः', उपरिवत् .
29. 'इदं च साक्षात्... केवलमित्युच्यते'. उपरिवत् .
30. 'तच्च(केवलप्रमाणम्)चतुर्विधं ईश्वरज्ञानं लक्ष्मीज्ञानं..चेति', उपरिवत्, पृष्ठ 94.
31. 'केवल प्रमाणं चतुर्विधं। ईश्वर ज्ञानं', प्रमाणचंद्रिका, श्लारिशेषाचार्य, पृष्ठ 135.
32. 'सर्वार्थविषयकमीश्वरज्ञानम्...', प्रमाणपद्धति, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृष्ठ 94.
33. 'तत्स्वरूपमनादिनित्यम्', उपरिवत् .
34. 'तदपेक्षया स्पष्टत्वे न्यूनम्', उपरिवत् .
35. 'तदपि नियमेन यथार्थम्। तत्स्वरूपमनादि नित्यं च...', उपरिवत्, पृष्ठ 94.
36. 'योगप्रभावलब्धातिशयं योगिज्ञानम्', उपरिवत्, पृष्ठ 97.
37. 'तत्त्रिविधम्। ऋजुयोगिज्ञानं, तात्विकयोगिज्ञानं, अतात्विकयोगिज्ञानं चेति', उपरिवत्
38. 'ऋजवो नाम ब्रह्मत्वयोग्याः जीवाः...', उपरिवत् .
39. 'तद् द्विविधम्। स्वरूपं मनोवृत्तिरूपं चेति...' उपरिवत् .
40. 'वृत्तिज्ञानं तु प्रवाहतो...योगानुगृहीत प्रत्यक्षादिजन्यम्', उपरिवत्.
41. 'तत्वाभिमानिनो देवास्तात्विकाः, ...', उपरिवत् .
42. 'तस्यानादित्वं..... बाह्यं कदाचिदयथार्थमपि.....' , प्रमाणपद्धति, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृष्ठ 97.
43. 'तद्व्यतिरिक्ताः देवादयो योगिनोऽतात्विकाः.....', उपरिवत् .
44. 'तद्व्यतिरिक्ताः (अन्य सभी योगियों से) जीवाः अयोगिनः' , उपरिवत्, पृष्ठ 111.
45. अयोगिनोऽपि त्रिविधा...मुक्तियोग्या नित्यसंसारिणस्तमोयोग्या...चेति...', उपरिवत् .
46. 1. 'इन्द्रियं लिङ्गजं स्मृतिः आर्षं..... वैशेषिकाः...', उपरिवत्, पृष्ठ 114.
    2. 'विद्यापि चतुर्विद्या... प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्ष लक्षणा...' प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ 153.
47. 'यथार्थज्ञानसाधनम् अनुप्रमाणम्...', प्रमाणपद्धति, प्रत्यक्ष परिच्छेद्, पृष्ठ 115.
48. 'त्रिविधम् अनुप्रमाणम्.....अनुमानम्, आगमश्चेति', प्रमाणपद्धति, प्रत्यक्ष परिच्छेद्, पृष्ठ 125.
49. 'निर्दोषार्थेन्द्रियसन्निकर्षः प्रत्यक्षम्...', उपरिवत्, पृष्ठ 125.
50. 'चतुर्विधः...ईश्वरप्रत्यक्षम्, लक्ष्मीप्रत्यक्षं, योगिप्रत्यक्षं... चेति...', उपरिवत्, पृष्ठ 135.
51. 'निर्दोषोपपत्तिरनुमानम्....', उपरिवत्, पृष्ठ 155.
52. 'त्रिविधमनुमानम् कार्यानुमानं कारणानुमानमकार्यकारणानुमानं चेति...',उपरिवत्, पृष्ठ 199.
53. 'पुनर्द्विविधम्। दृष्टं सामान्यतोदृष्टं चेति...', उपरिवत्, पृष्ठ 199.
54. 'पुनर्द्विविधम्। साधनानुमानं दूषणानुमानं चेति...', उपरिवत्, पृष्ठ 203.
55. 'पुनरनुमानं द्विविधम्। स्वार्थं पदार्थं चेति', उपरिवत्, पृष्ठ 230.
56. 'निर्दोषः शब्दः आगमः...', उपरिवत्, आगम परिच्छेद, पृष्ठ 374.
57. 'निरभिधेयत्वेनान्वयाभावेन...लघूपाये सति गुरुपायोपदेशनम्..शब्द आगमः', प्रमाणपद्धति, आगम परिच्छेद्, पृष्ठ 374.

58. 'आगमो द्विविधः। अपौरुषेयः पौरुषेयश्चेति...', उपरिवत्, आगम परिच्छेद, पृष्ठ 428.
59. 'प्रमेयत्वं पदार्थ सामान्यलक्षणं स्फुटतयोपेक्ष्य विभाग एवादौ कृतम्', मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ 8.
60. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषविशिष्टांशिराक्तिसादृश्याभावाः दश पदार्थाः', उपरिवत्, पृष्ठ 2.
61. पदार्थ संग्रहः, द्रव्य प्रकरण, पृष्ठ 5-7.
62. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ 2.
63. उपरिवत् , पृष्ठ 5.
64. 'भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः', मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ 6.
65. 'विशेषणसम्बन्धेन विशेष्यस्य आकारः तद्विशिष्टम्', पदार्थसंग्रह, पृष्ठ 26.
66. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ 15-17.

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची

1. मूल ग्रन्थ

- अनुव्याख्या (ब्रह्मसूत्र) : मध्वाचार्य, सर्वमूल ग्रन्थ, (सम्पादक) आर.एस.पंचमुखी, धारवाड़, 1980
- अष्टाध्यायी : पाणिनि, (सम्पादक) पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, पञ्चम संस्करण, 1955
- अष्टाध्यायी सूत्रपाठ : पाणिनि, (आभा हिन्दी टीका सहित) श्री नारायण मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1977
- उपाधियाण्डन : मध्वाचार्य, द्रष्टव्य दशप्रकरणानि
- तत्त्वसंख्यान : मध्वाचार्य, द्रष्टव्य दशप्रकरणानि
- दशप्रकरणानि : आन्नदतीर्थ, (सम्पादक) लक्ष्मीनारायण उपाध्याय, (चार भाग), बैंगलोर, 1969
- न्यायसुधा : जयतीर्थ, श्रीगुरुसार्वभौम संस्कृत विद्यापीठ, श्रीराघवेन्द्र-स्वामीमठ, मन्त्रालय, तिरुपति, 15 भाग, 2003-07
- न्यायसुधा : जयतीर्थ, षट् टीकाओं सहित (सम्पादक) के.टी. पान्डुरंगी, द्वैत वेदान्त स्टडीज़ एण्ड शोध फाउन्डेशन, बैंगलोर, 1991
- प्रमाणचन्द्रिका : शलारिशेषाचार्य, (अनुवादक) सुशील कुमार, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1980
- प्रमाणपद्धति : जयतीर्थ, टीका द्वय सहित (सम्पादक)आर.एस. पंचमुखी, धारवाड़, 1982
- प्रमाणपद्धति : जयतीर्थ, आठ टीकाओं सहित (सम्पादक)के.टी. पान्डुरंगी, द्वैत वेदान्त स्टडीज़ एण्ड शोध फाउन्डेशन, बैंगलौर, 1991
- प्रमाणलक्षण : मध्वाचार्य, द्रष्ट्व्य दशप्रकरणानि
- प्रमाणलक्षणटीका : जयतीर्थ, द्रष्ट्व्य दशप्रकरणानि
- प्रशस्तपादभाष्य : प्रशस्तपाद, (सम्पादक) ढुण्डिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966
- मध्वसिद्धान्तसार (पदार्थसंग्रह) : श्रीपद्मनाभसूरी, (सम्पादक) डी.एन. शान्भाग, द्वैत वेदान्त स्टड़ीज एण्ड शोध फाउन्डेशन, बैंगलौर, 1994
- मनुस्मृति : (व्याख्याकार) राकेश शास्त्री, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1999

- वादावली : जयतीर्थ, राघवेन्द्र विरचित वादावलीभावदीपिका, श्रीनिवासतीर्थ विरचित वादावलीप्रकाश एवं कृष्णाचार्य विरचित वादावलीटिप्पणी टीका सहित, (सम्पादक) सत्यध्यानाचार्य कट्टी, द्वैत वेदान्त अध्ययन एवं संशोधन प्रतिस्थान, बैंगलुरू, 2001
- वेदान्तसार : सदानन्द, (व्याख्याकार) सन्त नारायण श्रीवास्तव, इलाहाबाद, 1983
- सुमध्वविजय : नारायण पण्डिताचार्य, नारायण पण्डिताचार्य कृत भावप्रकाशिका, विश्वपति कृत पदार्थदीपिकोद्बोधिका और श्रीछलारीशेषाचार्य कृत मन्दोषकारिणी टीका सहित, (सम्पादक) ए.बी. श्यामाचार एवं एस.आर.पाण्डुरंगी, द्वैत वेदान्त स्टड़ीज एण्ड शोध फाउन्डेशन, बैंगलौर, 2000

2. सहायक ग्रन्थ

- चतुर्वेदी, कृष्णकान्त : द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन, विद्या प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली, 1971
- दासगुप्त, एस.एन : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, वॉल्यूम 1-5, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1975
- दासगुप्त, एस.एन : भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-4 (अनुवादक) सुधीर कुमार, जयपुर, 1972
- सुब्बनाचार, एन.वी. : "दि मिनिंग एण्ड सिग्निफिकेन्स इन 'द्वैत' इन द्वैत वेदान्त", इण्डियन फिलॉसफी एण्ड कलचर, वॉल्यूम 13.3-4, 1968
- शर्मा, बी.एन.के. : ए हिस्ट्री ऑफ द्वैत वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भारतीय विद्या भवन, बोम्बे, वॉल्यूम-1-2 1960-61
- शर्मा, बी.एन.के. : हिस्ट्री ऑफ द्वैत वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1981
- शुक्ल, दीनानाथ : भारतीय दर्शन परिभाषा कोश, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1993

संस्कृत

श्रीहरिनामामृत व्याकरण
एक विहंगमावलोकन

चित्रा भारद्वाज

शोध छात्रा, दिल्ली विश्वविद्यालय

साम्प्रदायिक व्याकरणों की नींव रखने का श्रेय बोपदेव को जाता है।[1] जैन, बौद्ध तथा वैष्णव व्याकरण इसके उपभेद माने जाते हैं । इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय में लिखित ग्रन्थों की एक लम्बी शृंखला है। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु द्वारा भक्ति आंदोलन को अत्यधिक लोकप्रिय करने के पश्चात् जब वह अत्यधिक प्रतिष्ठित हो गया, तब इस मार्ग के अनुयायियों ने भगवत् नाम के संकीर्तन के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए ऐसे उपायों का अन्वेषण किया, जिससे मनुष्य प्रत्येक क्षण येन केन प्रकारेण भगवत् पाद का स्मरण करते हुए जीवन को सार्थक बना सके। इस साम्प्रदायिक भावना की पराकाष्ठा श्रीहरिनामामृत व्याकरण में देखी जा सकती है। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य जीवगोस्वामी द्वारा निर्मित यह व्याकरण अपने सम्प्रदाय का प्रमुख व्याकरण ग्रन्थ है। मनुष्य को जाने अनजाने प्रत्येक अवस्था में हरि के नामों, लीलाओं अथवा तत्सम्बद्ध वस्तुओं का स्मरण या उच्चारण करते रहना चाहिए। इस भावना को यह व्याकरण पल्लवित, पुष्पित और फलित करता है। इस व्याकरण का उद्देश्य अपने नामानुरूप हरि के नामों का संकीर्तन ही है। व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों के लिए भी इस व्याकरण में भक्तिपरक संज्ञाकरण भी दृष्टिगोचर होता है।

1. श्रीहरिनामामृत ग्रन्थ प्रणयन का उद्देश्य

यद्यपि इस व्याकरण के प्रणयन का प्रमुख उद्देश्य व्याकरणाध्ययन ही था तथापि यह व्याकरण भक्ति रूपी सागर के समान है, जिसमें व्याकरणाध्ययन रूपी उद्देश्य एक छोटी नौका के समान कहीं खो जाता है। श्रीहरिनामामृत व्याकरण के अध्ययन में प्रारम्भ से ही मनुष्य में भगवत् प्रेम का बीजारोपण और तदुनकूल संस्कारों की सृष्टि होती है। इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अपने इस उद्देश्य को व्यक्त करते हुए जीवगोस्वामी ने कहा –

कृष्णमुपासितुमस्य स्रजमिव नामावलिं तनबै।
त्वरितं वितरेदेषा तत्साहित्यादिजामोदम्।।[2]

अर्थात् भक्तगण जिस प्रकार तुलसी की माला के सहारे कृष्णनाम जप करते हैं, उसी प्रकार वे व्याकरण के सूत्रों के सहारे नाम-जप कर सके। इस उद्देश्य से मैं श्रीकृष्णनामावलि का सूत्रों से ग्रन्थन कर रहा हूँ। इस माला के जप से श्रीकृष्ण संग से जनित आनन्द की उपलब्धि होगी।

जीवगोस्वामी की अभिव्यक्ति है कि अन्य व्याकरणों के द्वारा सामान्यजनों को आहत-जल्पित तथा जटिल देख कर मैं वैष्णवों के लिए श्रीहरिनामावलि सम्पुटित व्याकरण की रचना कर रहा हूँ।

आहतजल्पितजटिलं दृष्टाशब्दानुशासनस्तोमम्।

हरिनामावलिवलितं, व्याकरणं वैष्णवार्थमाचिन्मः।।[3]

जीवगोस्वामी को अन्य व्याकरणों की अपेक्षा इस व्याकरणाध्ययन के द्वारा तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) पापों से निवृत्ति मान्य है। उनके मतानुसार अन्य व्याकरण रूपी मरु प्रदेश सदा विघ्न, सन्ताप, क्लेश, आहत, जल्पित आदि दु:खों से सन्तप्त है, ऐसे प्रकृत जीवन रूप जल की आशा में व्यर्थ भटकने वाला मनुष्य श्रीहरिनामामृत रूप सुधा का पान कर तृप्त हो सकता है। वे हमेशा सब प्रकार से अपनी इच्छानुसार अवगाहन करके शीतल हो सके। जीवन लुब्ध मानव अपनी तृष्णा के निवारण के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन करे, जिससे उनको तीनों पापों से निवृत्ति प्राप्त हो सके। इस भगवत्स्वरूप ग्रन्थ का अध्ययन करने से जीव, जन्म एवं मृत्यु रूपी भव बन्धन से मुक्त हो सकेगा।

व्याकरणे मरुनीवृति जीवनलुब्धाः सदाघ संविघ्नाः।

हरिनामामृतमेतत् पिवन्तु शतधावगाहन्ताम्।।[4]

जीवगोस्वामी ने व्याकरणाध्ययन के द्वारा प्रभु नाम संकीर्तन के विषय में श्रीमद्भागवत से उद्धृत पंक्तियों का आश्रय लेकर कहा है कि प्रभु के नाम का उच्चारण यदि किसी अन्य प्रयोजन से भी क्यों न किया जाए, सभी पापों को नष्ट करने वाला होता है या करता है तथा परम आनन्द की अनुभूति प्रदान करने वाला होता है अथवा करता है-

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः।।[5] *(श्रीमद्भागवत 6.2.14)*

2. श्रीहरिनामामृत का समय तथा प्रचार स्थान

श्रीहरिनामामृत व्याकरण के विज़य में विद्वानों का मत हैं कि यह व्याकरण सर्वप्रथम रूपगोस्वामी ने रचा था। किन्तु रूपगोस्वामी द्वारा रचित व्याकरण संक्षिप्त था। उसी का बृहद् तथा विस्तृत रूप, उसी शैली में जीवगोस्वामी द्वारा प्रणीत श्रीहरिनामामृत व्याकरण है।[6] कुछ विद्वान् लघु रूप में प्रणीत श्रीहरिनामामृत व्याकरण को सनातन की कृति भी मानते हैं।[7]

जीवगोस्वामी कृत श्रीहरिनामामृत व्याकरण का समय ईसा की सोलहवीं शताब्दी के मध्य का माना गया है।

श्रीहरिनामामृत व्याकरण के प्रचार-प्रसार का क्षेत्र वैष्णव सम्प्रदाय तक ही सीमित रहा। वैष्णव जन इस व्याकरण को पूर्ण श्रद्धा के साथ पढ़ते थे। इस अगाध श्रद्धा एवं भक्ति का परिचायक है कि कलकत्ता संस्कृत ऐसोसियेशन ने श्रीहरिनामामृत व्याकरण को वैष्णव विद्यार्थियों की परीक्षा के लिए ऐच्छिक विषय बनाया।[8] श्रीहरिनामामृत व्याकरण अद्यपर्यन्त बंगाल के वैष्णवों द्वारा प्रयोग किया जाता है।[9]

3. श्रीहरिनामामृत व्याकरण का संस्करण तथा टीका

श्रीहरिनामामृत व्याकरण का 1972 में चैतन्य रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता ने द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया। इस पर हरेकृष्णाचार्य विरचित बालतोषणी टीका तथा गोपीचरणदास विरचित तद्धितोद्दीपनी टीका प्राप्त होती है। हरेकृष्णाचार्य विरचित बालतोषणी टीका तथा गोपीचरणदास विरचित तद्धितोद्दीपनी टीकायें जीवगोस्वामी के वक्तव्य को समझाने में समर्थ है, यद्यपि कतिपय स्थलों पर यह न्यूनता से ग्रसित भी हो जाती है, किन्तु व्याकरण पक्ष को स्पष्ट करने में सर्वथा उपयोगी है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक पक्ष को उद्घाटित करने में ये टीकायें तत्पर दिखाई नहीं पड़ती है।

4. श्रीहरिनामामृत व्याकरण का वैशिष्ट्य

(क) संज्ञा निर्माणगत वैशिष्ट्य

श्रीहरिनाम परक संज्ञाकरण के कारण इस व्याकरण का नाम श्रीहरिनामामृत व्याकरण सार्थक है। इस व्याकरण का संज्ञाकरण भी अनुपम वैशिष्ट्य से युक्त है। इस व्याकरण के संज्ञावलोकन से ज्ञात होता है कि यह व्याकरण भक्ति के चरमोत्कर्ष को द्योतित करता है। यथा–

1. आदेश – विरिञ्चि
2. आगम – विष्णु
3. लोप – हर
4. वर्ण स्वरूप – राम

(ख) संज्ञाओं का लक्षण निरुपण

पाणिनि के द्वारा कई संज्ञाओं का लक्षण नहीं दिया गया। सम्भवत: उस समय यह संज्ञाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध रही होंगी, जिसके फलस्वरूप पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त इन संज्ञाओं का व्याख्यान अनावश्यक प्रतीत हुआ। अष्टाध्यायी में समास, कारक, सर्वनाम, अव्यय आदि संज्ञाओं के लक्षण प्रदत्त नहीं है। परवर्ती काल में संस्कृत सामान्य जन की बोलचाल की भाषा नहीं रही। जिसके कारण वह पाणिनीय कालीन प्रसिद्ध संज्ञाएँ भी जनसामान्य के लिए दुर्बोध हो गयी। फलत: परवर्ती व्याकरण ग्रन्थों में उन संज्ञाओं के लक्षणों को निरुपित करना अपरिहार्य हो गया था।

श्रीहरिनामामृत व्याकरण में भी कई स्थलों में इस प्रकार से संज्ञाओं के लक्षणों को सूत्रबद्ध भी किया गया है। यथा–

(i) क्रियासम्बन्धविशेषि कारकम्[10]

(ii) आख्यातादयो यत्र क्रियन्ते तदुक्तम्[11]

(iii) उक्तादन्यदनुक्तम्[12]

(iv) अन्तर्भिन्नपदत्वेप्येकनामत्वेन योजनं समास:[13]

(v) समासवाक्यं विग्रह:[14]

(vi) जाति-गुण-क्रिया द्वारा यस्य विशेषः कथ्यते, तद् विशेष्यं, येन तस्य विशेषः कथ्यते, तद् विशेषणम्[15]

(ग) श्रीहरिनामामृत व्याकरण में प्रत्यय योजना

श्रीहरिनामामृत व्याकरण में प्रयुक्त प्रत्ययों विशेषतः कृत् प्रत्यय, तद्धित, स्त्री प्रत्ययाधिकार के अन्तर्गत पठित प्रत्ययों के निर्देश से पूर्व हरिनाम आदि का योग किया गया है। इस योग से केवल उच्चारण जन्य पुण्य ही इप्सित है। इसका अन्य कोई परिभाषिक प्रयोजन परिलक्षित नहीं होता है। यथा-

1. विष्णुनिष्ठा[16]
2. विष्णुकृत्य[17]
3. लक्ष्मी प्रत्यय[18]
4. लक्ष्मीपूरण प्रत्ययः[19]
5. नृसिंह-यः[20]
6. माधवान्यः[21]
7. केशव-णः[22]
8. माधव-ढः[23]
9. नृसिंह-नः[24]
10. केशवारामः[25]
11. नृसिंह-इः[26]
12. नृसिंह-फिः[27]
13. माधव-यरामः[28]
14. माधव-फः[29]
15. माधवायनः[30]
16. माधव-ठः[31]
17. माधव-णः[32]
18. नृसिंह-वुः[33]
19. नृसिंह-ठः[34]
20. नृसिंह-छः[35]
21. नृसिंह-कः[36]
22. नृसिंह-खः[37]

5. श्रीहरिनामामृत व्याकरण का कलेवर :

श्रीहरिनामामृत व्याकरण में कुल 3192 सूत्रों का निबन्धन हुआ है। यह व्याकरण सात प्रकरणों में विभक्त है। यथा-

1. संज्ञा-सन्धि प्रकरणम्
2. विष्णुपद प्रकरणम्
3. आख्यात प्रकरणम्
4. कारक प्रकरणम्
5. कृदन्त प्रकरणम्
6. समास प्रकरणम्
7. तद्धित प्रकरणम्

संक्षेप में इन प्रकरणों के विषय में कहना सर्वथा अपरिहार्य हो जाता है। श्रीहरिनामामृत व्याकरण के प्रकरणों का क्रमशः विषयगत संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है -

1. संज्ञा-सन्धि प्रकरण: इस प्रकरण से श्रीहरिनामामृत व्याकरण का प्रारम्भ होता है तथा इसका विस्तार सूत्र संख्या 1-147 सूत्र पर्यन्त है। जैसा कि नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि इस प्रकरण में संज्ञाओं तथा संधिओं का निरुपण किया गया है। जीवगोस्वामी ने वर्णोपदेश का आरंभ करते हुए वर्णों की उत्पत्ति नारायण से मानी हैं-

नारायणादुद्भूतोऽयं वर्णक्रम:[38]

इस प्रकरण में सर्वेश्वर (स्वर), विष्णुजन (व्यञ्जन) तथा विष्णुसर्ग (विसर्ग) के लिए जीवगोस्वामी ने सूत्र विधान किया है। संज्ञाओं के लिए भक्ति परक प्रयोग भी परिलक्षित होते है। पाणिनीय प्रत्याहारों के लिए भक्तिपरक संज्ञाकरण किया गया है। यथा-

1. क-च-ट-प-पा-हरिकमलानि (21)

2. ख-छ-ठ-थ-फा हरिखङ्गा: (22)

2. विष्णुपद प्रकरण: इस प्रकरण में सूत्र संख्या 148 से 365 तक सूत्रों को सम्मिलित किया गया है। नाम के लिए जीवगोस्वामी के द्वारा 'विष्णुपद' को प्रयुक्त किया गया है। यह प्रकरण पाणिनीय षड्लिङ्ग प्रकरण का ही परिचायक है। विष्णुपद प्रकरण के अन्तर्गत जीवगोस्वामी ने सर्वेश्वरान्त पुरुषोत्तम लिङ्ग (स्वरान्त पुल्लिंग), सर्वेश्वरान्त लक्ष्मीलिङ्ग (स्वरान्त स्त्रीलिङ्ग), सर्वेश्वरान्त ब्रह्मलिङ्ग (स्वरान्त नपुंसकलिङ्ग), विष्णुजनान्तपुरुषोत्तमलिङ्ग (हलन्त पुल्लिङ्ग) विष्णुजनान्तलक्ष्मीलिङ्ग (हलन्त स्त्रीलिङ्ग), विष्णुजनान्तब्रह्मलिङ्ग (हलन्त नपुंसकलिङ्ग) तथा कृष्णनाम (सर्वनाम) शब्दों की निष्पत्ति के लिए सूत्र संरचना की है।

3. आख्यात प्रकरण: इस प्रकरण के अन्तर्गत सूत्र संख्या 366 से 951 तक सूत्रों का समावेश हुआ है। जीवगोस्वामी ने इस प्रकरण में धातु से प्रत्ययों का योग कर शब्द की निष्पत्ति की है। इस प्रकरण में जीवगोस्वामी ने दसों गणों तथा प्रक्रियाओं का निरूपण किया है। उपेन्द्र (उपसर्ग) विषयक सूत्रों का भी सन्निवेश प्राप्त होता है। इस प्रकरण में जीवगोस्वामी ने पाणिनीय पद्धति के आधार पर 18 प्रत्ययों का निर्देश न करते हुए प्रत्येक लकार के लिए 18-18 पृथक् प्रत्ययों कर निर्देश किया है।

4. कारक प्रकरण: इस प्रकरण में सूत्र संख्या 952 से 1225 तक के सूत्रों का परिगणन हुआ है। उत्तरोत्तर कारक बलवान् होता है। इस आधार पर जीवगोस्वामी ने पहले अधिकरण से प्रारंभ कर अपादान, सम्प्रदान, करण विषयक सूत्रों का निरुपण किया है। किन्तु सर्वप्रथम जीवगोस्वामी कारक विषयक लक्षण देते हैं-

क्रियासम्बन्धविशेषि कारकम्।[39]

उपपद विभक्तियों के लिए उपपद विष्णुभक्ति, कर्म प्रवचनीय के लिए कृष्णप्रवचनीय[40] आदि प्रयोग इस प्रकरण में दृष्टिगत होते हैं। इस प्रकरण में जीवगोस्वामी ने कारकादि विषयक लक्षण सहित उदाहरणों का निरूपण किया है।

5. कृदन्त प्रकरण: इस प्रकरण में सूत्र संख्या 1227 से 1692 तक के सूत्रों का सन्निवेश हुआ है। कृदन्त प्रकरण में जीवगोस्वामी ने जिन प्रत्ययों का प्रयोग किया है, वह किञ्चित् पाणिनि तथा पाणिनीयेतर वैयाकरणों से प्रभावित है। स्वर प्रक्रिया अभाव के कारण इस प्रकरणगत कई प्रत्ययों में पाणिनीय प्रत्ययों से भेद भी प्राप्त होता है।

6. समास प्रकरण: श्रीहरिनामामृत व्याकरण के समास प्रकरण का विस्तार सूत्र संख्या 1693 से 2065 सूत्र तक है। अत: श्रीहरिनामामृत व्याकरण के कुल 373 सूत्रों को इस प्रकरण में समाविष्ट किया गया है। विभिन्न समासों के लिए भक्तिपरकसंज्ञाकरण इस प्रकरण में भी दृष्टिगोचर होता है। यथा - कर्मधारय के लिए श्यामराम, द्विगु के लिए त्रिरामी, तत्पुरुष के लिए कृष्णपुरुष, बहुब्रीहि के लिए पीताम्बर तथा द्वन्द्व के लिए रामकृष्ण।[41] समास का सामान्य लक्षण भी जीवगोस्वामी ने श्रीहरिनामामृत व्याकरण के इस प्रकरण के प्रारम्भ में दिया है। जो इस प्रकार है -

अन्तर्भिन्नपदत्वेप्येकनामत्वेन योजनं समास:।[42]

7. तद्धित प्रकरण: श्रीहरिनामामृत व्याकरण में तद्धित प्रकरण के लिए कुल 1126 सूत्रों को समाविष्ट किया गया है। इस प्रकरण के अन्तर्गत वर्णित कई सूत्र पाणिनि द्वारा प्रयुक्त सूत्रों के समान ही हैं। फलत: यह भी कहा जा सकता है कि जीवगोस्वामी ने पाणिनि द्वारा प्रयुक्त सूत्रों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया हैं यथा-

तद्गच्छति पथिदूतयो: (पा. 4.3.85, हरि.व्या. 2601)

अभिनिष्क्रामति द्वारम् (पा. 4.3.86, हरि.व्या. 2602)

इस प्रकरण में जीवगोस्वामी ने उन स्थलों के लिए दो या अधिक सूत्रों का योग कर एक सूत्र निर्माण किया, जिनके लिए पाणिनि पृथक्-पृथक् सूत्र रचना करते हैं।

श्रीहरिनामामृत व्याकरण भक्ति के चरमोत्कर्ष का परिचायक है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में रचनाकार की व्याकरणाध्ययन विषयक उक्ति तथा व्याकरण का कलेवर इस तथ्य को ही इंगित करते है कि इस व्याकरण के प्रणयन का मुख्य उद्देश्य हरिनाम संकीर्तन ही था।

सन्दर्भ-सूची

1. P.P.S.G., P. 239
2. हरि.व्या.म.,कारि.1, पृ. 1
3. हरि.व्या.म.,कारि.2, पृ. 2
4. हरि.व्या.म., कारि.3, पृ. 4
5. हरि.व्या.म., कारि.4, पृ. 5
6. H.S.A.I.G., S.C. Banerji, P. 167
7. ibid., P. 167
8. P.P.S.G., P. 241
9. S.S.G., S.K. Belvalkar, P. 95
10. हरि.व्या., सू.सं.961, पृ. 373
11. हरि.व्या., सू.सं.962 पृ. 377
12. हरि.व्या., सू.सं.963, पृ. 378
13. हरि.व्या., सू.सं.1695, पृ. 733
14. हरि.व्या., सू.सं.1697, पृ. 734
15. हरि.व्या., सू.सं.307, पृ. 138
16. हरि.व्या., सू.सं. 1253, पृ. 549
17. हरि.व्या., सू.सं.1375 पृ. 609

18. हरि.व्या., सू.सं.2115, पृ. 951
19. हरि.व्या., सू.सं.2219, पृ. 953
20. हरि.व्या., सू.सं.2903, पृ. 1265
21. हरि.व्या., सू.सं.2360, पृ. 1079
22. हरि.व्या., सू.सं.2312, पृ. 1056
23. हरि.व्या., सू.सं.2319, पृ. 1056
24. हरि.व्या., सू.सं.2320, पृ. 1059
25. हरि.व्या., सू.सं.2197, पृ. 988
26. हरि.व्या., सू.सं.2324, पृ. 1061
27. हरि.व्या., सू.सं.2349, पृ. 1074
28. हरि.व्या., सू.सं.2357, पृ. 1078
29. हरि.व्या., सू.सं.2358, पृ. 1078
30. हरि.व्या., सू.सं.2360,, पृ. 1079
31. हरि.व्या., सू.सं.2833, पृ. 1241
32. हरि.व्या., सू.सं.2369, पृ. 1084
33. हरि.व्या., सू.सं.2402, पृ. 1100
34. हरि.व्या., सू.सं.2410, पृ. 1103
35. हरि.व्या., सू.सं.2453, पृ. 1121
36. हरि.व्या., सू.सं.2467, पृ. 1125
37. हरि.व्या., सू.सं.2485, पृ. 1131
38. हरि.व्या., सू.सं. 1, पृ. 6
39. हरि.व्या., सू.सं.961, पृ. 373
40. कृष्णप्रवचनीयैर्योगे द्वितीया, हरि.व्या., सू.सं.1058, पृ. 460
41. तत्र श्यामराम-कर्मधारयौ, त्रिरामी द्विगु, कृष्णपुरुष-तत्पुरुषौ, पीताम्बर-बहुव्रीही, रामकृष्ण-द्वन्द्वौ समानार्थौ ज्ञेयौ, अव्ययीभावस्तु षष्ठः, हरि.व्या., सू.सं.1694, पृ. 732-733
42. हरि.व्या., सू.सं.1695, पृ. 733

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची

मूल ग्रन्थ :

- श्रीहरिनामामृत व्याकरण : जीवगोस्वामी, हरेकृष्णाचार्य कृत बालतोषणीटीका तथा गोपीचरणदास-तद्धितोद्दीपनीटीका सहित, श्रीचैतन्य रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता-द्वितीय संस्करण 1972

हिन्दी संस्कृतेतर ग्रन्थ :

- *Abhayankar, K.V. :* A Dictionary of Sanskrit Grammar, Oriental Institute, Baroda, 1977
- *Banerji, S.C. :* Historical Survey of Ancient Indian Grammar , Sharada Publishing House, Delhi, 1996
- *Belvarker, K.P. :* Systems of Sanskrit Grammar, Bhartiya Vidya Bhawan, Varanasi, 1976
- *Catterjee, Enakshi :* Contribution of Bengal to Sanskrit Grammar, University of Delhi, 1979
- *Saini, R.S.* : Post-Paninian Systems of Sanskrit Grammar , Parimal Publication, Delhi,Firt Edition, 1999

संस्कृत

चिकित्सा विज्ञान एवं नैतिक मूल्य

डॉ० किरण कुमारी

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
गंगा देवी महिला कॉलेज, कंकड़बाग, पटना-20

आज विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक प्रगति से आज विश्व को आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ भी मिली हैं, जिसके कारण पाश्चात्य देश अपने आपको गौरवान्वित महसूस कर रहे हैं और सम्पूर्ण विश्व को उन उपलब्धियों के लिए अपने आपको गुरू मान बैठे हैं।

इस संदर्भ में यदि हम दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व जाएँ और पाश्चात्य एवं पौवात्य ज्ञान साधना के पीछे का दृष्टिकोण, उसके उद्देश्य और पद्धति आदि की मीमांसा करें तो पायेंगे कि भारतीयों ने ज्ञानोपासना के लिए सिर्फ अन्तर्ज्ञान या अन्त:प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) की शक्ति का आधार ग्रहण किया है और यह अन्त:ज्ञान (इन्ट्यूशन)सभी "विज्ञानों का विज्ञान" है।

भारतीय ऋषि-मुनियों ने जो ज्ञान आज अपने अन्त: चक्षुओं द्वारा प्राप्त अन्तर्ज्ञान के द्वारा दिया है, वह ज्ञान पाश्चात्य देशों के लिए भी "मील का पत्थर" साबित हुआ है और उन्हीं को आधार बनाकर ही उनलोगों ने शोध कार्य के द्वारा ज्ञान का विकास करते हुए नयी-नयी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। वस्तुत: वह ज्ञान कोई नया ज्ञान नहीं है, बल्कि हमारे ऋषि-मुनियों की धरोहर है।

'ऋग्वेद' भारतीय ज्ञान का एक ऐसा "उपजीव्य ग्रन्थ" है जिसके आगे विश्व का सारा ज्ञान तुच्छ बनकर रह गया है।

'आयुर्वेद' को 'ऋग्वेद' का उपवेद बताया गया है। 'आयुर्वेद' का अर्थ है 'आयु सम्बन्धी शास्त्र'। उसके नाम से ही पता चलता है कि उसकी प्रतिष्ठा वेदों के समान है। चरक, सुश्रुत और वाग्भट आयुर्वेद के वृहत्-त्रय - तीन महान् प्रणेता हैं और इनके द्वारा ही आयुर्वेद के तीन महान् ग्रन्थों- चरक संहिता, सुश्रुत संहिता और अष्टांग हृदय (वाग्भट) का सृजन हुआ जो इस विद्या की वृहत्त्रयी कहलाती है।

आयुर्वेद मात्र औषध संयोजन (Medicine) और शल्य क्रिया (Surgery) तक ही सीमित नहीं है। यदि ऐसा होता तो भारत में आयुर्वेद की जगह भेषज-शास्त्र तथा शल्यशास्त्र नाम के शास्त्र निर्माण हुए होते। 'आयुस्' शब्द की अर्थव्याप्ति अपेक्षाकृत बहुत बड़ी है। यह व्याप्ति भेषज (Medicine) और शल्य (Surgery) की अपेक्षा अधिक विशाल है।

भेषज (Medicine) के सम्बन्ध में चरक ने अपने ग्रन्थ में जो निम्नांकित निवेदन किया है, वह तत्कालीन संदर्भों में तो उचित था ही, किन्तु आज दो हजार से भी अधिक वर्षों बाद, उसके विचार प्रासंगिक और आश्चर्यजनक लगते हैं:

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।"

(चरक सं०, सिद्धिस्थानम्, 12.53-54)

"जो इसमें (चरक संहिता में) है, वही दूसरे ग्रन्थों में मिलेगा (इसकी अपेक्षा अधिक या दूसरा कुछ नहीं); और जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं मिलेगा।"

उसकी व्याख्या में आयुर्वेद की व्याप्ति और उसके विशाल दृष्टिकोण का पता चलता है :

हिताहितं सुखं दु:खं आयुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तत्र यत्रोक्तं आयुर्वेद: स उच्यते।।
शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितं।
नित्यगश्चानुबंधश्च पर्यायैरायुरुच्यते।।

(चरक सं०, सूत्रस्थानम्, 1.41-42)

"हित और अहित, सुख और दु:ख, आयु के लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर है, इसकी पहचान (मानं) जहाँ बताई गई है, उसे आयुर्वेद कहा जाता है। पर्याय के रूप में (दूसरे अर्थ में) शरीर, इन्द्रिय कार्य, नैसर्गिक प्रवृत्ति (सत्य) आत्मा और पारस्परिक सम्बद्ध क्रियाओं के संयोग को नित्य जीवित रखता है, उसे 'आयुस्' कहते हैं।

इसके बाद चरक ने बताया है कि इस सुख-दु:ख और हिताहित के कुछ लक्षण होते हैं, उनकी जानकारी आयुर्वेद में निहित है। उन लक्षणों के द्रव्य (मूल घटक), गुण तथा कर्मों का ज्ञान भी उसमें है। इन द्रव्य-गुण-कर्म और उनके उपायों की एक सूची उसने प्रदान की है। उस सूची में अनेक बातों का उल्लेख है; जैसे शरीर और मन को आघातों से दूर रखना, अच्छी बातों का उपभोग करना, दूसरों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सहानुभूति रखना, इस प्रकार आचरण करना कि 'धर्मार्थ-काम-मोक्ष' परस्पर बाधा न बनें, दूसरों की सेवा करना, आदि (चरक सं०, सूत्र 30.2)।

चरक का वैद्यकशास्त्रीय ज्ञान अलौकिक कोटि का था- वह विशेष अध्ययन की वस्तु है। अत: यहाँ मैं उसका विवेचन नहीं करूँगी। दो महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करना आवश्यक है- रोगों के निदान, लक्षण, औषधि संयोजन, चिकित्सा, पथ्य, रोगों के वर्गीकरण आदि के सम्बन्ध में चरक को गहन ज्ञान तो था ही और वह आज भी उपयोगी है। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि ये सारी बातें उसने बिना किसी 'व्यक्ति जंत्री अध्ययन' (Case history study) के किसी मनुष्य या प्राणी के ऊपर विभिन्न औषधियों का प्रयोग किये बिना, तर्कनिष्ठ पद्धति से किसी तरह के प्रयोगों के रहित- केवल अपनी अकेले की अंत:प्रज्ञा के बल पर ही प्राप्त की। यह हुई पहली बात।

चरक संहिता में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें चरक के वैद्यकीय ज्ञान के साथ ही उसकी प्रगल्भता, अत्यन्त सुसंस्कृत मनोवृत्ति और आश्चर्यजनक बात यह कि तर्कबुद्धि पर उसके प्रगाढ़ विश्वास के दर्शन होते हैं। भले ही उसने अन्त:प्रज्ञा के बल पर अपने मूलभूत ज्ञान की उपलब्धि की तथा उसे अपनी संहिता में संयोजित किया, फिर भी उसका यह उपदेश था कि प्रत्यक्ष कार्य सम्पादन करने के लिए कठोर तर्कनिष्ठा का अवलम्ब लेना चाहिए। सत् (सत्य) अथवा असत्

(असत्य)- इन दोनों में ही सब कुछ विभाजित किया जा सकता है - की पहचान करने के लिए चार निष्कर्षों (तस्य चतुर्विद्या परीक्षा) का उल्लेख किया गया है-(1) आप्तोपदेश- विश्वासी व्यक्ति का मार्गदर्शन, (2) प्रत्यक्ष-प्रमाण सहित तर्कनिष्ठ प्रत्यक्ष अनुभव, (3) अनुमान और (4) व्यक्ति अर्थात् विवेक बुद्धि (चरक सं० सूत्र 11, 17)। इसके बाद यह वर्णन किया है कि ये परीक्षा किस प्रकार लेनी चाहिए (18-25)। इनके सिवा सत्य शोधन का दूसरा उपाय नहीं है (एषा परीक्षा, नास्त्यन्या यया सर्व परीक्ष्यते। 26)।

आज वैद्यकीय व्यवसायिकों ने एक महत्त्वपूर्ण समस्या उत्पन्न कर दी है। वैद्यकीय व्यवसाय की नीति (Medical Ethics) का स्तर इतना नीचे उतर आया है कि इधर कुछ समय से अमेरिका और भारत में भी इस सम्बन्ध में पुस्तकें और लेख प्रकाशित हुए हैं। इनमें इस बात का उद्घाटन किया गया है कि इस व्यवसाय के लोग भोले-भाले विश्वास पीड़ित जनता को किस प्रकार क्रूरतापूर्वक ठगते और कष्ट देते हैं। उदाहरण के लिए - Dubious Medical Ethics, Pt. I & II, ले० शालिनी रामचन्दानी, 'इंडियन एक्सप्रेस' (अगस्त 28 तथा 31) और डा० अरुण लिमये द्वारा लिखित 'क्लोरोफार्म' (ग्रंथाली प्रकाशन, मुबंई 1978) पठनीय हैं। अमेरिका में तो कुछ वर्ष पहले ही इस विषय पर प्रकाश डालने वाली और कठोर आलोचना करने वाली पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

चिकित्सा व्यवसाय की नीति के सम्बन्ध में विचार करते समय एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है। वैद्यकीय समाज नैतिकता का स्तर तत्कालीन और तद्देशीय सामाजिक सदसद्विवेकबुद्धि (Social Conscience) से बहुत भिन्न नहीं हो सकता। यदि सम्पूर्ण समाज में ही नैतिक समझ का स्तर नीचे उतर आया हो तो वैद्यक वर्ग ही अछूता कैसे रह सकता है? अपने ही समाज में देखें तो साधारणत: सर्व व्यावसायिक- डाक्टर, वकील, व्यापारी, निर्माण कार्य व्यापारी, ठेकेदार, राजनीतिक व्यवसाय करने वाले व्यक्ति, विशेषत: उनके नेतागण और इसी प्रकार शासकीय पदों पर विराजमान अधिकारी, आयकर अधिकारी, कस्टम अधिकारी, इंजीनियर्स आदि की समाज-नैतिक समझ (Social Conscience) एक सी है। जहाँ-जहाँ इन व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के कार्य 'सेवा' (Service)करने के लिए उचित वेतन देकर नियुक्त किया गया है, वहाँ वे इस 'कर्त्तव्य' (Duty) या 'सुअवसर' (Opportunity)और स्वत: की सदसद्विवेकबुद्धि का 'भरपूर खाने में' उपयोग करते हैं। प्रस्तुत लेखक और उसके मित्र के परिचित एक आयकर अधिकारी निर्लज्जता से आयकर भरने वालों को कहते हैं, "हम आपकी 'सेवा' (Service) (जल्दी और तुम्हारी अनुकूलता के अनुरूप) करते हैं, तब इस खास सेवा के बदले में मुझे तुम्हारा 'देना' उचित ही है।" इस प्रकार सर्वत्र ही समाज में नैतिकता का स्तर गिर गया है। कहीं-कहीं तो वह मानवीयता के लिए लांछनीय तक की सीमा में पहुँच गया है। डाक्टर भी तो इन करोड़ों नागरिकों में से ही हैं। लेकिन यदि डाक्टरों ने अमानवीय (inhuman) अनीति का अनुसरण किया तो वह मानव-जीवन के साथ क्रूरतापूर्ण खेल बन जाता है। रोगी आँख मूँदकर डाक्टर के हाथों में अपना जीवन सौंप देता है। उसके साथ व्यावसायिक अनैतिकता का बर्ताव करना एक जघन्य अपराध है। डाक्टरों की गणना समाज के सुशिक्षितों में की जाती है, इसलिए उनका अनैतिक बर्ताव और भी तीव्रता से चुभता है। और ये भी समझना चाहिए कि डाक्टरों में भी कभी-कभी नैतिक मूल्यों का पालन करने वाले होते हैं।

शल्यक्रिया में सफलता प्राप्त करने के लिए शरीर रचनाशास्त्र और शरीर क्रियाशास्त्र (Anatomy and Phydiology) का पर्याप्त ज्ञान अत्यावश्यक है। सुश्रुत ने जिस स्तर पर अद्वितीय शल्य तन्त्रज्ञ के रूप में यश प्राप्त किया था, उस दृष्टि से उसे उक्त दोनों शास्त्रों का ज्ञान, पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। सुश्रुत ने शल्यक्रिया को आठ प्रकारों में विभाजित किया है - आहर्य (शरीर में से ठोस या भारी-जड़ वस्तु निकालना), भेद्य (काटना Excision), छेथ (छेद करना incision), एष्य (अन्तर्भागों की खोज करना, Probing), लेख्य (खुरचना-कुदेरना, Scarifying), सिध्य (सिलना, suturing), वेध्य (छेदना, Puncturing), और विश्रवणीय (शून्यीकरण करना, द्रव आदि निकालना, Evacuating fluids) (Bhishagratna; 1963; I; P. xi)

सुश्रुत को शल्यक्रिया से सम्बन्धित लगभग एक सौ पच्चीस उपकरणों तथा औजारों का ज्ञान था। उसने यह भी बताया है कि शल्य चिकित्सक को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न आकारों के औजार तैयार करा लेने चाहिए। कीटनाशन (sterilization)के लिए उस काल में धूमदान अथवा धूनी देने (fumigation)का उपयोग करते होंगे। रोगी के कमरे में धूनी देने या धुआँ करने के लिए उसने सरसों, नीम के पत्ते आदि जलाने की सूचना दी है। उसके मतानुसार जब औषधि उपचार से रोग ठीक नहीं हो पा रहा हो तभी शल्यक्रिया करनी चाहिए। सुश्रुत सम्प्रदाय के वैद्यों ने नेत्र रोगों, प्रसूति सम्बन्धी और अन्य प्रकार की शल्य चिकित्सा सफलतापूर्वक संयोजित की थी। सुश्रुत संहिता में पुनर्रचनात्मक आरोपण (Plastic) तथा नाक ठीक करने (Rhinoplastic) आदि से सम्बन्धित शल्यक्रियाओं का वर्णन है। धान्वंतरीय अथवा सुश्रुत सम्प्रदाय के वैद्य त्वचा के टुकड़ों का प्रतिरोपण (Transplant) करने, कान की खंडित (टूटी-फूटी विकृत) लौ ठीक करने (Mending cleft earlobes)(वह भी गर्दन या आसपास की त्वचा के टुकड़े निकालकर), मोतियाबिन्द की शल्य चिकित्सा करने, अवयवच्छेदन (Amputation of limbs), उदर के अन्तर्गत भागों की चीर-फाड़, अस्थि भंग तथा अस्थि-स्थान-भ्रष्टता (Fractures and dislocations) ठीक करना, अन्तर्गल (Hernia), भेद या विदार (Ruptures) मूलव्याधि या अर्श (Piles and haemorrhides) आदि की शल्य चिकित्सा किया करते थे।

सुश्रुत ने विभिन्न प्रकार के विषों को तेरह वर्गों में विभाजित किया है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के सर्पों, चूहों (18 प्रकार) आदि का वर्गीकरण करते हुए, उनसे सम्बन्धित निरोधक (preventive) उपचार भी सूचित किए हैं। (भिषग्रत्न, I; 1963; pp. XVIII (f): We abstain here from a lengthy description of the fifferent methods , recommended by Susruta is cases of abdominal and peritonial wounds. We only ask our readers to compare this chapter of the Susrutasamhita (Ciktsasthanam, 2) with the chapters in any work on European chirurgery which deals with the same subject. Certain medical plasters were used to be applied to localize. The shafts enbedded in the limbs of wounded soldiers and their exact locations were ascertained from the inflammation caused by the application of such a plaster with a precision which would be sometimes welcome even in these days of Rontgen rays."

"उदर और पर्युदर (जख्मों) के संबंध में सुश्रुत ने जो सुझाव दिये हैं, उनका विस्तृत वर्णन हम यहाँ नहीं करना चाहते। हम अपने पाठकों से इतना ही कहना चाहते हैं कि वे सुश्रुत संहिता के इस

प्रकरण (चिकित्सा स्थानम् 2) के साथ किसी भी पाश्चात्य ग्रंथ में तत्सम्बन्धित प्रकरणों से तुलना करें। सैनिकों के शरीर में टूटकर रहे हुए टुकड़ों का पता लगाने के लिए, अनेक प्रकार की औषधियों के लेप (Medical Plasters) लगाए जाते थे और इन लेपों के कारण उत्पन्न सूज (वर्म) के कारण यह ठीक-ठीक पता चल जाता था कि टुकड़ा कहाँ है। इस पद्धति में इतनी त्रुटिहीनता है कि आज के रांटजेन किरणों के काल में वह स्वागत करने योग्य लगती है।"

यह दिखाई देता है कि उस काल में मूत्राशय से काटकर पथरी निकालने, अवयवच्छेदन, नेत्रशल्य क्रिया, प्रसूति विद्या (Midwifery), विच्छेदन (dissection) आदि क्रियाओं में पर्याप्त विकास हो चुका था। सुश्रुत ने नेत्र रोगों के छिहत्तर प्रकार निश्चित किए हैं जिनमें इक्यावन शल्य चिकित्सा के योग्य हैं। (सुश्रुत सं०, उत्तर तन्त्र, 8, भिषग्रत्न के द्वारा उद्धृत, Vol. I, pp. XIX ff)आवश्यक हुआ तो रोगी को संवेदनाहारी (anaesthetic)औषधि या मदीरा दी जाती थी अथवा सम्मोहिनी (hypnotism) विद्या का उपयोग किया जाता था। खान (1970) ने एक प्रसंग का उल्लेख किया है कि ई. सं. 927 में दो शल्यतंत्रज्ञों ने सम्मोहिनी विद्या का प्रयोग कर, एक राजा की खोपड़ी का टुकड़ा निकाल दिया और उसका रोग अच्छा हो गया।

इसी प्रकार विश्व शल्य चिकित्सा (surgery) का जनक सुश्रुत को ही कहना चाहिए।

'सुश्रुत संहिता' शल्य चिकित्सा का ग्रन्थ है। ऐतिहासिक सुश्रुत का काल ई. सं. की चौथी शताब्दी माना जाता है। लेकिन परंपरागत मतानुसार मूल सुश्रुत इससे कुछ शताब्दियाँ पहले का होना चाहिए। वह 'भिषग्रत्न' के मत से चरक से भी पूर्व का है। (Bhishagratna, I; 1963; pp. ii ff)।

आयुर्वेद के विकास के संदर्भ में ही भारतीयों की वर्गीकरण-व्यवस्थापन करने की सहज प्रवृत्ति के कुछ अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। विवेचन करने के लिए आयुर्वेद को दस भागों में विभाजित किया है- शरीर (Anatomy शरीर रचना), वृत्ति (शरीर-क्रिया Physiology), हेतु (कारण विज्ञान Etiology), व्याधि (Pathology), कर्म (Treatment), कार्य (उद्दिष्ट Objective), कर्तृ (वैद्य), कारण (औषध-उपाय), काल और विधि निश्चय (रे एड गुप्ता, 1965, पृ0 3)। इन विषयों को चरक ने आठ परिच्छेदों में (स्थानम्) विभाजित किया है - (1) सूत्रस्थान - सामान्य तत्व भूमिका आदि, (2) निदान-स्थानम्- रोगों के कारण, (3) विमानस्थानम्- रुचि-अन्न, विकार विज्ञान (विकृति विज्ञान - Pathology), (4) शरीरस्थानम् - शरीर रचना, भ्रूण अथवा गर्भ विज्ञान, (5) इंद्रियस्थान - निदान और फलानुमान या प्रागनुमान (Diagnosis and Prognosis), (6) चिकित्सास्थानम् - उपाय उपचार, अभिक्रिया (Treatment), (7) कल्पस्थानम्- औषध क्रिया, रसायन क्रिया (Pharmacy)और (8) सिद्धिस्थानम् - रोगमुक्ति, स्वास्थ्य (रे एण्ड गुप्ता, पृ० 5)। रे और गुप्ता (1965) ने विभिन्न प्रकार के वर्गीकरण के उदाहरण के रूप में बाहर पृष्ठों में एक बड़ी सूची प्रस्तुत की है (पृ० 26-27)। उसमें वर्ष भर के दिनों में औषध योजना की दृष्टि से एक वर्गीकरण किया गया है। यह काल के दृष्टिकोण से वर्गीकरण है। इसी तरह, देश, प्राणी, वनस्पति आदि अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार के वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं। प्राणियों की वर्गीकरण एक दृष्टि से चार प्रकार का है तो दूसरी दृष्टि से ग्यारह प्रकार का है। निजशरीरदोष, आगंतुज (सांसर्गिक) और मानस रोगों के वर्गीकरण किये गये हैं (चरक संहिता, सूत्र 11.46)

विषयक (गुल्म = प्लीहा, पित्त। जामनगर वाली प्रति में इस शब्द का अर्थ उदर का फोड़ा बताया है। विवेचन करते समय, एक विशिष्ट स्तर तक पहुँचने के बाद वह स्पष्ट कहता है कि यहाँ से आगे कुछ और कहने का अधिकार सिर्फ धन्वन्तरियों (धन्वंतर या सुश्रुत संप्रदाय के व्यक्तियों) को ही है। क्योंकि उन्हें शरीर छेदन करने, रोगों के मूल कारण खोजने, नवीन अंग आरोपित करने आदि की आदत है। (तत्र धान्वंतरीयाणां अधिकारः वैद्यानां कृत योग्यानां व्यधशोधनरोपणे। -चरक सं०, चिकित्सा 5.14)

इसी प्रकार आगे नेत्र रोगों के छियानबे प्रकारों का वर्णन करने के बाद चरक कहता है, "इनके लक्षण और इलाज शालाक्य तन्त्र ग्रन्थों (शल्यक्रियाशास्त्र, Surgery ग्रन्थ)में देखें। यह विषय दूसरों की अधिकार कक्षा में होने के कारण हम उसका सविस्तार विवेचन नहीं करेंगे। (तेषां अभिव्यक्तिरभिप्रतिष्ठा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सतम् एव। पराधिकारे तु न विस्तारोक्तिः शस्तेति तन्त्रे नः प्रयासः। -चरक सं०, चिकित्सा 26131)

विडम्बना है चिकित्सा शास्त्र की, जो ज्ञान हमें ऋषि-मुनियों से हजारों वर्ष पहले विरासत में मिली थी उसे हम पहचान कर उसका सम्मान भी न कर सके, जिसे आज पूँजीपति देश उसी ज्ञान को विकसित कर विकसित देश बन बैठे हैं और हम सभी तकनीकी ज्ञान के लिए उनके मोहताज बन बैठे हैं।

आज चिकित्सा के क्षेत्र में नैतिकता का प्रश्न एक ज्वलन्त समस्या बनी हुई है। जो विद्या हमें ऋषियों के द्वारा मानव के कल्याण के लिए मिली थी। मानव के हित और अहित को ध्यान में रखकर मानव के कल्याण के लिए ही समर्पित हो, ऐसा शपथ ग्रहण करवाया जाता था, आज भी चिकित्सा ज्ञान प्राप्त करने के बाद उपाधि लेते समय वही शपथ ग्रहण करवाया जाता है। मगर ज्योंहि वे डॉक्टर की उपाधि ग्रहण कर लेते हैं; वे पूर्णतः व्यावयासिक बन बैठते हैं और चिकित्सा क्षेत्र में नैतिकता का प्रश्न एक ज्वलंत समस्या बन जाती है। साथ ही यह मानव के कल्याण का न होकर उसके लिए अहितकर साबित होने लगा है। बात सिर्फ पैसे कमाने तक ही सीमित नहीं रह गयी, बल्कि चिकित्सक का चारित्रिक पतन एक ऊँचाई तक पहुँच गया है। ऐसा एक उदाहरण बाम्बे की एक महिला अरूणा की कथा है जो 37 वर्षों से लगातार अस्पताल में भर्त्ती है और वह बेहोशी की अवस्था में है। उसकी बेहोशी की अवस्था में भी डॉक्टरों ने उसके साथ चार बार बलात्कार किया। यह दिल को दहला देने वाली घटना है कि क्या वह डॉक्टर मनुष्य है या पशु। यदि जीवन की रक्षा करने वाले ही उसका भक्षण करने लगे तो सृष्टि में अनर्थ हो जायेगा और यह अनर्थ हो भी रहा है। सिर्फ पुरुष चिकित्सक का ही स्तर नीचे नहीं गिरा है, बल्कि महिला चिकित्सक भी उनके सहयोगी बन बैठी हैं।

आज भ्रूण हत्या, एक बहुत बड़ी समस्या बनी हुई है। इस पर रोक लगाने के लिए सरकार ने कानून भी बनाये हैं। लेकिन इसका पालन जिस प्रकार होना चाहिए नहीं हो पा रहा है। महिला चिकित्सक अधिक पैसा लेकर यह काम बखुबी निभा रही हैं।

दूसरी ओर नाजायज गर्भपात भी करके महिला चिकित्सक रातो-रात पूँजीपति बन रही हैं। यह दोनों उदाहरण महिला चिकित्सक के लिए शर्मनाक घटना है। पहली बात एक स्त्री होकर भी स्त्री

स्वयं लड़की पैदा नहीं करना चाह रही है, पुत्र की आकांक्षा उसकी समाप्त नहीं होती है क्योंकि पुत्र होने पर समाज में वो अपने आपको सम्मानित महसूस करती है। दूसरी घटना नाजायज गर्भपात की है। यह समस्या समाज में भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में महिला चिकित्सक की भूमिका को प्रमुख स्थान देती है। यदि महिला चिकित्सक इस तरह की घटना की छानबीन करके समाज के सामने लायें, तो वो भ्रष्टाचार को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकती है। एक और बात ध्यान देने की है। भ्रूण हत्या पर सरकार ने कड़ा रूख अपनाकर कानून और सजा का भी एलान किया, इसका परिणाम हुआ कि यह काम डॉक्टर चुपके-चुपके पैसे की खरीद-बिक्री करने लगे और जब बच्चा पैदा हुआ तो आपस में पैसे का लेन-देन अंदर ही अंदर हो जाता है। अब आप ही बताइए कि जब डॉक्टर और मरीज के बीच की समझदारी यदि इस स्तर पर आकर गिर जाये, तो आप किस मुँह से चिकित्सक के नैतिकता की बात करेंगे। यहाँ जितना दोषी चिकित्सक है, उससे भी कहीं अधिक मरीज स्वयं है।

भारत एक गरीब देश है, यहाँ कि अधिकतर जनता कृषि पर आश्रित है। ऐसी जनता को डॉक्टर पैसे के लिए उनकी जिन्दगी से खेल लेते हैं। ऐसी भी घटना सुनने में आयी है कि बेहोश मरीज का किडनी निकालकर बेच देते हैं और कई बार गरीबी के कारण स्वयं जनता भी पैसे के लोभ में अपना किडनी देने को तैयार हो जाती है। यह है आज के चिकित्सक की व्यावसायिक नैतिकता।

चिकित्सकों की व्यावसायिक नैतिकता राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक गिर चुकी है। किडनी का व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक व्याप्त हो चुका है। दूसरी ओर दवा बनाने बाली बड़ी-बड़ी कम्पनीयों राष्ट्रीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक ये सभी चिकित्सकों के नैतिक मूल्य को अपनी पूँजी से खरीद चुके हैं। चिकित्सक वही दवा लिखते हैं जो कम्पनियाँ उन्हें अच्छा से अच्छा उपहार देते हैं। कौन सी दवा में कितना अधिक गुण है और किस मरीज को कौन सी दवा ज्यादा फायदेमन्द होगा, इसकी परवाह उन्हें नहीं है। आप छोटे-छोटे से बीमारी के लिए भी जाइये तो सामान्य जाँच की चीजें तो करवायेगें ही, उससे आगे बढ़कर जिस जाँच की आवश्यकता मरीज को नहीं है, उसकी भी जाँच करवा लेते हैं, वह भी किसी विशेष केन्द्र पर, जहाँ से उनका लेन-देन होता रहता है। यदि रिपोर्ट वहाँ का नहीं मिला तो वो या तो रिपोर्ट देखते ही नहीं हैं या फिर उसे फेंक डालते हैं। यह हुआ बड़े-बड़े चिकित्सक का चरित्र, जो राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लब्ध प्रतिष्ठित हैं। बड़े-बड़े शहरों के बड़े-बड़े अस्पतालों की बात क्या की जाए, वहाँ तो और भी गिरावट है। बिना पैसे के मरीज को छूते भी नहीं हैं। उनकी जिन्दगी मौत की स्थिति में भी कोई सहानुभूति नहीं है। तभी तो आज के चिकित्सक का एक पाँव अपने देश में तो दूसरा पाँव विदेश में होता है। वह आज के भगवान् बन बैठे हैं। इस प्रकार अनर्थ हो रहा है आज के मरीजों के साथ।

भूमण्डलीकरण के युग में आज हम एक-दूसरे की संस्कृति के प्रभाव में आकर अपनी-अपनी संस्कृति के अच्छे गुणों को भूलकर बुरे गुणों को आसानी से ग्रहण करने लगे हैं। काबिलियत है अच्छे गुणों को ग्रहण करने में न कि अवगुणों को अपनाने में।

भगवान् ने सृष्टि में स्त्री-पुरुष दोनों को समान महत्त्व एवं सम्मान दिया है। दोनों के बिना यह सृष्टि संहार की ओर अग्रसर हो जायेगी। अत: आवश्यकता है शुभ संकल्पों एवं शुभ आदर्शों को

अपनाने की ताकि यह सृष्टि अविचल चलती रहे। भगवान् की यह रचना सदा वन्दनीय रहे, यही हमारा आदर्श हो।

सन्दर्भ-सूची

1. The Charak Samhita : Edited and published by Shree Gulabkunverba, Ayurvedic Society, Jamnagar, India 6 Vols, 1949. Orisinal Sanskrit with translations in Hindi, Gujarati and English.
2. The Charak Samhita : Ed. by A. Kaviratur, Calcutta, 1899. Agniveses's Charak Samhita : Text with English Translation and critical exposition based on Crkrapani Dutta, Ayurveda Dipika. Vol. I Sutra Sthaha, by R.K. Sharma of V.B. Das, Chowkhamba Sanskrit series, Varanashi, 1976.
3. Roy. P.C. History of Hindu Chemistry. 2 Vols. London, I-1907, Ii-1925. This work went out of print by 1935.
4. Ray, Priyalaranjan : History of Chemistry in Ancient and Medieval India incorporating the Hist, of Hindu Chemistry by Acharya P.C. Roy, ind. Chem.Society, Calcutta, 1956.
5. Ray, Priyalaranjan of Gupta, H.N. Charak Samhita : (Scientific Synapsis) National Institute of India, New Delhi, 1965.
6. The Susruta Samhita : Translated into English by K.L. Bhishagratnar. 3 Vols. Chowkhamba, Sanskrit series, 2 nd ed. Varanasi, 1963.
7. The Susruta Samhita : Translated into English by A.F.R. Hornle. Asiatic Society, Calcutta, Luzac of Co. London, 1897.

संस्कृत

अष्टांग योग

डॉ० मनीषा भट्ट

एम.ए., बी.एड., पीएच.डी.

भारतीय दर्शन छः प्रकार की विचारधारा है। सांख्य योग (कपिल पतंजलि मुनि रचित है न्याय वैशषिक दर्शन के पुरष्कर्ता कणाद जैमिनी ऋषि है। पूर्व मिमांसा उत्तर मिमांसा के पुरष्कर्ता कुमारिल भट्ट है। षट् विचारधारा अपने आपसे महत्वपूर्ण है परंतु योगदर्शन अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि वह हिन्दुजीवन की जीवनशैली पद्धति से सीधा संबंधित है और अधिक व्यावहाकिर एवम् उपयोगी है।

योग शब्द संस्कृत में युज् धातु से बना है जिसका अर्थ जोड़ना होता है, आत्मा-परमात्मा का मिलन, जीवात्मा का शिवात्मा से जोड़ना आदि अर्थ इससे अभिप्रेत है।

पतंजलि मुनि ने योग के आठ अंग बताये हैं। पतंजलि योगसूत्र जीवन जीने की कला सिखाता है। साधन पाद-2.11 सूत्र में अष्टांग योग का उल्लेख मिलता है।

यमन्यिमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।।29।।

(संदर्भ-1 पतंजलि योगदर्शन)

अर्थात् यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग है।

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रह यमाः ।। 30 (संदर्भ- पतंजलि योगदर्शन)

इस सूत्र में सूत्रकार पतंजलि ने पांच यम बताये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है।

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

(संदर्भ-3 पतंजलि योगदर्शन)

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति- ये पांच नियम है।

अहिंसा

अहिंसा का अर्थ हिंसा न करने, अपने स्वार्थ के लिये, अपने उपयोग के लिये, अपने आनंद के लिये, किसी को भी हानि नहीं करना, किसी को मारना, किसी की हत्या करना ही हिंसा नहीं है, किसी का मन से बुरा चाहना भी हिंसा है। द्वेष भाव भी हिंसा है, मानहानि करना भी हिंसा है। अहिंसा का अर्थ एवं भाव बहुत विशाल है। मन में किसी के प्रति नफरत या बैर का भाव न होना, सब प्राणी के प्रति सद्भावना रखना भी अहिंसा है। भगवान पतंजलि कहते हैं कि अपने मन में अहिंसा का भाव

दृढ़ होने से परस्पर बैर रखने वाले प्राणी भी बैर भावना छोड़ देते हैं। इसलिए महावीर स्वामी ने भी कहा है ''अहिंसा परमो धर्म:''।

सत्य

सत्य को साक्षात् ईश्वर माना गया है। जो भाव मन में है वैसा ही वाणी रखना और ऐसा ही आचरण करना सत्य के पालन से द्वेष, ईर्ष्या, कपट-अप्रमाणिकता जैसे दोष भी दूर रहते हैं क्योंकि इन सब में असत्य भाषण करना पड़ता है।

मन में किसी को मारने की, गाली देने की इच्छा आदि आचरण करना असत्य है। सत्य का आधार एवम् मूल अहिंसा है।

मन में द्वेष रखना और मुख से मधुर भाषण करना भी असत्य है।

सत्य से वाणी प्रभावी बनती है, आशीर्वाद और शाप का असर होता है, इसलिए सत्य भाषण का बड़ा ही प्रभाव होता है।

अस्तेय

दूसरे के स्वत्व का अपहरण करना, छल से या अन्य किसी उपाय से अन्याय पूर्वक उसे अपना बना लेना चोरी है। इसमें सरकारी टेक्स या चोरी और घुसखोरी भी शामिल है। इन सब प्रकार की चोरियों के अभाव का नाम अस्तेय है। अपने बिना हक की वस्तु अपने पास रखना भी चोरी है। इन सब प्रकार की चोरियों के अभाव का नाम अस्तेय है।

अस्तेय मनुष्य को संयमित बनाता है।

ब्रह्मचर्य

गरूड़ पूर्व आचार 237/6 में कहा गया है- ".....कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा सर्वत्र मैथुन त्यागी ब्रह्मचर्य प्रयक्षते"।।

मन वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों को सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके, सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। अत: साधक को चाहिये कि न तो कामदीपन करने वाले पदार्थों का सेवन करे, न ऐसे दृश्यों को देखे, न ऐसी बातों को सुने, न ऐसे साहित्य को पढ़े और न ऐसे विचारों को ही मन में लावे। स्त्रियों का और स्त्री से आसक्त पुरूषों का संग भी ब्रह्मचर्य में बाधक है। अत: ऐसे संग से सदा सावधानी के साथ अलग रहे।

दूसरे अर्थ में लिया जाये तो ब्रह्मचर्य आत्म संयम का दूसरा नाम है। आत्मसंयमी मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करते हैं।

अपरिग्रह

अपने स्वार्थ के लिये ममतापूर्वक धन, संपत्ति और भोग सामग्री का संचय करना परिग्रह है और इसके अभाव का नाम अपरिग्रह है।

अपनी आवश्यकताओं को न्यून कर सादगीपूर्ण जीवनचर्या का पालन करना अपरिग्रह है। अपने जीवन में वस्तुओं का मोह न रखना अपरिग्रह का मूलमंत्र है। अपरिग्रहधारी मनुष्य कभी दरिद्र नहीं होता। अकिंचन होने पर भी समृद्ध होता है। अपरिग्रह ऐसा गुण है जो मनुष्य को नीतिमान एवं प्रामाणिक बनाता है।

यह पांच यम महाव्रत है जो सार्वभौम है। देश-स्थान-काल की सीमा से परे है। उसका पालन मनुष्य के लिये उन्नति कारक है।

नियम भी पांच है।

शौचः शौच यानि पवित्रता शुद्धि, स्वच्छता। हरिप्रसाद गोयंका लिखते हैं कि जल मृत्तिकादि के द्वारा शरीर, वस्त्र और मकान आदि के मल को दूर करना बाहरी शुद्धि है। इसके सिवा अपने वर्णाश्रम और योग्यता के अनुसार न्यायपूर्वक धन को, शरीर निर्वाह के लिये आवश्यक अन्न आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त करके उनके द्वारा शास्त्रानुकुल शुद्ध भोजनादि करना तथा सबके साथ यथायोग्य पवित्र बर्ताव करना – यह भी बाहरी शुद्धि के ही अन्तर्गत है। जप तप और शुद्ध विचारों के द्वारा एवं मैत्री आदि की भावना से अन्तःकरण के राग द्वेषादि मलों का नाश करना भीतर की पवित्रता है। (पतंजलि योगदर्शन- संदर्भ- 5।)

संतोष

संतोष श्रेष्ठ गुण है। कर्तव्य पालन करते हुए जो भी प्रारब्ध के अनुसार मिले, उसमें संतुष्ट रहना संतोष है। असंतोष मनुष्य को अस्वस्थ कर देता है। अनीति अप्रमाणिकता की ओर ले जाता है। 'संतोषी नर सदा सुखी' यह कहावत सार्थक है। साधना मार्ग में संतोष व्यवधान डालते हैं।

तप

उदात्त लक्ष्य के लिये कठोर परिश्रम करना तप है। कष्ट को सहना प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना तप है। तप अग्नि के समान है – तप से मन की अशुद्धि जल जाती है। जिस प्रकार सोना अग्नि में तप कर शुद्ध होता है, उसी तरह मनुष्य भी तप से शुद्ध एवं पवित्र होता है। बिना तप के इष्ट की प्राप्ति नहीं होती।

स्वाध्याय

'स्वेन अधीयते इति स्वाध्यायः' अर्थात् स्व-अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। प्राप्त ज्ञान का चिंतन-मनन करना, ज्ञान को आत्मसात करना आदि योग के साधकों के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही लक्ष्य प्राप्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वाध्याय आवश्यक है।

स्वाध्याय का दूसरा अर्थ स्व का अध्ययन करना होता है अर्थात् स्व मूल्यांकन, आत्मनिरीक्षण, आत्म परीक्षण आदि। स्वाध्याय से बुद्धि स्पष्ट और निर्मल होती हैं।

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान यानि ईश्वर प्रति दृढ़ श्रद्धा। ईश्वर कहता है कि हम तो केवल निर्मित हैं। सुख और दुःख दोनों को ईश्वर का प्रसाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना ईश्वर प्रणिधान परमात्मा प्राप्ति

का सरल मार्ग है। यम-नियम योगाभ्यास के लिये नींव के पत्थर के समान है। वह ऐसा सद्‌गुण है जो मनुष्य को देवत्व, शिवत्व प्राप्त कराते हैं। बिना सद्‌गुण से अगर योग से सिद्धि प्राप्त हो भी गई तो मनुष्य उसका उपयोग ध्वंस के लिये ही करेगा। यम-नियम मनुष्य को सज्जन बनाता है और सज्जन के पास जो शक्ति होती है, वह समाज के हित में ही होती है।

आसन

योग का तीसरा अंग है आसन।

आसन से शरीर स्वस्थ, सुदृढ़ एवं संतुलित होता है। एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का वास होता है। इसलिये आसन से मन भी स्थिर, एकाग्र शांत रहता है- 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। योग का प्रथम सोपान है शरीर को स्वस्थ रखना, जो आसन से प्राप्त होता है।

प्राणायाम

प्राण के आयाम को प्राणायाम कहते हैं। प्राण को सुव्यवस्थित, सुनियंत्रित करना ही प्राणायाम है। प्राण जीवन शक्ति है। प्राण जितना बलवान होता है, जीवनशक्ति उतनी ही प्रबल होती है। ये प्राण प्राणायाम से बलवान होता है। प्राणायाम से नाड़ी शुद्धि, रक्त शुद्धि होती है। बुद्धि विकसित होती है। अज्ञान-जनित अंधकार का नाश होता है। ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होता है।

प्रत्याहार

हमारी ज्ञानेन्द्रियां बाह्य जगत् के संपर्क में होती है। श्रोत्र, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका बाह्य जगत् के संपर्क में होता है। इन्द्रियाँ विषयों में लीन रहती है। इन्द्रियों को विषयों से खिचना-जिहवा स्वाद का अनुभव करती है, परंतु मन को इस स्वाद से अलिप्त रखने का नाम ही प्रत्याहार है। इन्द्रियों का विषय वे साथ जो संपर्क है वह मन के पास न आये, उसको ही प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से मन का अंतर्जगत् के साथ संपर्क प्रारंभ होता है।

धारणा

योगशिक्षा में कहा है- "इन्द्रियां प्रत्याहार से अंतर्मुखी होते जाने से मन का भटकना बंद हो जायेगा। इसलिये मन पसंद के विषय पर एकाग्र हो जाता है। इसे ही धारणा कहते है।" (संदर्भ-6) मानसिक शक्ति का विकास होता है, एकाग्रता प्राप्त होती है।

ध्यान

परिपक्व धारणा को ही ध्यान कहते हैं। साधक की उच्चतम दशा है। ध्यान सहज होता है।

समाधि

समाधि परमात्मा का साक्षात्कार होता है। ध्यान और समाधि अनुभव के विषय हैं। इसमें शिव-जीव का एकात्म होता है। साधक की आध्यात्मिक उच्चतम सिद्धि ही समाधि है।

सामान्य मनुष्य और आध्यात्मिक के पथिक दोनों के लिए अष्टांग योग जीवन जीने की संजीवनी है। महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र में वे अष्टांग योग प्राण होता है। मनुष्य मुक्ति प्राप्त करके परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.53
2. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.55
3. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.55
4. गरूड पूर्व आचार, (237/6) पृ. 60
5. योगदर्शन हिन्दी व्याख्यासहित, पृ. 6
6. योग शिक्षा, पृ. 30।

संस्कृत

भगवद्गीता में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान योग की अवधारणा

डॉ० वीरेन्द्र कुमार सिंह

पीएच०डी०, नेट (यू.जी.सी.), विश्वविद्यालय टॉपर, देवघर

महाभारत के भीष्म पर्व का एक अंश 'भगवद्गीता' भारतीय दार्शनिक साहित्य का श्रेष्ठतम ग्रन्थ है, जिसकी श्रेष्ठता का संकेत किसी ग्रन्थ का लोगों के मन मस्ष्तिक पर पड़ने वाले प्रभाव से स्पष्ट होता है। अर्जुन को अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश का संकलन भगवद्गीता, वैदिक एवं औपनिषदिक संस्कृति का मूल, फूल और फल है। गीता सुनने के लिए महर्षि वेद व्यास ने जिस परिस्थिति का चयन किया, उससे अधिक उपयुक्त परिस्थिति सम्भवतः सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में नहीं मिल सकती थी। गीता ध्यान नामक ग्रंथ में कहा गया है:–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

''सब उपनिषद् गायें हैं, जो दूध दुहा गया है वही मधुर गीतामृत है।''

भगवद्गीता ऐसा भारतीय साहित्य है जो पश्चिमी देशों में भी प्रचलित है। मूल रूप से यह नीतिशास्त्र का ग्रंथ है जिसमें औपनिषदिक दर्शन की न केवल तत्वमीमांसा अपितु उससे निगमित कर्त्तव्यशास्त्र को भी सुंदर ढंग से प्रतिपादित किया गया है। जिन परिस्थितियों में भगवद्गीता कही गई, वे सम्भवतः जीवन की जटिल परिस्थितियाँ थीं। ऐसी भीषण परिस्थिति में अर्जुन को क्या करना चाहिए, उसे अपने कर्त्तव्य का पालन क्यों करते रहना चाहिए, यही बताने के लिए कृष्ण को गीता का उपदेश देना पड़ा। उपदेश सुनने के पश्चात् अर्जुन का अज्ञान दूर हो गया और वह परिस्थिति विशेष से युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। यदि इसे उपक्रम, उपसंहार एवं अभ्यास की कसौटियों पर कसा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि भगवद्गीता का तात्पर्य कर्त्तव्य पालन या कर्म है। गीता कर्म करने की वह कला सिखलाती है जिससे कर्मों का दोष कर्त्ता को न लगे। गीता में कर्म करने की कुशलता या कला को ही योग कहा गया है– ''योगः कर्मसु कौशलम''। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अनुसार, ''गीता का कर्मयोग ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग है।'' अहंकार से रहित होकर परमेश्वर के प्रति समर्पण भाव से कर्त्तव्य पालन करना गीता की शिक्षा का मुख्य विषय है।

समन्वय भारतीय संस्कृति का प्राण है और भगवद्गीता का सन्देश हर युग में मानवता को प्रेरणा देता रहा है। सम्भवतः उसका मूल कारण है उसमें विभिन्न साधना पद्धतियों का समन्वय कर उनमें अवरोध दर्शाया गया है। गीता के संदेश की सार्वभौमिकता का रहस्य यही है कि उसमें सभी रूचियों

एवं प्रवृत्तियों के लोगों को अपने अनुकूल सन्देश प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि भगवद्गीता की जितनी अलग-अलग प्रकार से व्याख्याएँ की गई, उतनी सम्भवत: किसी अन्य ग्रंथ की नहीं। वैष्णव वेदान्तियों ने इसकी व्याख्या की, जिसमें प्रतिपादित किया गया कि परमेश्वर की प्राप्ति केवल भक्ति से हो सकती है और उसके प्रति पूर्ण समर्पण या उसके शरणागत होना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। आचार्य शंकर एवं उनके शिष्यों की व्याख्या ज्ञानपरक है, जो यह प्रतिपादित करती है कि मोक्ष की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है ओर उसमें कर्म की कोई भूमिका नहीं है। तीसरे वर्ग की व्याख्या कर्म प्रधान है जिसकी वकालत लोकमान्य तिलक करते हैं, जिसमें वे बताते है कि निष्काम भाव से कर्म करते रहना ही गीता का सन्देश है एवं इसी से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। कुछ विचारकों का मानना है कि भगवद्गीता कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों को समान महत्व प्रदान करती है। उनके अनुसार गीता का पहला छ: अध्याय ज्ञान मार्ग का एवं अन्तिम छ: अध्याय भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करता है। यानि गीता में तीनों मार्गों को एक साथ गूँथ कर ऐसी साधना पद्धति विकसित किया गया है, जिसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं। स्थितप्रज्ञ ऐसा व्यक्ति है जिसके व्यक्तित्व में एक निष्काम कर्मयोगी, एक उच्च कोटि के भक्त तथा एक पूर्ण ज्ञानी का दर्शन होता है। स्थितप्रज्ञ पूर्ण ज्ञानी के साथ-साथ एक उच्च कोटि का भक्त भी होता है, जो स्वयं को ईश्वर को केवल एक निमित्त समझकर सब कार्य करता है। यही नहीं, एक निष्काम कर्मयोगी भी केवल लोग संग्रह के लिए निष्काम भाव से स्वधर्म का पालन करता है।

कर्मयोग

कर्मयोग के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार कर्म के द्वारा हो सकता है। ईश्वर साक्षात्कार के लिए कर्म को दोड़ने की आवश्यकता नहीं है। कर्म करते हुए भी जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। यही कर्मयोग का सार है। कर्मयोग के सिद्धांत को गीता के इस श्लोक में सुंदर ढंग से दर्शाया गया है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा तेऽसंगोस्त्वकर्मणि।।

''तेरा कर्म मात्र में ही अधिकार होवे, फल में कभी नहीं, और तू कर्मों के फल ही वासना वाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे।

इस श्लोक के चार चरण हैं, जिसके प्रत्येक चरण में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। चारो चरण इतने महत्वपूर्ण हैं कि लोकमान्य तिलक इन्हें कर्मयोग शास्त्र या गीता धर्म की चतु:सूत्री कहते हैं। इस श्लोक में बतलाया गया है कि मानव का केवल कर्म में ही अधिकार है, उसके फल में नहीं। गीता में बतलाया गया है कि व्यक्ति केवल कर्म करे, फल की आशा न करे, यही श्रेयस्कर मार्ग है। यदि व्यक्ति को फल के प्रति आसक्ति नहीं होगी तो फल प्राप्त न होने पर भी वह निराश नहीं होगा और एक आस्थावान व्यक्ति बना रहेगा। भगवद्गीता कहती है कि ''न तो तेरी कर्म के अपेक्षित एवं सम्भावित फल में आसक्ति हो, न तेरे कर्तव्य करने की प्रेरणा बने और अन्त में तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे।'' अत: व्यक्ति को आलस्यवश, प्रमादवश या भयवश

अपने कर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। मनुष्य को स्वधर्म का आचरण करना चाहिए। यह स्वयं की अत्यन्त ही व्यापक धारणा है जिसमें मनुष्य के सामाजिक दायित्व, उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के अनुसार उसकी कार्य करने की क्षमता, उसका स्वभाव, रूचियाँ, सामर्थ्या सबका समावेश हो जाता है। गीता में दूसरों के धर्मो को भयावह और स्वधर्म का आचरण करते हुए मर जाने को श्रेयस्कर कहा है। व्यक्ति को निष्काम भाव से या फल के प्रति अनासक्त भाव से अपना स्वध र्म करना चाहिए। अनासक्त भाव का तात्पर्य है संभावित फल के प्रति निर्लिप्त रह कर ऐसी मानसिकता से रहना कि फल प्राप्त हो गया तो ठीक है और यदि नहीं भी प्राप्त हुआ तो भी कोई बात नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे कमल जल में रहते हुए भी उसमें भींगता नहीं। व्यक्ति को कार्य करना है। अनासक्त भाव से काम करने वाला व्यक्ति, यदि उसे अपने कर्मो का अपेक्षित फल प्राप्त नहीं हुआ तो निराश नहीं होगा। इसलिए महात्मा गाँधी ने अनासक्ति शब्द को भगवद्गीता की चाबी कहा है और अपनी गीता पर व्याख्या का नाम अनासक्ति योग रखा है।

भक्ति योग

ईश्वर से युक्त होने का वह मार्ग जो भक्ति के जनपथ से ईश्वर तक पहुँचाता है, भक्ति योग कहलाता है। भारतवर्ष में भक्तिमार्ग की तथा भक्तों की एक लम्बी परम्परा रही है। भक्ति का अत्यन्त ही सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में नौ प्रकार की भक्ति की चर्चा की गई है।

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्।।

ईश्वर के नाम का श्रवण करना, उसका भजन-कीर्त्तन करना, उसे निरन्तर स्मरण करते रहना, उसके चरणों की सेवा करना, उसकी अर्चना करना तथा वन्दना करना, स्वयं को उसका सेवक समझकर उसकी आज्ञा का पालन करना एवं स्वयं को ईश्वर का मित्र समझकर उसके प्रति मित्रवत् व्यवहार करना तथा ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन करना- ये नौ भक्ति के भेद हैं। व्यक्ति किसी भी भाव से भक्ति कर सकता है। भक्ति मार्ग उनलोगों के लिए अनुकूल है जो भावना प्रधान हैं। अपने रूचि और स्वभाव के अनुरूप ईश्वर को किसी भी भाव से भजा जा सकता है। भक्ति में एक तत्व सामान्य है। भक्त का अहंकारशून्य होकर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पणभाव। जब भक्त ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण कर देता है तो उसकी चिंता स्वयं ईश्वर को करनी पड़ती है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यदि तुम्हें इनमें से कोई भी मार्ग रूचिकर नहीं लगता है तो तू इन सब को छोड़कर केवल एक काम करो, मेरी शरण में आ जाओ, फिर तेरे कल्याण की चिंता मैं करूँगा।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्ष्यस्यामि माशुचः।। (18.66)

जो व्यक्ति अपने को ईश्वर को समर्पित कर देता है, ईश्वर उसके भार का वहन स्वयं करते है। जैसे बिल्ली अपने बच्चे को मजबूती से पकड़कर सुरक्षित स्थान तक पहुँचा देती है, उसके बच्चे को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, सिर्फ माँ के प्रति पूर्ण समर्पण आवश्यक है, ठीक वैसे ही जब भक्त ईश्वर के प्रति पूर्णरूप से समर्पित हो जाता है तो फिर उसकी सभी चिन्ताओं को ईश्वर देखता है और दूर करता है।

ज्ञान योग

ज्ञान योग समीम का असीम से अपरोक्षानुभूति के माध्यम से मिलन है। यह अणु आत्मा का यह अनुभव करना है कि वह विभु परमात्मा से भिन्न नहीं है। ज्ञान के तीन स्तर होते हैं। तामस ज्ञान, इस शरीर को ही आत्मा समझना या किसी मूर्ति को ही ईश्वर समझना है। राजस ज्ञान, विभिन्न शरीरों में रहने वाली आत्माओं को एक-दूसरे से ऐसे भिन्न समझना है जिनमें एकता का कोई आधार नहीं है। सात्विक ज्ञान, ऐसा ज्ञान है जो विभिन्न शरीरों में तथा संसार के विभिन्न पदार्थों में एक ही परमतत्व का दर्शन करता है। ज्ञान के उपरोक्त तीन प्रकारों को साधारणतया क्रमशः सामान्य ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान और दार्शनिक ज्ञान कहा जा सकता है। साधक का संसार के विभिन्न जीवों में तथा संसार के विभिन्न पदार्थों में एक ही तत्व, परमपिता परमेश्वर के दर्शन करना ज्ञान योग की साध ना का लक्षण है। ज्ञानयोगी इस प्रकार की रहस्यमय अनुभूति करता है कि संसार के सब जीवों में एक ही परम तत्त्व परमेश्वर विद्यमान है तथा संसार के सब जीव एवं पदार्थ उसी परमेश्वर में स्थित है। इस प्रकार सात्विक ज्ञान या अपरोक्षानुभूति, सभी ज्ञानेन्द्रियाँ मन एवं सभी गुणों सात्विक, राजसिक एवं तामसिक सभी से उपर उठने से विद्यमान है। सभी प्रकार की स्वतः की इच्छाओं एवं भावनाओं को तिलांजलि देकर ईश्वर की इच्छा के लिए ही कर्म करना ज्ञानमार्गी का लक्ष्य होता है।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट होता है कि भगवद्गीता कर्म, भक्ति और ज्ञान, इन तीनों साधना पद्धतियों में समन्वय स्थापित करती हैं और ऐसी शिक्षा देती है जो इन तीनों प्रवृत्तियों वाले साधकों के लिए रूचिकर और सहज स्वीकार्य हों। ''कर्म-फल त्याग'' गीता की शिक्षा का केन्द्र है, इस शिक्षा को वह संकल्प प्रधान व्यक्ति के लिए, भावना प्रधान व्यक्ति के लिए एवं ज्ञान प्रधान व्यक्ति के लिए अलग-अलग प्रकार से प्रदान करती है। तीन अलग-अलग मनोवृत्तियों से कार्य करने पर भी परिणाम उन सबका एक ही होता है और वह है अनासक्त भाव से स्वधर्म का आचरण करना। इस प्रकार भगवद्गीता निष्काम भाव से कर्म करने की शिक्षा इस प्रकार देती है कि वह संसार में विविध स्वभावों और मनोवृत्तियों के लोगों के लिए रूचिकर लगती है। सब अपनी मनोवृत्ति, रूचि, स्वभाव एवं आवश्यकता के अनुसार अपना मार्ग चुन सकते हैं और इस पर आचरण कर सकते हैं। अतः कहा जा सकता है कि गीता में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का ऐसा समन्वय किया गया है जो कहीं अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है।

भूगोल

बदलते परिवेश में बिहार का रेशम उद्योग

डॉ० गोपाल कुमार एवं डॉ० संतोष कुमार

मगध विश्वविद्यालय बोध-गया, बिहार

प्रस्तावना

रेशम उद्योग के विषय में सर्वप्रथम चीन को जानकारी थी। वहाँ की राजकुमारी लोजन (Lotzn) ने इसका पता लगाया था। चीन ने इसमें काफी उन्नति की और 2000 ई.पू. से यह अन्य देशों को रेशमी कपड़ा भेजने लगा, चीन ने लगभग 250 वर्षों तक रेशम कीट से रेशम प्राप्त करने की विधि को गुप्त रखा, किन्तु दो पादरी, धर्म प्रचारक के रूप में चीन पहुँचे और उन्होंने वहाँ रहकर इस कीट के विषय में विस्तृत जानकारी हासिल की तथा वहाँ से कीट के अण्डे एकत्रित करके अपनी लाठियों के पोले भाग में भरकर कुस्तुनतुनियाँ ले गये। वहाँ से यह उद्योग एशिया, यूरोप व भारत में फैल गया, वर्तमान में विश्व में रेशम चीन, भारत, जापान, इटली, फ्रांस, कोरिया व स्पेन आदि देशों में पैदा किया जा रहा है।

महत्व

मधुमक्खी के पश्चात् रेशम कीट पालन ही ऐसा दूसरा लाभदायक कीट है जिससे मनुष्य को काफी लाभ मिलता है। प्राचीन काल में तो चीन ने सोने की तौल के बराबर रेशम कीट को बेचा था। आजकल इसका महत्व और भी बढ़ गया है। रेशम का सौन्दर्य, पवित्र एवं अनुत्तेजक है। यह सदियों से मानव का सबसे पसंदीदा वस्त्र व पोषाक रहा है तथा देवताओं के वस्त्र परिधान के रूप में इसका उल्लेख किया गया है। रेशमी साड़ियों व अन्य वस्त्रों के प्रति नारियों का रूझान, रेशम को अत्यन्त मूल्यवान बनाने में अत्यधिक उल्लेखनीय रहा है। रेशम उन्हें विस्मयकारी सौन्दर्य प्रदान करता है।

वस्त्रों के अतिरिक्त युद्ध में इसकी हवाई छतरियाँ, हस्तशिल्प बनाये जाते है। रेशम कीट के कृमिपोष से तेल व अन्य औषधियाँ बनायी जा सकती है। प्रोटीन अंश की दृष्टि से रेशम कीट विष्ठा (Silk Worm Liter) में इसकी मात्रा बहुत अधिक होती है जिसको गाय, बकरी, सूअर को पशु आहार के रूप में तथा खाद के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

भारत में रेशम उद्योग का स्थान

चीन के बाद विश्व में भारत का रेशम उत्पादन में दूसरा स्थान है। वह विश्व में लगभग 16 प्रतिशत रेशम यहाँ पैदा होता है। देश के कुल 6.29 लाख गांवों में से लगभग 60,000 गांवों के लगभग 3.6 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल पर शहतू की खेती रेशम उत्पादन के लिए की जा रही है। ग्रामीण

तथा शहरी क्षेत्रों में लगभग 57 लाख लोग इस उद्योग के जरिए अपनी आजीविका चला रहे है। देश में रेशम का वार्षिक उत्पादन लगभग 15 हजार मिट्रिक टन (MT) है। बेहतर निर्यात के द्वारा विदेशी मुद्रा आय 2500 करोड़ रूपय के पार कर गयी है। सन् 2005-06 में कुल रेशम उत्पादन में 17305 टन का रिकार्ड भारत ने दर्ज की है जो पिछले साल 2004-05 (16500 टन) की तुलना में 4.88 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। मलबरी कच्चे रेशम का उत्पादन 2005-06 में 15445 टन था जो पिछले वर्ष 2004-05 में 14620 टन के मुकाबले 5.6 प्रतिशत की वृद्धि दिखाती है।

वन्या रेशम अर्थात् टसर

वन्या रेशम अर्थात्	*टसर(टन)*	*ईरी(टन)*	*मूँगा (टन)*
2005 - 06	308	1442	110
2004 - 05	322	1448	110
घाटे की दर	4.3:	0.4:	अपरिवर्तन

सभी प्रकार के रेशम में 2004-05 की तुलना में 2005-06 में 1.06 प्रतिशत की कमी देखी गयी है। 11वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान शहतूत उत्पादन के साथ वन्या कच्चे रेशम का उत्पादन विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट होता है -

वर्ष	**शहतूत वृक्षारोपण** (Ha)	**शहतूत उत्पादन**		**वन्या कच्चे रेशम** (MT)	**कच्चा रेशम** (MT)	**कच्चा शहतूत रेशम उत्पादन** (kg/ha)	
		कूकून (MT)	कच्चा रेशम (MT)			कूकून	कच्चा रेशम
2007.08	184928	132038	16245	2075	18320	713.99	87.84
2008.09	177943	124838	15610	2760	18370	701.56	87.73
2009.10	183773	131661	16322	3368	19690	716.43	88.82
2010.11	170314	130714	16360	4050	20410	767.49	90.20
2011.12	181089	139871	18272	4788	23060	772.39	90.55
2012.13*	192126	142538	18755	4924	23679		

स्रोत - Central Silk Board , Updated on 30.05.2013

टसर के क्षेत्र में 1,40,000 आदिवासी परिवार भारत के अन्य राज्यों के द्वारा लगे हुए हैं। ये राज्य हैं- झारखंड, बिहार, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, पश्चिम बंगाल आन्ध्र प्रदेश, उत्तरप्रदेश और महाराष्ट्र। रेशम उद्योग आदिवासियों को लाभकारी रोजगार और आकर्षक आय देता है। हालांकि रेशम के धागे और कपड़े के उत्पादन के लिए गैर आदिवासियों को शामिल किया गया है। हमारे लिए फीड टसर रेशम और संबंधित मिश्रित रेशमी कपड़े के उत्पादन और आंतरिक बाजार के साथ निर्यात के रूप में लगभग एक लाख टसर और हथकरघा के लिए वर्तमान में काम करते हैं।

विभिन्न प्रकार के रेशम कीट

प्राकृतिक रूप से चार प्रकार का रेशम मिलता है, उसमें से शहतूती रेशम अधिक महत्वपूर्ण और रेशम उत्पादन में इसका लगभग 95 प्रतिशत योगदान है। अन्य तीन प्रकार के रेशम, टसर, मूंगा व ईरी है। अलग-अलग जाति के रेशम कीट भिन्न-भिन्न पेड़ों की पत्तियाँ खाकर रेशम बनाते हैं। विश्व

में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ चारो प्रकार के रेशम कीट व रेशम मिलता है, जिनका विवरण उपर्युक्त तालिका में दिया गया है।

रेशम का नाम	*भोज्य के रूप में पौधे*	*रेशम उत्पादन वाले राज्य*
मलवरी रेशम	शहतूत	जम्मू-काश्मीर, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु एवं 12 गैर परम्परागत राज्य
टसर रेशम	अर्जुन, आसन, ओक, प्रजातिया	बिहार, मध्य प्रदेश, एवं उड़ीसा
मूँगा रेशम	सेम, साल	मणिपूर, मिजोरम, नागालैण्ड, अरूणाचल प्रदेश, मेघालय
ईरी रेशम	अरण्डी, कसेरू	बिहार, पश्चिम बंगाल, मणिपुर, त्रिपुरा, उड़ीसा, असम, मध्य प्रदेश

वर्तमान में बिहार के रेशम उद्योग

रेशम उद्योग कृषि आधारित गृह उद्योग है। बिहार जैसे पिछड़े राज्यों के लिए जहाँ बेरोजगारी की समस्या है, वहाँ यह उद्योग लाभकारी सिद्ध हो सकता है। यह उद्योग हमारे गांव की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के अनुरूप है, जो आदिवासियों व आर्थिक रूप से कमजोर लोगों की स्थिति सुधारने में लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। साथ ही पर्यावरण प्रदूषण व शहरों की ओर ग्रामीणवासियों के पलायन जैसी समस्याओं से भी निपटा जा सकता है।

बिहार में भागलपुर क्षेत्र में रेशम उद्योग के विकास की भारी संभावना है। इसी लिहाज से भागलपुर को 'भारत का रेशम नगर कह कर लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया जा रहा है। इसकी मांग भी अब विशेषज्ञ करने लगे है। वैश्विक रेशम बाजार में भागलपुर पूरी जोर लगाने को तैयार है। भागलपुर भारत में टसर का उत्पादन एवं निर्यात करता है।

हथकरघा और रेशम निदेशालय उद्योग विभाग, बिहार सरकार एक सार्वजनिक निजी भागीदारी (PPP) में रेशम के इस प्रकार के वाणिज्यिक उत्पादन के लिए तैयार है। यह चीन, थाइलैंड और जैविक रेशम के उत्पादन करने वाले अन्य देशों के चुनौती से जकड़ा हुआ है।

केन्द्रीय रेशम बोर्ड भारत सरकार और रेशम निदेशालय का संयुक्त उपक्रम के तहत भागलपुर, बांका जिले में कटोरिया से (Kotoria) और बाउन्सी (Bounsi) प्रखण्ड में देश के 350 से अधिक हेक्टेयर में पाला जा रहा है। पेड़ो को उगाने के लिए उन भूमि का चयन किया गया है, जो बंजर और शुष्क है। विशेषज्ञों का मानना है कि लगभग 15000 से 20,000 कोकूनों का प्रति हेक्टेयर उत्पादन किया जा सकता है जिससे 20 किलो रेशमी धागे का उत्पादन किया जा सकता है। पेड़ो की खेती कार्बनिक रेशम ये कृत्रिम पदार्थ होते हैं, जो प्रकृति और स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होते हैं।

कार्बनिक रेशम कोकून उत्पादन अर्जन आसन (Asan) के पेड़ पर उगते है, जो रेशम के कीड़े के द्वारा निर्मित होते है।

रेशम उद्योग आदिवासियों को लाभकारी रोजगार और आकर्षक आय देता हैं। हालांकि रेशम के धागे और कपड़े के उत्पादन के लिए गैर आदिवासियों को शामिल किया गया है।

हमारे लिए फीड तसर और सम्बंधित मिश्रित रेशमी कपड़े के उत्पादन और आन्तरिक बाजार के साथ निर्यात के रूप में लगभग एक लाख टसर और हतकरघा के लिए वर्तमान में काम करते हैं।

टसर रेशम व्यावसायिक रूप से अधिक से अधिक महत्व रखता है। विशेषकर निर्यात के रूप में।

समीक्षा

वर्ष 2005-06 के दौरान बिहार कच्चे टसर सिल्क के उत्पादन में 16 प्रतिशत वन्या सिल्क और 1.18 प्रतिशत कुल कच्चे रेशम के उत्पादन में योगदान देता है, जो तुलनात्मक रूप से 2004-05 की तुलना में कम है। वर्ष 2005-06 के दौरान राज्यवार प्रगति कच्चे टसर सिल्क का झारखण्ड उच्चतम 31.17 प्रतिशत निर्माता और योगदा कर्ता था। इसके पीछे क्रमशः छत्तीसगढ़ 29.22 प्रतिशत और पश्चिम बंगाल 11.04 प्रतिशत था। बिहार नवम्बर 2000 के विभाजन के पूर्व टसर सिल्क उत्पादन में भारत का नेतृत्व करता था। विभाजन पूर्व टसर सिल्क उत्पादन 1989-1999 में लगभग 50 प्रतिशत का रिकार्ड था।

वर्तमान में झारखण्ड राज्य 95 प्रतिशत कूकून उत्पादन क्षेत्र झारखण्ड राज्य के साथ है, जो 90 प्रतिशत जनजाति जनसंख्या और बेहतर वन क्षेत्र और जलवायु हालात के साथ हैं।

टसर कूकून और कच्चे रेशम के उत्पादन आकड़े वर्ष 2002-03 से 2004-05 के दौरान बिहार घटते और बढ़ते रहा है, लेकिन 2005-06 के दौरान 14 लाख टन कच्चे रेशम और 14489 लाख टन कूकून पंजीकृत है, जो आज तक सबसे अधिक है।

बिहार को भारत के टसर उत्पादन करने वाले राज्यों में 7वाँ स्थान दिया गया है। इसका 5 प्रतिशत रिकार्ड योगदान है।

वर्तमान में विशेष स्किम चलाए जा रहें है। ये स्किम प्रदान (PRADN), मोर्ड (Mord), DOS, NGO के माध्यम से चलाए जा रहे है। ये सभी रेशम उद्योग को बढ़ावा देने, रोजगार सृजन करके सीमांत किसान और भूमिहीन किसानों को उपलब्ध कराने के उद्देश्य से प्रतिबद्ध हैं।

बिहार में लगभग 22600 हथकरघा और 45500 बुनकरों मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से काम कर रहे हैं।

वर्ष 2010-11 में राज्य में रेशम उत्पादन के विकास के लिए राज्य ने केन्द्रीय अंशदान के रूप में 2.90 करोड़ रूपये प्राप्त किए हैं। राज्य ने निम्नलिखित परियोजनाओं के लिए 89.58 लाख रूपये की स्वीकृति प्रदान की है-

- मलबरी विकास परियोजना, पूर्णिया (Mulberry Development Project Purnea)
- टसर विकास परियोजना बाका, नवादा (Tusser Development Project Nawad, Banka)
- अण्डी सिल्क विकास, बेगूसराय (Castor silk Development Project Begusarai)
- मलबरी विकास योजना किशनगंज, पूर्णिया, सुपौल

योजना के तहत 214 एकड़ जमीन में मलबरी एवं 100 एकड़ जमीन में टसर के लिए पौधे लगाए गए हैं। कीटपालन गृहों की 193 इकाईयों का निर्माण किया गया हैं और 490 लोगों को कीटपालन का प्रशिक्षण भी दिया गया है। 115 कीटपालकों को अध्ययन करने के लिए राज्य से बाहर भी भेजा गया है।

जमुई जिले के चकई में नबार्ड द्वारा प्रायोजित टसर विकास परियोजना 2010-11 में प्रारंभ की गयी हैं। यह प्रयोजना 'प्रदान' नामक गैर सरकारी संगठन (NGO) द्वारा चलाया जा रहा है। वर्ष के दौरान 67.23 लाख रूपये के प्रावधान में 13.21 लाख रूपये खर्च किए गए।

बारहवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान बांका, मुंगेर, नवादा और कैमूर जिलों में टसर सिल्क के विकास के लिए 170.90 करोड़ रूपये स्वीकृत किए गए थे। 4,464 एकड़ जमीन पर टसर हेतु पौधे लगाए गए हैं और 3.34 लाख पौधे तैयार किये गए हैं।

उत्कृष्ट कार्य के लिए 8 कीटपालकों और 8 धागा उत्पादकों के बीच कुल 1.50 लाख रूपये पुरस्कार के बतौर वितरित किए गए हैं।

वर्ष 2010-11 में भागलपुर के नाथनगर में वस्त्र जांच प्रयोगशाला (Text tile testing Laboratory) और कम्प्यूटर समर्थित डिजाइन केड (KAD) केन्द्र की स्थापना का भी प्रस्ताव है।

200 कीटपालकों को साईकिल खरीद के लिए दो-दो हजार रूपये अनुदान देने का भी प्रस्ताव है। इसी प्रकार निजी कीटपालकों को बैंगलोर स्थित केन्द्रीय रेशम बोर्ड के बीज घर से काकून (Cocoons) खरीदने के लिए कुल 5 लाख रूपये का अनुदान देने का प्रस्ताव है।

वर्ष 2009-10 में लगभग 48 टन कच्चे रेशम का उत्पादन हुआ था जिसमें मलबरी रेशम 18. 84 टन, टसर रेशम 26.27 टन और अण्डी रेशम 2.92 टन।

वर्ष 2010-11 में भी लगभग उसी स्तर पर उत्पादन हुआ। मलबरी रेशम 16.55 टन, टसर रेशम 26.52 टन और अण्डी रेशम 4.78 टन।

11वीं पंचवर्षीय योजना भौतिक आधारभूत विकास पर आधारित थी जिसके अन्तर्गत टसर के लिए पाँच पायलट परियोजना केन्द्र और एक विपणन केन्द्र (Marketing) के विकास की बात कही गयी। ये सभी उत्पादन में वृद्धि, व्यक्ति को उद्योग में शामिल करने और विपणन कार्य में सहयोग करते हैं। ये निम्नलिखित कार्य करते हैं-

- केन्द्रीय सिल्क बोर्ड के द्वारा प्रशिक्षण दिया जाएगा।
- पुरस्कार देने का प्रावधान है।
- कीटपालकों को साईकिल खरीदने के लिए भी अनुदान देने का प्रावधान है।

11 वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान कच्चे रेशम के उत्पादन का लक्ष्य 162.5 टन पर सुनिश्चित किया गया है।

11 वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान रेशम उत्पादन की मात्रा/आकार को तालिका 0.1 से स्पष्ट किया गया है।

रेशम के प्रकार	उत्पादन (MT)
मलबरी (Mulbery)	62.50
टसर (Tussar)	80.00
अण्डी (Caster)	20.00
कुल	(Total) 162.50

स्रोत - Govt. of Bihar, Finance Development Economics Survey 2008.09

बिहार के भागलपुर जिले के नाथनगर में बिहार सिल्क और वस्त्र संस्थान (Institute) के द्वारा चार वर्षीय स्नातक (Graduation) कोर्स शुरू किए गए। लेकिन आधारभूत संरचनाओं, जैसे मकान सामग्री, प्रयोगशाला और पुस्तकालय के अभाव में और भारत सरकार के AICTE मानक के अभाव में कोर्स बन्द कर दिए गए।

रेशम तकनीक में AICTE की मानकों के अनुसार Institute के आधारभूत संरचना के विकास का प्रावधान है। इसके अतिरिक्त शोध कार्य के साथ प्रशिक्षण कोर्स, फैशन डिजाइन कोर्स का भी प्रावधान रखा गया है।

भागलपुर रेशम उद्योग की सफलता को देखते हुए इसे धीरे-धीरे किशनगंज, सुपौल, सहरसा, पूर्णिया, अररिया, कटिहार, मधेपुरा, बेगूसराय, मुजफ्फरपुर, सिवान, पश्चिम चम्पारण, वैशाली, नवादा और जमुई आदि जिलों में फैलाने की योजना है। कुल 535 रेशम औद्योगिक ग्राम है जो 15 जिलों में फैला हुआ है।

रेशम कीट का जीवन इतिहास

रेशम का कीट एक शलम (MOTH) है, जिसमें अण्डे से लेकर प्रौढ़ तक पूर्ण रूपान्तरण होता है, मैथूनोपरान्त मादा रात्रि में अण्डे देना शुरू करती है, जो गोलाकार, चपटा सफेद व भूरे रंग का होता है और पकने पर भूरे रंग का हो जाता है। अण्डे फूटने (Hatching) का समय गर्मियों में 10-12 दिन तथा सर्दियों में 15-20 दिनों तक का होता है। कुछ जातियों के अण्डे सर्दियों में फुटते ही नहीं हैं जो शीत निष्क्रियता में रहते हैं, जिनकी प्रतिवर्ष एक ही पीढ़ी पायी जाती हैं, जो एकल भ्रूणीय जाति (Univoltine race) कहलाती है, किन्तु बहुभ्रूणीय जातियों (Multi – voltine race) में 2 से 7 तक एक वर्ष में पीढ़ियाँ होती है, अण्डे से लगभग 3 मिमी लम्बी सूँडी (Larva) निकलती है, जिसके मुखांग काटने-चबाने वाले और वक्ष पर 3 जोड़ी व उदर पर 5 जोड़ी टाँगे जो क्रमशः 3,4,5,6 और 10 वें खण्ड पर स्थित होती है। उदर के आठवें खण्ड पर पृष्ठीय सतह की ओर एक छोटा शृंगीय (Horny) उपांग, जो पीछे की ओर मुड़ा रहता है व पृष्ठीय शूक (dorsal spine) होता है, सूँडी (larva) अण्डे से निकलकर पत्तियां खाना शुरू कर देती है तथा 6-8 दिन के बाद शिथिल होकर प्रथम निर्मोक (First moulting) करती है। इस प्रकार इसमें चार बार त्वचा निर्मोचन होता है जो लगभग 75 मिमी लम्बी पूर्ण विकसित सूँडी हो जाती हैं। अब इसकी लार ग्रन्थियाँ अत्यधिक विकसित होकर पांचवें इन्सटार के बाद पत्तियां खाना बन्द करके निष्क्रिय अवस्था में कोया (Cocoon) निर्माण करती है। इसका कोया 40 मिमी लम्बा व 20 मिमी चौड़ा अण्डाकार होता है जिसके अन्दर सूँडी (Larva) कोषावस्था (Pupal) में बदलती है, प्यूपा अथवा कोषित

कीट (pupa) लगभग 2.5 सेमी लम्बा व 7 मिमी चौड़ा लाल भूरे रंग का होता है, यह कोषावस्था 15-18 दिन की होती है। प्यूपा के मुख से एक क्षारीय द्रव निकलता है जिससे कोये का अगला भाग गल जाता है और प्यूपा उसमें एक छेद बनाकर प्रौढ कीट के रूप में बाहर निकलता है। प्रौढ का सिर छोटा, एक जोड़ी गोल, काले संयुक्त नेत्र तथा द्विकंकती (Bipectinate) होते है, मुखांग अक्रियाशील होता है फलत: यह कुछ खाते नहीं हैं। नर मादा की अपेक्षा छोटा होता है। प्रौढ़ का सारा शरीर रोयों से ढका रहता है। नर व मादा कीट उदर की नोक से नोंक सटाकर विपरीत दिशाओं की ओर मुंह करके मैथुन करते हैं तथा निषेचन (Fertilization) मादा के अन्दर होता है जो बाद में अण्डे देती है। इस प्रकार अण्डे से प्रौढ़ तक का जीवनकाल प्राय: 40-50 दिन का होता है।

शहतूत उत्पादन तकनीक

चूंकि देश में लगभग 80 प्रतिशत शहतूती रेशम पैदा किया जाता है, अत: इसके सफल उत्पादन हेतु शहतूत उन्नत खेती एवं वैज्ञानिक तकनीकी जानकारी हेतु वर्तमान में पर्याप्त अनुसंधान कार्य किया जा चुका है।

शहतूत के उत्पादन के लिए सर्वप्रथम कर्तनों को नर्सरी में लगाकर सेम्पलिंग तैयार की जाती है जिन्हें बाद में खेत में रोपित कर दिया जाता है। इसके लिए 24 डिग्री से 28 डिग्री सेल्सियस तापक्रम, 65 से 80 प्रतिशत आर्द्रता तथा 600 से 2500 मिमी वर्षा वाले क्षेत्र उपयुक्त होते हैं। जिन भूमियों का पी.एच. मान 6.2 से 6.8 हो, पर्याप्त नमी व पोषक तत्वों की मात्रा उपयुक्त हो तो उनमें इनका प्रसारण अच्छा होता है, सेन्डीलोम मृदा इनके लिए उपयुक्त होती है।

सर्वप्रथम 7-10 सेमी लम्बी पेन्सिल के आकार वाली मोटी कर्तनों को, नर्सरी में पहले से ही तैयार की गयी भूमि में जुलाई-अगस्त या दिसम्बर में लगाया जाता है, सेम्पलिंग जो कर्तनों से छोटे पौधों का रूप धारण कर लेते है, को छ: माह के बाद 40 × 40 × 50 सेंमी के गढ़ो में 4 मी. × 4 मी, के अन्तराल से मृदा में स्थायी रूप से स्थानान्तरित कर दिया जाता है, 20 टन गोबर की खाद, 200 किग्रा, N2, 120 किग्रा, P2O5 60 किग्रा, K2O प्रति हेक्टेयर की दर से प्रतिवर्ष उर्वरकों की मात्रा देने से पौधों की वृद्धि अच्छी होती है। पौधों के बीच रिक्त स्थान भरने अतिरिक्त आय प्राप्त करने के उद्देश्य से पौधों के साथ अन्तरासस्य फसल (Inter Crop) पैदा की जा सकती है, उन फसलों में दलहनी वह तिलहनी, फसलें जैसे - मूँग, उर्द, सरसों, सूरजमुखी, अलसी, चना आदि अधिक उपयुक्त समझी जाती है, इनके फलस्वरूप मृदा में नाइट्रोजन, जीवांश पदार्थ की मात्र बढ़ने के साथ-साथ मृदा कटाव व खरपतवारों में कमी आती है तथा अतिरिक्त आय व रोजगार में वृद्धि हो सकती है।

पौधों को मजबूत आधार व आकृति देने के साथ-साथ कीटपालन हेतु अच्छी किस्म की पत्तियां प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रुनिंग, समर, स्प्रिंग व आटम में जलवायु, क्षेत्रों व प्रजाति के अनुसार की जाती है। एक कीट का मुख्य तना होने पर उसको काटकर 3-8 मुख्य शाखाओं को बढ़ने दिया जाता है तथा बाद में क्षेत्रीय दशा व जलवायु, पत्तियों की आवश्यकतानुसार अलग-अलग समय पर निम्न मध्य व उच्च ऊचाईयों से पौधों में प्रुनिंग प्रक्रिया अपनायी जा सकती है। आज देश में शुष्क, अर्द्धशुष्क व नमी वाले क्षेत्रों के लिए बहुत-सी प्रजातियाँ विकसित की गयी हैं जिनसे प्रतिवर्ष प्रति

हेक्टेयर 15,000 से 35,000 किग्रा पत्तियां उपलब्ध की जा सकती हैं, किन्तु अन्य कृषि फसलों की भाँति शहतूत में अनेक प्रकार की बीमारियां व कीटों का आक्रमण होता है जिनकी रोकथाम समय-समय पर करनी चाहिए। इस प्रकार एक शहतूत गार्डन से 15 वर्षो तक लगातार पत्ती लाभदायक कीटपालन हेतु प्राप्त की जा सकती है।

शहतूत रेशम कीटपालन

रेशम उद्योग एक कृषि पर आधारित उद्योग है जो भूमिहीन तथा गरीब किसानों की आर्थिक दशा सुधारने व उन्हें रोजगार के अवसर प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इसमें परिवार के बच्चे, वृद्ध महिलायें घरेलू कार्यों के साथ-साथ समय का सदुपयोग करते हुए मात्र 30-40 दिनों में 3000 से 4000 हजार रूपयों तक की आमदनी प्राप्त कर सकते है। इस उद्योग को अपनाने में किसी विशेष पूंजी की आवश्यकता नहीं होती, रेशम कीटपालन में काम आने वाले यन्त्र, जैसे- कीटपालन स्टैंड, ट्रे, पेरीफीन कागज, पत्ती काटने वाला चाकू चटाई, लीफचेम्बर क्लीनिंग नेटस, चन्द्रिका, ताप व आर्द्रता मापी यन्त्र, फार्मेलीन आदि आसानी से बाजार में उपलब्ध हो जाते है।

रेशम धागाकरण की प्रक्रिया

रेशम धागा है जिसमें महीन रेशम तन्तुओं को जोड़ा जाता है। परिष्कृत वस्त्र की गुणवत्ता मुख्य रूप से धागे की गुणवत्ता पर ही आधारित होती है। वर्तमान में विभिन्न आविष्कारकों को प्रयुक्त करके कच्चा रेशम उत्पन्न किया जा रहा है, जिनमें चरखा, कुटीर थाला और फिलेचर भारत में बहुत प्रचलित है। देश में लगभग 35,155 चरखे व 25,937 फिलेचर कुटीर थाले रेशम धागाकरण की प्रक्रिया में लगे हुए है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले कोयों को सामान्य कमरे के तापक्रम पर या उन्हें 80 डिग्री से 90 डिग्री सेल्सियस तापक्रम पर 4-6 घंटे तक ओवन में रखकर सुखाया जाता है तथा सूखे कोयों के धागों को आसानीपूर्वक खुलने योग्य बनाने हेतु कोयों को रासायनिक के साथ (ब्रायोप्रिल-50) उबालकर उनका डीफलोसिंग करके धागाकरण मशीनों पर बावीन के द्वारा लपेटा जाता है जिससे कच्चा रेशम (Raw Silk) प्राप्त होता है।

ऐंठन लगे रेशम का 65 प्रतिशत हेन्डलूम व 30 प्रतिशत पावर लूमों के द्वारा उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक वह पश्चिमी बंगाल में बुना जाता है जिससे अत्यधिक संख्या में रोजगार प्राप्त होता है। देश में लगभग 1,82,000 रेशम हेन्डलूम व 27,000 पावर लूमों (जिनमें से लगभग 80 प्रतिशत पावर लूमें अकेले कर्नाटक में स्थित है) द्वारा विभिन्न प्रकार के वस्त्र साड़ी अर्नी, कुर्त्ते, पजामे व अन्य वस्तुएँ बनाई जा रही है।

निष्कर्ष

वर्तमान में केन्द्रीय रेशम बोर्ड के प्रयासों से किये जा रहे अनुसंधान द्वारा, इस उद्योग में नवीनतम तकनीकी का पता लगाया जा रहा है। इस उद्योग के व्यापक विस्तार तथा ग्रामीणों को रोजगार प्रदान करने के उद्देश्य से केन्द्रीय रेशम बोर्ड, राज्य रेशम विभाग, वन विभाग, ग्राम्य विकास विभाग, स्वैच्छिक संगठन, सहकारी समितियां, स्कूलों तथ कॉलेजों, दुग्ध विकास विभाग व सिंचाई विभाग इत्यादि द्वारा बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण कार्य किया जा रहा है जिससे पर्यावरण सन्तुलन एवं रेशम

उत्पादन में क्रान्ति लाई जा सकती है। इससे मात्र बहुमूल्य रेशम का उत्पादन ही नहीं होगा, बल्कि गांव-गांव में रोजगार के सुअवसर सृजित होंगें। इस उद्योग के लिए सभी राज्य सरकारों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में बड़े स्तर पर कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं तथा आधुनिक तकनीक की जानकारी हेतु विकसित प्रान्तों द्वारा रेशम उत्पादन, धागाकरण व अन्य पहलुओं पर प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इस उद्योग के लिए सभी राज्य सरकारों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में बड़े स्तर पर कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं तथा आधुनिक तकनीक की जानकारी हेतु विकसित प्रान्तों द्वारा रेशम उत्पादन, धागाकरण व अन्य पहलुओं पर प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इस उद्योग को अपनाने हेतु विशेष प्रोत्साहन योजनाएं भी प्रारम्भ की गयी हैं जिससे हजारों नवयुवक लाभ उठा सकेंगें तथा कच्चे रेशम उत्पादन से करोड़ो रूपयों की विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकेगी और वह दिन दूर नहीं जब भारत रेशम उत्पादन में प्रथम स्थान प्राप्त कर लेगा। वर्तमान में चीन के बाद भारत ही विश्व में प्राकृतिक रेशम उत्पन्न करने वाला दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक देश है।

स्रोत

1. आर्थिक सर्वेक्षण बिहार सरकार-2012-2013
2. आर्थिक सर्वेक्षण बिहार सरकार-2011-2012
3. आर्थिक सर्वेक्षण बिहार सरकार-2010-2011
4. आर्थिक सर्वेक्षण बिहार सरकार-2009-2010
5. आर्थिक सर्वेक्षण बिहार सरकार-2008-2009
6. आर्थिक सर्वेक्षण बिहार सरकार-2006-2007
7. प्रतियोगिता दर्पण जनवरी- 1996
8. Central Silk Board , Updated on 30.05.2013

गिरता भू–जल स्तर
एक भावी समस्या और निदान के प्रयास

डॉ० मौसमी

शिक्षक, उत्क्रमिक मध्य विद्यालय, मानसाही, नवादा, मुजफ्फरपुर

बारहमासी बन चुकी पानी की समस्या गर्मियों में चरम पर होती है। विडम्बना यह है कि इस विकराल समस्या को उतने ही हल्के में देखा जाता है। सरकारों को छोड़ दें तो आम लोगों की भी इसके संरक्षण के प्रति संजीदगी नहीं दिखती है। शायद उनको लगता है कि केवल उनके जल संरक्षण से समस्या थोड़े ही सुलझने वाली है। प्रकृति के अत्यधिक दोहन से धरती का गर्भ सूखता जा रहा है। पहले चंद फीट नीचे का पानी अब पाताल में पहुंच चुका है। धरती के ऊपर के जलस्रोत, ताल–तलैये, झील, नदी सब या तो सूख रहे हैं या हम उन्हें सूखने पर मजबूर कर रहे हैं। कंक्रीट के जंगल ने धरती के अंदर पानी के रिसाव पर पहरा लगा दिया है।

इधर पिछले कुछ वर्षों में जल का गिरता हुआ स्तर और जल प्रदूषण दोनों ही गम्भीर समस्या बनकर उभरे हैं और जिसका कृषि तथा जनस्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ना लाजमी है। जहाँ भू–जल के लिए जनसंख्या के साथ–साथ अनियोजित शहरीकरण तथा औद्योगिकीकरण भी जिम्मेदार है। यह भी उल्लेखनीय है कि भारत में कुल कृषि क्षेत्र का दो तिहाई भाग वर्षा से पोषित है, जो भारत में उत्पादित उपज का 45 प्रतिशत है। इसलिए जिन किसानों की जल स्रोतों तथा नहरों तक पहुंच नहीं है, वे भी जल दोहन करते हैं। इस प्रकार कृषि क्षेत्र ही जल का सबसे बड़ा उपयोगकर्ता है। हाल में केन्द्र सरकार बोर्ड ने 800 इलाकों की पहचान की है– दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, बिहार, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश, दमन और दीव में भू–जल । जागरण न्यूज नेटवर्क की सर्वे रिपोर्ट निम्न आंकड़े दर्शा रही है।

बिहार

कुल जल स्रोतों की संख्या – (आहर, तालाब) 20,938
राज्य का रकबा – 94,163 वर्ग किमी
कार्यरत जल स्रोतों की संख्या – 17683
सतह पर मौजूद जल – 34053 घन किमी।

सरकारी प्रयास

मौर्य काल 327–297 ई०पू० में सिंचाई स्रोत आहर, पाइन व तालाबों को पुनर्जीवित करने की योजना शुरू, नदी जोड़ योजना पर कार्य जारी।

उत्तराखण्ड

उत्तराखण्ड हिमालय को एशिया का जल स्तंभ कहा जाता है। उत्तराखण्ड से बारह बड़ी नदियां और उनकी सहायक नदियां निकलती हैं। राज्य में औसतन 1200 मिमी बारिश होती है। ज्यादातर बारिश मध्य जून से सितम्बर तक होती है। मानसून के दौरान नदियों का जल स्तर कई गुना बढ़ जाता है।

उत्तराखण्ड में कुल 22707 प्राकृतिक जलस्रोत हैं। यहाँ एक दशक में प्राकृतिक पेयजल स्रोतों की मात्रा में औसतन पचास प्रतिशत तक की गिरावट दर्ज की गई है।

सरकारी प्रयास

सतह पर मौजूद जल निकायों के संरक्षण के लिए वनीकरण एवं रेन वाटर हार्वेस्टिंग के जरिए जल स्रोतों को रिचार्ज करने का प्रयास।

जम्मू कश्मीर

जल निकायों की संख्या- 1248

जल निकायों का रकबा- 29107 वर्ग किमी

राज्य का रकबा- 222236 वर्ग किमी।

एक दशक पहले जल निकायों की संख्या - 38 (वर्ष 1998 में)

सतह पर उपलब्ध जल की वर्तमान मात्रा - 270 बीसीएम (विलियम क्यूसूक मीटर)

सिंचाई के लिए उपयोग किये जा रहे सतह पर मौजूद पानी की हिस्सेदारी -25 प्रतिशत

सतह पर मौजूद जल में साल औसतन बारिश से होने वाली वृद्धि- 998 मिमी.

सरकारी प्रयास

सतह पर मौजूद जल व जल निकायों के संरक्षण के लिए फरवरी 2011 में वाटर रिसोर्सेज एक्ट लागू किया है। एक्ट के मुताबिक सरकार पनबिजली परियोजनाओं से भी पानी का किराया वसूलेगी। पानी के किराए को दोगूना करने के साथ ही पानी के मीटर लगाने की भी तैयारी है ताकि लोग जरूरत के मुताबिक ही पानी का इस्तेमाल करें।

पश्चिम बंगाल

कुल जलस्रोतों की संख्या- (आहर पाइन व तालाब) 5.45 लाख

राज्य का रकबा- 88752 वर्ग किमी

कार्यरत जलस्रोतों की संख्या - 2.93 लाख

धरती पर मौजूद जल की उपलब्धता- 13.29 एमएचएम

कुल रकबे की तुलना में निकायों का क्षेत्रफल- 43 फीसदी

सतह पर उपलब्ध जल की मात्रा- 27.46 बीसीएम

सरकारी प्रयास

सदियों पुराने तालाब, झील और अन्य जलस्रोतों को पुनर्जीवित करने की योजना की शुरूआत। वर्षा के जल को संरक्षित करने का भी कार्य चल रहा है।

उत्तर प्रदेश

कुल जल निकाल- 84647

जल निकायों से घिरा रकबा- 73053 हेक्टेयर

राज्य का रकबा- 240.928 लाख हेक्टेयर

एक दशक पहले मौजूद जल निकाय- 84647

एक दशक पहले सतह पर मौजूद जल की मात्रा- 12.21 एमएचएम

सतह पर उपलब्ध जल की वर्तमान मात्रा- 12.21 एमएचएम

सिंचाई के लिए उपयोग में लाए जा रहे

वतह पर मौजूद पानी की मात्र या हिस्सेदारी- 7.8 एमएचएम

प्रदेश की औसतन 235.4 लाख हेक्टेयर मीटर पानी की सालाना बारिश।

सरकारी प्रयास

हर 52 ग्राम सभाओं के बीच कम से कम एक तालाब बनना है या मौजूद तालाब का जीर्णोद्धार होना है।

कैद में हैं नदियाँ

15 अगस्त 1947 को मिली आजादी में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जिस आजाद भारत की परिकल्पना की थी, उसमें प्रकृति को कैद करने की ख्वाहिश और छवि शामिल नहीं थी। राष्ट्रपिता के सपने में एक ऐसे भारत की परिकल्पना थी जो देश की प्रकृति और उसके साथ जीने वाले ग्रामीण समाज को उसका स्वराज और सुराज दोनों दिलायेगा। एक ऐसा भारत ..... जहाँ समाज प्रकृति को अपनी जरूरत की पूर्ति करने वाले उपहार के तौर पर न देखेगा, न कि लालच की पूर्ति करने वाले खजाने के तौर पर। लेकिन पिछले 64 वर्ष के आजाद भारत के सफरनामे में ऐसा नहीं हुआ। जिस देश में नदियों को कैद करने के लिए दिन-प्रतिदिन एक नई कोशिश चल रही है। बिजली, पानी और विकास के नाम पर बंध-तटबंध और मन्दिर, मस्जिद, गुरूद्वारे और बस्तियां बसाना नदियों को कैद करने का ही काम है। क्या उस देश की आजादी टिकी रह सकती है? नहीं। ऐसे में 15 अगस्त के दिन स्वतंत्रता दिवस मनाना महज एक रस्म अदायगी से ज्यादा कुछ नहीं है। सरकारी योजनाओं के पैसे से बेईमान अपनी तिजोरियों को भर रहे है। वरना एक अकेले मनरेगा के कार्य ही देश के तालाबों का उद्धार कर देते। माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा सिविल अपील संख्या 4787/2001 हिंचलाल तिवारी बनाम कमला देवी आदि में पारित आदेश की अनुपालना के संबंध में राजस्व, परिषद्, उत्तर प्रदेश के एक शानदार आदेश की पालना हुई होती तो उत्तर प्रदेश के सभी तालाब, झील, रास्ते,

खलिहान आदि सभी के कब्जा से मुक्त हो गये होते। जमीनी हकीकत यह है कि कब्जा मुक्ति तथा जमीनी सीमांकन तो दूर, संबंधित विभागों में ही संरचनाओं के रिकार्ड दुरूस्त नहीं हैं।

सैकड़ों, हजारों तालाब अचानक शून्य से प्रकट नहीं हुए थे। इनके पीछे एक ईकाई थी बनवाने वालों की, तो दहाई थी बनाने वालों की। यह ईकाई, दहाई मिलकर सैकड़ा हजार बनती थी। पिछले दो सौ वर्षों में नए किस्म की थोड़ी-सी पढ़ाई पढ़ गए समाज ने इस ईकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार को शून्य ही बना दिया। इस नए समाज के मन में इतनी उत्सुकता भी नहीं बची कि उससे पहले के दौर में इतने सारे तालाब भला कौन बनाता था। उसने इस तरह के काम को करने के लिए जो नया ढांचा खड़ा किया है, आईआईटी का, सिविल इंजीनियरिंग का, उस पैमाने से उस गज से भी उसने पहले हो चुके इस काम को नापने की कोई कोशिश नहीं की।

आज तालाबों से कट गया समाज उसे चलाने वाला प्रशासन, तालाब की सफाई और गाद निकालने का काम एक समस्या की तरह देखता और वह इस समस्या को हल करने के बदले तरह-तरह के बहाने खोजता है। इसके लिए हिसाब से यह काम खर्चीला है। कई कलेक्टरों के समय-समय पर अपने क्षेत्र के तालाबों से मिट्टी नहीं निकाल पाने का एक बड़ा कारण यही बताया गया है कि इसका खर्च इतना ज्यादा है कि उससे तो नया तालाब बनाना सस्ता पड़ेगा। पुराने तालाब साफ नहीं करवाए गये और नए तो कभी बने ही नहीं। गाद तालाबों में नहीं, नए समाज के माथे में भर गई है तब समाज का माथा साफ था। उसने गाद को समस्या की तरह नहीं बल्कि तालाब के प्रसाद की तरह ग्रहण किया था।

एक अनुमान के अनुसार, जीवनदायिनी नदियों के तटीय क्षेत्रों के भूमिगत जल में जानलेवा आर्सेनिक की मात्रा सर्वाधिक है। इसके मूल में कारखानों और शहरी गंदगी की गंगा मिलना है। स्मरणीय है कि आर्सेनिक नामक यह धीमा जहर शरीर के भीतर धमनिचयों में आक्सीजन प्रवाह को अवरूद्ध कर कई जानलेवा बीमारियों का कारण बनता है। पश्चिम बंगाल और बिहार में यह समस्या विकट है। बिहार के कुल 38 में से आधे से अधिक जिलों में भूगर्भीय जल में फ्लोराईड और आयरन की मात्रा अधिक है। इसलिए प्रधानमंत्री ने जन-स्वाथ्य विभागों में भू-जल विशेषज्ञों की सेवाएं लेने का आग्रह किया है। स्वयं प्रधानमंत्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि आगामी दशकों में जल का यह संकट गम्भीर रूप धारण कर सकता है। इसलिए उन्होंने सरकार के साथ नागरिकों और एन.जी. ओ. से इस महत्वपूर्ण संसाधन के संरक्षण हेतु सामूहिक कार्यवाही की अपील की है। नि:सन्देह पिछले 50 वर्षों के दौरान पेयजल खपत में छह गुनी वृद्धि हुई है। यह इस अवधि की जनसंख्या वृद्धि की तुलना में दोगुनी है। संयुक्त राष्ट्र की भी चेतावनी है कि 2025 तक दुनिया की दो तिहाई आबादी पानी की कमी की समस्या से रूबरू होगी और विकासशील देशों की हालत ज्यादा चिन्तनीय होगी। इस समय चीन सर्वाधिक जल तंगीवाला देश है जिसने मौजूदा जल के 44 प्रतिशत भाग का दोहन कर लिया हैं। यूएन की विश्व जल विकास रिपोर्ट में जल की गुणवत्ता के आधार पर भारत को सबसे प्रदूषित पेयजल आपूर्ति का देश बताया गया है और उसकी गिनती विश्व में 120वें स्थान पर है। वैश्विक स्तर पर देखें तो विश्व स्वास्थ्य संगठन का आकलन है कि 1बिलियन से अधिक लोगों को स्वच्छ तथा पर्याप्त जल उपलब्ध नहीं है और 5वर्ष की आयु से कम आयु के बच्चों की मौत का

कारण जलजनित बीमारियाँ है। सरकार ने वर्ष 2007-08 के बजट में भूजल के रिचार्ज हेतु छोटे तथा सीमान्त किसानों को शत-प्रतिशत और अन्य किसानों को 50 प्रतिशत सब्सिडी देने का प्रस्ताव किया है। वर्ष 2005 में जल निकायों की मरम्मत उनके पुनरूद्धार तथा बहाली 13 राज्यों में प्रायोगिक परियोजनाएँ प्रारम्भ की गयी थी। इससे पहले 1972 में त्वरित ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम और 1987 में पेयजल टेक्नालॉजी मिशन की शुरूआत भी की गयी थी जिसके तहत राष्ट्रीय जलनीति घोषित की गयी। वर्ष 1990 में राष्ट्रीय जल बोर्ड का गठन किया गया जिसका दायित्व राष्ट्रीय जलनीति की समीक्षा करना था। वर्ष 2000 में राष्ट्रीय जलनीति का पहला प्रारूप तैयार किया गया परन्तु इस सम्बन्ध में राज्यों के बीच सामंजस्य न होने से प्रगति नहीं हो पायी है। अप्रैल 2002 में जल का लक्ष्य प्राप्त करने का संकल्प लेते हुए राष्ट्रीय जलनीति 2002 पारित की गयी। इस नीति में मौजूदा जल संसाधनों के उपयोग और जल की गुणवत्ता पर ध्यान केन्द्रित किया गया। सभी राज्यों के हितों की रक्षा के साथ ही एनजीओ का सहयोग/सुझाव आमंत्रित किए गए। देशभर की नदियों को 30 स्थानों पर जोड़कर प्रस्तावित राष्ट्रीय नदी ग्रिड योजना पर प्रगति नहीं देखी गयी। जबकि प्रतिवर्ष की बाढ़ की विभीषिका से बचने के लिए इस योजना पर फौरन अमल जरूरी है। चालू वित्त वर्ष में गांवों मे पीने के पानी हेतु 15 अरब 40 करोड़ से अधिक की राशि आबंटित कर इस मद में कुल योजना राशि बढ़ाकर 65 अरब रूपये हो गयी।

नि:सन्देह जल का मुद्दा इसके संचयन, प्रबंधन तथा वितरण से जुड़ा है, इसलिए तीनों पर जोर देते हुए जल का प्रबन्धन कम लागत पर, समतामूलक और कार्यक्षम तरीके से करने के लिए देश के वैज्ञानिकों का सहयोग लिया जाये। चूंकि जल संचयन का सम्बन्ध इसकी बर्बादी से सीधा जुड़ा है, अत: गांवों में स्थानीय पंचायतों की देखरेख में योजनाएं बनाने के साथ ही जल संरक्षण के परम्परागत तरीके अपनाए जायें और तालाब, पोखरों, नदी नालों का रख-रखाव हो, बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण रखते हुए शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के बीच संतुलन कायम किया जाये। हमें कृषि पद्धति में बदलाव लाते हुए नकदी फसलों पर बल देना होगा। आज जबकि दूसरी हरित क्रांति की चर्चा जोरों में है। हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि भूजल में गिरावट के लिए काफी हद तक पहली क्रांति भी जिम्मेदार है क्योंकि उस समय मैदानी भागों में कृषि उत्पादन बढ़ाने हेतु भारी मात्रा में रासायनिक खाद के उपयोग के साथ ही बड़ी संख्या में नलकूपों के निर्माण का अभियान चलाया गया था और जिसका प्रभाव भू-जल के स्तर में स्पष्टत: देखा गया। हमें भूमिगत जल संसाधनों को फिर से सक्रिय करने का राष्ट्रव्यापी अभियान चलाना होगा। गांवों में वर्षा का जल संचयन करके कुओं में पानी पहुंचाने की व्यवस्था करनी होगी, ताकि उसे सालभर काम में लाया जा सके। राजस्थान में यह प्रयोग सदियों से चला आ रहा है। यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय रोजगार गारण्टी कार्यक्रम को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाये। एक अनुमान के अनुसार वर्तमान में इस कार्यक्रम के तहत महज 3 प्रतिशत कार्य हो रहा है। यहाँ तक की जल की समस्या से जूझ रहे उत्तराखण्ड तथा झारखण्ड जैसे राज्यों में यह प्राथमिकता सूची में नहीं है।

राष्ट्रीय पर्यावरण नीति, 2006 में पर्यावरण का ख्याल रखते हुए विकासात्मक गतिविधियों को जारी रखने पर जोर दिया गया है। यहाँ यह भी उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि सरकार जल के

व्यवसायीकरण पर रोक लगाए, क्योंकि हवा, पानी जैसी नैसर्गिक संसाधनों पर निजी अधिकार किसी मायने में उचित नहीं कहा जा सकता। यह प्रत्येक व्यक्ति की बुनियादी जरूरत और मौलिक अधिकार है। क्या यह विडम्बना नहीं है कि देश में जबकि विदेशी कम्पनियों को पेयजल क्षेत्र में अनुदान दिया जा रहा, मिनरल वाटर की इस संस्कृति का पर्यावरण पर भी प्रतिकूल असर पड़ा है। कैलिफोर्निया के पेसिफिक इंस्टीट्यूट का आकलन है कि बोतलों के लिए प्लास्टिक बनाने की समूची प्रक्रिया में ऊर्जा की काफी ऊर्जा की जरूरत होती है और उसके बाद जमीन में प्लास्टिक बोतलों के जमा होने से ग्लोबल वार्मिंग को बढ़ावा मिलता है और भूमिगत जल दूषित होता है।

इसलिए समय की मांग है कि जल संरक्षण को राष्ट्रीय मिशन बनाकर उस पर तेजी से अमल किया जाये।

सन्दर्भ-सूची

1. मानव संसाधन मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा जारी रिपोर्ट से प्राप्त
2. जागरण, न्यूज नेटवर्क द्वारा जारी रिपोर्ट
3. माननीय उच्च न्यायालय, इलाहाबाद द्वारा एक रिट के फैसले के आधार पर
4. प्रधानमंत्री कार्यालय द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार
5. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जनहित में जारी सर्वे रिपोर्ट के अनुसार
6. राष्ट्रीय पर्यावरण नीति 2006, भारत सरकार के द्वारा जारी रिपोर्ट।

कन्या भ्रूण हत्या
एक सामाजिक, सांस्कृतिक समस्या, कारण एवं निवारण

डॉ० नूतन कुमारी

भूगोल विभाग, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

हमारे देश की यह एक अजीब बिडंबना है कि सरकार की लाख कोशिशों के बावजूद समाज में कन्या-भ्रूण हत्या की घटनाएं लगातार बढ़ती जा रही हैं। दुर्भाग्य है कि संपन्न तबके में यह कुरीति ज्यादा है। स्त्री-पुरूष लिंगानुपात में कमी हमारे समाज के लिए कई खतरे पैदा कर सकती है। इससे सामाजिक अपराध तो बढ़ेंगे ही, महिलाओं पर होने वाले अत्याचार में भी वृद्धि हो सकती है।

हाल हीं में प्रकाशित केंद्रीय सांख्यिकी संगठन की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 2001 से 2005 के अंतराल में करीब 6,82,000 कन्या भ्रूण हत्याएं हुई हैं। इस लिहाज से देखें तो इन चार सालों में रोजाना 1800 से 1900 कन्याओं को जन्म लेने से पहले हीं दफन कर दिया गया। समाज को रूढ़िवादिता में जीने के सही तस्वीर दिखाने के लिए सीएसओ की यह रिपोर्ट पर्याप्त है। सरकार की लाख कोशिशों के बावजूद समाज में कन्या भ्रूण हत्या की घटनाएं तेजी से बढ़ रही है। गैरकानूनी और छुपे तौर पर कुछ इलाकों में तो जिस तादाद में कन्या भ्रूण हत्या हो रही है, उस पर सीएसओ की रिपोर्ट केंद्र सरकार के दावों को सिरे से खारिज करती हैं।

महिलाओं से जुड़ी समस्या पर काम करने वाली संस्था सेंटर फॉर सोशल रिसर्च इस समस्या से काफी चिंतित है। संस्था काफी समय से सरकार से इस बीमारी को रोकने के लिए हस्तक्षेप की मांग करती आ रही है। उधर सरकारी तर्क में कहा गया है कि 0.6 साल के बच्चों का लिंग अनुपात सिर्फ कन्या भ्रूण के गर्भपात के कारण ही प्रभावित नहीं हुआ, बल्कि इसकी वजह कन्या मृत्यु दर का अधिक होना भी है।

बच्चियों की देखभाल ठीक तरीके से न होने के कारण उनकी मृत्यु दर अधिक है। इसलिए जन्म के समय मृत्यु दर एक महत्वपूर्ण संकेतक है, जिस पर ध्यान देने की जरूरत है।

1981 में 0.6 साल के बच्चों का लिंग अनुपात 962 था, जो 1991 में घटकर 945 हो गया और 2001 में 927 रह गया है। इसका श्रेय मुख्य तौर पर देश के कुछ भागों में हुई कन्या भ्रूण हत्या को जाता है। उल्लेखनीय है कि 1995 में बने जन्म पूर्व नैदानिक अधिनियम नेटल डायग्नोस्टिक एक्ट 1995 के मुताबिक बच्चे के लिंग का पता लगाना गैर कानूनी है। इसके बावजूद इसका उल्लंघन सबसे अधिक होता है। सरकार ने 2001 व 12 तक बच्चों का लिंग अनुपात 935 और 201-17 तक इसे बढ़ा कर 950 करने का लक्ष्य रखा है। देश के 328 जिलों में बच्चों का लिंग अनपात 950 से

कम है। जाहिर है, हमारे देश में बेटे के मोह के चलते हर साल लाखों बच्चियों की इस दुनिया में आने से पहले हीं हत्या कर दी जाती है और यह सिलसिला थमता दिखाई नहीं दे रहा है।

कन्या भ्रूण हत्या के कारण

कन्या भ्रूण समापन एक प्रकार की सामाजिक समस्या है, जो पूर्णतया धन से जुड़ी है, लेकिन इसके साथ-साथ कुछ दूसरे भी कारण हैं। समाज व्यक्तियों से बनता है। व्यक्तियों के सामने समस्यायें होंगी तो लोग इसका समाधान भी ढूंढेगे। इन्हें जो अपने हित का समाधान मिला है तो वे उसे अपनाने में जरा भी नहीं हिचकिचायेंगे। आज का समाज झंझट पालना कतई नहीं चाहता। मां-बाप जानते हैं कि लड़की पैदा करने में सिवाय नुकसान के कोई फायदा नहीं है। यह विशुद्ध हानि और लाभ के गणित पर आधारित सस्वार्थ एकल दर्शन है। इसमें कतई दो राय नहीं हो सकती है कि इस समस्या के मूल में आर्थिक अवस्था, सुरक्षा से जुड़े पहलू, अधेड़ अवस्था या वृद्धावस्था की दहलीज पर घुसते हीं मानसिक और शारीरिक टेंशन की समस्या, अनावश्यक भागदौड़, लड़के या योग्य वर ढूंढ़ने की शरीर और मन दोनों तोड़ देने वाली कवायदें, भागदौड़, जब तक लड़का न मिल जाय तबतक का मानसिक टेंशन, बेकार का सिद्ध होने वाले उत्तर, जलालत से भरा लोगों का, लड़के वालों का व्यवहार झेलकर हजारों बार, लाखों बार यही विचार उठते हैं कि लड़की न पैदा करते तो बहुत अच्छा होता। स्वयं को अपराध बोध होने लगता है कि बेकार में लड़की पैदा की। एक जलालत और अपने सिर पर ओढ़ ली। शांति, चैन, मन की प्रसन्नता सब नष्ट हो जाती है। आप जो काम कर रहे हैं उसमें भी आप पिछड़ते हैं। पास, पड़ोस, हेती, व्योवहारी, मित्र आदि कहने लगते हैं कि लड़की क्या कुंवारी ही घर पर बैठाये रखेंगे। आज आप शादी करने जाते हैं तो कम से कम 6 लाख रूपये दहेज में खर्च होगा। यह सबसे किफायती शादी होगी। आज के दिन जो कन्या पैदा होगी उसका विवाह यदि औसत में 30 वर्ष की उम्र मे करेंगे तो दहेज की क्या हालत होगी। एक अन्दाज के मुताबिक यह रकम 40 लाख से साठ लाख के आसपास होनी चाहिए। क्योंकि जिस रफ्तार से महंगाई बढ़ रही हैं उससे तो यही स्थिति बनती है। आपके यहाँ यदि एक लड़की है तो प्रतिवर्ष आपको सवा लाख से लेकर दो लाख रूपये बचाने पड़ेंगे, लड़की के शादी होने तक। यह रकम कहाँ से लायेंगे, यह सोचना आपका काम है।

कन्या भ्रूण हत्या रोकने के प्रशासनिक/सरकारी उपाय

भारत सरकार ने प्रसव-पूर्व लिंग-परीक्षण एवं कन्या-भ्रूण हत्या पर रोक लगायी है। भारत में लिंग अनुपात दर निम्न है-

- 1000/972 (प्रति एक हजार पुरूषों पर स्त्रियों की संख्या) -जनगणना 1901
- 1000/933 (प्रति एक हजार पुरूषों पर स्त्रियों की संख्या) -जनगणना 2001
- 1000/940 (प्रति एक हजार पुरूषों पर स्त्रियों की संख्या) -जनगणना 2011

इस परंपरा के वाहक अशिक्षित व निम्न व मध्यम वर्ग ही नहीं है बल्कि उच्च व शिक्षित समाज भी है। भारत के सबसे समृद्ध राज्यों- पंजाब, हरियाणा, दिल्ली और गुजरात में लिंगानुपात सबसे कम है। 2001 की जनगणना के अनुसार एक हजार बालकों पर बालिकाओं की संख्या पंजाब में 798,

हरियाणा में 819 और गुजरात में 883 है। कुछ अन्य राज्यों ने इस प्रवृत्ति को गंभीरता से लिया और इसे रोकने के लिए अनेक कदम उठाए, जैसे गुजरात में 'डीकरी बचाओ अभियान' चलाया जा रहा है। इसी प्रकार अन्य राज्यों में भी योजनाएँ चलाई जा रही हैं। भारत मे पिछले चार दशकों से सात साल से कम आयु के बच्चों के लिंग अनुपात में लगातार गिरावट आ रही हैं। वर्ष 1981 में एक हजार बालको पर 962 बालिकाएँ थीं। वर्ष 2001 में यह अनुपात घटकर 927 हो गया। यह इस बात का संकेत है कि हमारी आर्थिक समृद्धि और शिक्षा के बढ़ते स्तर का इस समस्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। वर्तमान समय में इस समस्या को दूर करने के लिए सामाजिक जागरूकता बढाने के लिए साथ-साथ प्रसव से पूर्व तकनीकी जांच अधिनियम को सख्ती से लागू किए जाने की जरूरत है। जीवन बचाने वाली आधुनिक प्रौद्योगिकी का दुरूपयोग रोकने का हर संभव प्रयास किया जाना चाहिए। देश की प्रथम महिला राष्ट्रपति प्रतिभा पाटील ने पिछले वर्ष महात्मा गांधी की 138वीं जयंती के मौके पर केंद्रीय स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय की बालिका बचाओ योजना (सेव द गर्ल चाइल्ड) को लांच किया था। राष्ट्रपति ने इस बात पर अफसोस जताया था कि लड़कियों को लड़कों के समान महत्व नहीं मिलता। लड़का लड़की में भेदभाव हमारे जीवन मूल्यों में आई खामियों को दर्शाता है। उन्नत कहलाने वाले राज्यों मे हीं नहीं बल्कि प्रगतिशील समाजों में भी लिंगानुपात की स्थिति चिंताजनक है। हिमाचल प्रदेश जैसे छोटे राज्य में सैक्स रेशियो में सुधार और कन्या भ्रूण हत्या रोकने के लिए प्रदेश सरकार ने एक अनूठी स्कीम तैयार की है। इसके तहत कोख में पल रहे बच्चे का लिंग जांच करवा कर उसकी हत्या करने वाले लोगों के बारे में जानकारी देने वाले को 10 हजार रूपये की नकद इनाम देन की घोषणा की गई है। प्रत्येक प्रदेश के स्वास्थ्य विभाग को ऐसा सकारात्मक कदम उठाने की जरूरत है। प्रसूति पूर्व जांच तकनीक अधिनियम 1994 को सख्ती से लागू किए जाने की जरूरत हैं। भ्रूण हत्या को रोकने के लिए राज्य सरकारों को निजी क्लीनिक्स का औचक निरीक्षण व उन पर नजर रखने की जरूरत है। भ्रूण हत्या या परीक्षण करने वालों के क्लीनिक सील किए जाने या जुर्माना किए जाने का प्रावधान की जरूरत है। फिलहाल इंदिरा गांधी बालिका सुरक्षा योजना के तहत पहली कन्या के जन्म के बाद स्थाई परिवार नियोजन अपनाने वाले माता-पिता को 25 हजार रूपये तथा दूसरी कन्या के बाद स्थाई परिवार नियोजन अपनाने वाले माता-पिता को 20 हजार रूपये प्रोत्साहन राशि के रूप मे प्रदान किये जा रहे है। बालिकाओं पर हो रहे अत्याचार के विरूद्ध देश के प्रत्येक नागरिक को आगे आने की जरूरत है। बालिकाओं के सशक्तिकरण में हर प्रकार का सहयोग देने की जरूरत है। इस काम की शुरूआत घर से होनी चाहिए।

समस्या का समाधान

1. कन्या भ्रूण हत्या की समस्या को रोकने का समाधान केवल व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर है। माँ-बाप क्या चाहते है, यह सब उनके विवेक पर छोड़ देना चाहिए। मेरी सलाह यह है कि यदि पहला बच्चा लड़की भ्रूण है, यह पता चल जाये तो इस पहले भ्रूण का समापन न करायें, किसी भी हालत में। पहले गर्भ का समापन कराने से स्थायी बन्ध्यत्व की समस्या हो सकती है या किसी गम्भीर प्रकार की यौन जननांगों की बीमारी, जो स्वास्थ्य को लम्बे अरसे तक बिगाड़ सकती है। प्रथम गर्भ तो किसी हालत में न गिरवायें। यह खतरनाक है।

2. आजकल लिंग परीक्षण करना सरल है। यह माँ-बाप की मर्जी पर निर्भर करता हैं कि वे कन्या पालना चाहते हैं। अगर नहीं चाहते तो इसका समापन कराना ही श्रेयस्कर है। अभी समापन कराना सस्ता है। एक कन्या का पालन जरूर करें, यदि वह प्रथम प्रसव से हो।
3. यह न विचार करें कि आपके इस कार्य से लिंग अनुपात कम हो रहा है या अधिक। यह एक सामाजिक और आर्थिक समस्या से जुड़ा हुआ पहलू है। इस समस्या का समाधान भी समाज को ही करना पड़ेगा। इसका ठेका आपने अकेले नहीं ले रखा है।
4. लिंग अनुपात की गड़बड़ी से समलैंगिक विवाह को प्रोत्साहन मिलेगा। लड़का, लड़का से और लड़की, लड़की से शादियां करेगी तो दहेज का प्रश्न नहीं होगा। ऐसे ब्याह से अपने देश की जनसंख्या की समस्या भी कुछ सीमा तक कम होगी।
5. यदि बाई-द-वे किसी मजबूरी से कन्या जन्मना ही चाहें तो जरूर जन्म दें। यदि आपको बच्चा पालने-पोषने में दिक्कत आ रही है तो किसी सुपात्र व्यक्ति, नि:संतान को कन्या जनमते हीं दे दें। यह बहुत बड़ा दान है।

निष्कर्ष

समाज में लड़कियों की इतनी अवहेलना, इतना तिरस्कार चिंताजनक और अमानवीय है। जिस देष्ठा में स्त्री के त्याग और ममता की दुहाई दी जाती हो, उसी देश में कन्या के आगमन पर पूरे परिवार में मायूसी और शोक छा जाना बहुत बड़ी बिडंबना हैं। हमारे समाज के लोगों में पुत्र की बढ़ती लालसा और लगातार घटता स्त्री-पुरूष अनुपात समाजशास्त्रियों, जनसंख्या विशेषज्ञों और योजनाकारों के लिए चिंता का विज़य बन गया है।

यूनिसेफ के अनुसार 10 प्रतिशत महिलाएं विश्व की जनसंख्या से लुप्त हो चुकी हैं, जो गहन चिंता का विषय है। स्त्रियों के इस विलोपन के पीछे कन्या भ्रूण हत्या ही मुख्य कारण है। संकीर्ण मानसिकता और समाज में कायम अंधविश्वास के कारण भी बेटा और बेटी के प्रति लोगों की सोच विकृत हुई हैं। समाज में ज्यादातर माँ-बाप सोचते हैं कि बेटा तो जीवन भर उनके साथ रहेगा और बुढ़ापे में उनकी लाठी बनेगा। समाज में वंशपरंपरा का पोषक लड़कों को ही माना जाता है।

पुत्र कामना के चलते ही लोग अपने घर में बेटी के जन्म की कामना नहीं करते। बड़े शहरों के कुछ पढ़े-लिखे परिवारों में यह सोच थोड़ी बदली है, लेकिन गांव, देहात और छोटे शहरों में आज भी बेटियों को लेकर पुरानी सोच बरकरार है।

आज भी शहरों के मुकाबले गांव में दकियानूसी विचारधारा वाले लोग बेटों को ही सबसे ज्यादा तवज्जो देते हैं। लेकिन करूणामयी माँ का भी यह कर्तव्य है कि वह समाज के दबाब में आकर लड़की और लड़का में फर्क न करे। दोनों को समान स्नेह और प्यार दें। दोनों के विकास में बराबर दिलचस्पी लें। बालक-बालिका दोनों ही प्यार के बराबर अधिकारी है। इनके साथ किसी भी तरह का भेद करना सृष्टि के साथ खिलवाड़ होगा।

कन्या भ्रूण हत्या का असली कारण हमारी सामाजिक परंपरा और मान्यताएं हैं जो मूल रूप से महिलाओं के खिलाफ है। आज भी सामाजिक मान्यताओं में शायद ही कोई परिवर्तन आया हो। इतना

जरूर है कि यदि कोई लड़की अपनी मेहनत और प्रतिभा से कोई मुकाम हासिल कर लेती है तो हमारा समाज उसे स्वीकार कर लेता है। हमने प्रशासन के लिए तो लोकतांत्रिक संस्थाएं अपना ली हैं, लेकिन उसका समाज तक विस्तार होना बाकी है। यही कारण है कि तमाम सरकारी कोशिशों के बावजूद कन्या भ्रूण हत्या पर रोक नहीं लग पा रही है।

संदर्भ-सूची:

1. NIPCCD (2008) – A socio-cultural study of the Declining Sex Ratio in Delhi and Haryana. NIPCCD New Delhi
2. UNFPA (2004) – Missing the Adverse Child Sex Ration in India: New Delhi
3. NCW (2004) – Pre-birth elimination of females, A handbook of Guidelines: New Delhi
4. HPS (2005-2006) National Family Health Survey-III, IIPS, Mumbai
5. Ministry of Health and Family Welfare (2000) - National Population Policy, New Delhi
6. Khan, M.A. and Dewan, S.B. (2009) – Socio-cultural determinants of female foeticide: Social change, Vol.39, No.3, September, New Delhi
7. Nayer, Usha (2006) –The Unborn Daughters of Delhi: The women press, New Delhi
8. Nayer, Usha (1995) –Doomed before birth, study of decline sex ratio in the age group 0-6 years in selected districts of Punjab and Haryana: Development of Women's Studies NCERT, New Delhi
9. Bag. R.K.(2008): Domestic violence and crime against women-criminal justice response in India. Reading material, Sensitization programme for the functionaries of volunatary organizations on women's empowerment, 31 March -4 April, NIPCCD
10. Varghese, Joe, et al (2008): Beyond the Numbers, Factors distortin sexs ratio at birth: Indian Journal of Gender Studies, Vol. 5, No.1 Jan-April Nayer, Usha (2006) –The Unborn Daughters of Delhi: The women press, New Delhi

भूगोल

भारत में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग
प्रगति, बाधाएँ तथा भविष्य
(फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग के संदर्भ में)

मनोज कुमार

भूगोल (नेट उतीर्ण), भूगोल विभाग,
बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

वर्तमान कृषि उत्पादों के विपणन में प्रसंस्करण एक महत्वपूर्ण अवयव है। एक शताब्दी पूर्व प्रसंस्करण का महत्व इतना अधिक नहीं था। तब कृषि उत्पादों को बगैर प्रशोधन के ही बेचा जाता था तथा प्रशोधन का कार्य उपभोक्ताओं को स्वयं ही करना पड़ता था। प्रशोधन में वे सभी प्रक्रियाएं सम्मिलित होती हैं जो कच्चे माल को उस अंतिम रूप प्रदान करने के अंतर्गत आती है जिस रूप में उपभोक्ताओं द्वारा उस वस्तु का उपभोग किया जाता है। प्रशोधन द्वारा उस वस्तु का उपभोग किया जाता है। प्रशोधन द्वारा उत्पाद के रूप में स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ उत्पाद का अभिमूल्यन भी हो जाता है। सभी खाद्यान्नों को उपयोग करने के पूर्व उपभोक्ता द्वारा किसी न किसी रूप में प्रशोधन आदिकाल से ही किया जा रहा है। परंतु फल, सब्जियों, पुष्प तथा बागवानी फसलों के उत्पादों में भी प्रशोधन की आवश्यकता होती है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में खाद्य प्रसंस्करण क्षेत्र का महत्व लगातार बढ़ता जा रहा है। खाद्य शृंखला के अवयव होने के कारण जनसंख्या को सस्ते मूल्य पर पोषक खाद्य पदार्थ उपलब्ध कराने में भी खाद्य प्रसंस्करण का विशेष महत्व है। कृषि उत्पादों के प्रशोधन द्वारा अभिमूल्यन करने से ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ते हैं, कृषकों की आय बढ़ती है, गांव से शहर की ओर की दौड़ रूकती है, निर्यात बढ़ता है, जिससे बहुमूल्य विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कृषि उद्योग, कृषि एवं उद्योग के बीच की कड़ी के रूप में होते हैं, जो कृषि के विकास में मदद करके कृषि उत्पादन के अभिमूल्यन में सहायक होकर कृषकों की आय बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जिससे कृषक उत्पादकता बढ़ाने को प्रेरित होते हैं तथा औद्योगिक विकास संभव होता है। प्रसंस्कृत कृषि उत्पादों के निर्यात की भी अपार संभावनाएँ हैं। इस प्रकार भारत जैसे देश के लिए खाद्य प्रसंस्करण उद्योग बहुत महत्वपूर्ण है। प्रसंस्करण के महत्व को ध्यान में रखते हुए इस लेख में खाद्य प्रसंस्करण विशेषकर फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग की वर्तमान स्थिति, प्रगति की कुछ प्रमुख बाधाएं तथा भारतीय प्रगति के लिए कछ नीतिगत सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं।

भारत में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग की वर्तमान स्थिति

भारत में वर्ष 1991 से उदारीकरण तथा आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया शुरू होने से देश के औद्योगिक वातावरण में अत्यंत सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं। भारत सरकार ने विभिन्न खाद्य प्रसंस्करण इकाइयों के लिए 7754 करोड़ रूपये का विदेशी निवेश अनुमोदित किया है। खाद्य प्रसंस्करण उद्योग ने काफी अनुभव प्राप्त कर लिया है तथा इसके उत्पादों में काफी विविधता नजर आने लगी है। परंपरागत खाद्य पदार्थ अब नए नामों से जाने जाने लगे हैं। आज का बाजार सुविधाजनक खाद्य पदार्थ, बच्चों के लिए खाद्य पदार्थ आदि अनेक पदार्थों से पटा पड़ा है। वर्ष 1991-92 में भारत में उपलब्ध कच्चे खाद्य पदार्थों का मूल्य 73.827 करोड़ रूपए था। इसमें प्राथमिक प्रशोधन करके इसके मूल्य में 56674 करोड़ रूपये तथा द्वितीयक एवं तृतीयक एवं तृतीयक प्रशोधन करके 17826 करोड़ रूपये का अभिमूल्यन किया गया। प्राथमिक क्षेत्र में 236000 आटा-चक्कियाँ, 222000 धानी तथा एक्सप्रेलर, 81000 धान के हल्लर व शैलर, 10,000 दाल मिलें तथा 5000 सब्जी व मसाला प्रशोधन इकाईयाँ, 2000 फ्लेक्ड् तथा पफ्ड् अनाजों की इकाईयाँ थी। वर्ष 1991-1992 में 22,000 करोड़ रूपये का अभिमूल्यन केवल द्वितीयक एवं तृतीयक प्रशोधन द्वारा ही किया गया ।

भारत, चीन के बाद विश्व का सबसे बड़ा फल एवं सब्जी उत्पादक राष्ट्र हैं, परंतु भारत के कुल उत्पादन का मात्र 1.8 प्रतिशत ही व्यावसायिक रूप से प्रशोधित किया जाता है जो कई विकसित और विकासशील राष्ट्रों जैसे फिलीपीन्स (78 %) ब्राजील (70 %) तथा संयुक्त राज्य अमेरिका (60. 70 %) की तुलना में अत्यंत कम है। भारत में वर्ष 1980-81 से 1998-99 के मध्य फलों एवं सब्जियों के अंतर्गत क्षेत्र एवं उत्पादन में अत्यंत वृद्धि हुई है। (सारणी-1) परंतु भारत में इन फसलों की उत्पादकता विकसित राष्ट्रों में प्राप्त उत्पादकता की तुलना में अत्यंत कम है। यद्यपि भारत में फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग का आरंभ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुआ था परंतु इसकी वास्तविक प्रगति 1991 में आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया आरंभ होने के बाद ही हो सकी। खाद्य प्रसंस्करण उद्योग में 7754 करोड़ रूपये का विदेशी निवेश सहित 1671 करोड़ रूपये का कुल निवेश मार्च 1991 के बाद अनुमोदित किया गया है तथा फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग की 335 इकाईयों के लिए 779 करोड़ रूपये के विदेशी निवेश सहित 4198 करोड़ रूपये के कुल निवेश के प्रस्ताव मंजूर किए गए है। भारत में फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग की प्रगति सारणी 2 में दर्शायी गयी है जो स्पष्ट करती है कि वर्ष 1980-1996 की अवधि के दौरान प्रसंस्करण इकाईयों की संख्या 2026 से बढ़कर 4700 कुल प्रशोधन क्षमता 275,000 टन से बढ़कर 1,91,000 टन प्रति वर्ष हो गयी है। भारत में कुल प्रशोधन क्षमता का लगभग 51 प्रतिशत ही उपयोग हो रहा है। इस कारण अधिकांश प्रशोधन इकाईयाँ घरेलू एवं कुटीर स्तर पर ही चल रही है। लघु व कुटीर स्तर पर प्रशोधन में कई तकनीकी बाधाओं का सामना करना पड़ता है। फल एवं सब्जी प्रसंस्करण इकाईयों का वितरण सारणी 3 में दिखाया गया है। महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, तमिलनाडु तथा केरल में क्रमशः 20,10,9 तथा 8 प्रतिशत प्रसंस्करण ईकाईयाँ स्थापित हैं। इससे यह भी ज्ञात होता हैं कि फल एवं सब्जी प्रसंस्करण इकाईयों की संख्या वहाँ होने वाले कच्चे माल के उत्पादन पर निर्भर नहीं है। उदाहरणार्थ बिहार राज्य में जहाँ कुल उत्पादन का 12.96 प्रतिशत उत्पादन होता है, वहाँ मात्र 1.28 प्रतिशत ही प्रसंस्करण ईकाईयाँ हैं। निहित आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि भारत में प्रसंस्करण फल एवं सब्जियों के निर्यात की मात्रा व मूल्य

गत दो दशकों में बहुत बढ़ गये हैं। निहित आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि 1996-97 में प्रसंस्करण फल एवं सब्जियों के निर्यात की संरचना में 59.3 प्रतिशत का सर्वाधिक अंश सूखी एवं संरक्षित सब्जियों के निर्यात का ही था। भारत के कुल क्षेत्र का 6.8 प्रतिशत तथा सकल कृषि उत्पाद का 18 प्रतिशत अंश औद्योगिक फसलों का ही है। भारत विश्व का प्रमुख फल एवं सब्जी उत्पादक राष्ट्र है।

विभिन्न औद्योगिक उत्पादों के प्रसंस्करण की वर्तमान स्थिति, मुख्य समस्याएँ एवं भावी संभावनाओं का वर्णन निम्नलिखित हैं-

फल

वर्ष 1961 में फलों के अंतर्गत 12.2लाख हेक्टेयर क्षेत्र था जो वर्ष 1998-99 में बढ़कर 37.2 लाख हेक्टेयर हो गया। फलों का उत्पादन 1981 से 1998-99 की अवधि में 20.4 से बढ़कर 440 लाख टन हो गया है। भारत के कुल फल उत्पादन में 34.2 प्रतिशत केला उत्पादित हुआ जबकि आम, अमरूद, पपीता तथा लीची का उत्पादन क्रमशः 25.2, 4.08, 3.59 तथा 0.9 प्रतिशत था। आज भारत, चीन के बाद विश्व का दूसरा सबसे बड़ा फल उत्पादक राष्ट्र है जहाँ विश्व के विभिन्न महाद्वीपों में उगाए जा रहे फल, जैसे- अंगूर, संतरा, केला, सेब, आम, अनानास, नाशपाती, बेर, पपीता, खुबानी के अतिरिक्त ऑवला, बेल, शरीफा, खजूर, अंजीर, करौंदा, अमरूद, जामुन, इमली व खिरनी आदि उगाए जाते हैं। कुछ मुख्य फलों के प्रशोधन का वर्णन निम्नवत् है-

आम

आम विश्व के 6 प्रमुख फलों में से एक है। भारत में फलों की फसलों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण फसल है। भारत में सभी फलों की फसलों के अंतर्गत कुल क्षेत्र का 37.6 प्रति तथा उत्पादन का 25.2 प्रतिशत आम के अंतर्गत है। यद्यपि आम विश्व के 64 देशों में उगाया जाता है, परंतु भारत, विश्व में आम का प्रमुख उत्पादक राष्ट्र है। वर्ष 1997-98 में आम के अंतर्गत 123.85 लाख हेक्टेयर क्षेत्र से 102.34 लाख टन आम उत्पादित हुआ था। इस प्रकार विश्व के कुल आम उत्पादन 235.18 लाख टन का 43.5 प्रतिशत भारत में ही उत्पादित होता है। आंध्र प्रदेश, भारत का प्रमुख आम उत्पादक राज्य है जहाँ पर 22.7 लाख टन उत्पादित होता है। उसके बाद 18.58, 17. 75 तथा 11.76 लाख टन उत्पादन के साथ बिहार, उत्तर प्रदेश तथा कर्नाटक का द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ स्थान है। भारत में आम की कई स्वादिष्ट प्रजातियां उगाई जाती है जिसका विदेशों में निर्यात की अपार संभावनाएं हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मौसमी विविधता के कारण आम वर्ष में लगभग 5 माह तक उपलब्ध रहता है। आम के मुख्य रूप जिनके लिए आम का प्रसंस्करण किया जाता है, वे हैं - गूदा, रस, अचार, अमचूर, जैली, जैम, स्लाइसेज, सिरप, प्रिजरवेटिव, सिरियल, फ्लैक्स, वर्माउथ, नैक्टर आदि।

अमरूद

अमरूद का फल समस्याग्रस्त भूमि पर सफलतापूर्वक उगाई जा सकती है तथा यह जलभराव भी सहन कर लेती है। इस कारण समस्याग्रस्त मुद्राओं व सीमांत भूमि के लिए यह फल बहुत उपयोगी है। वर्ष 1998, 99 में 15.3 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में इस फसल को उगाकर 180.5 लाख टन अमरूद का उत्पादन प्राप्त किया गया है। बिहार, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक व मध्यप्रदेश प्रमुख उत्पादक राज्य है।

अमरूद स्वादिष्ट, उच्च विटामिन उपलब्धता तथा कैल्शियम, लोहा तथा फास्फोरस की पर्याप्त मात्रा के कारण काफी लोकप्रिय है। परंतु उत्पादन का बहुत थोड़ा अंश जैली, कैन्डी जूस, तथा नैक्टर व व्यावसायिक पैक्टिन के अतिरिक्त चीज, टॉफी, बार, पाउडर, फ्लैक्स तथा बेबी फूड्स के निर्माण में प्रयुक्त किया जा रहा है।

पपीता

ब्राजील विश्व का अग्रणी पपीता उत्पादक राष्ट्र है, जहाँ विश्व के कुल पपीता उत्पादन का 35. 4 प्रतिशत पपीता उत्पादित किया जाता है। भारत, नाइजीरिया तथा मैक्सिको विश्व उत्पादन में क्रमशः 32.9, 10.4, 10.3 प्रतिशत का योगदान करते हैं। वर्ष 1970-71 में 1998-99 की अवधि में भारत में पपीते के अंतर्गत क्षेत्र 10.14 से बढ़कर 67.6 हेक्टेयर हो गया है तथा उत्पादन 205 से बढ़कर 1582 हजार टन हो गया हैं। कर्नाटक 497 हजार टन का वार्षिक उत्पादन करके पपीता उत्पादक राज्यों में अग्रणी है जबकि उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल तथा तमिलनाडु में क्रमशः 285, 199, तथा 161 हजार टन उत्पादित है।

पपीता मुख्यतः अप्रसंस्करण रूप में प्रयुक्त किया जाता है परंतु तमिलनाडु कृषि विश्वविद्यालय, कोयम्बटूर ने पपीता का जूस ड्रिंक तैयार करने की तकनीक विकसित की है। पपाया कैन्डी तथा टूटी फ्रूटी का व्यावसायिक बिक्री, कोयम्बटूर, बंगलोर तथा जलगांव में होता हे। बेकरी तथा कन्फैक्शनरी उद्योग में इस उत्पाद की बड़ी मांग है। पपीते से पपेन भी बनाया जाता है। पपेन दूधिया पदार्थ होता है जो हरे फलों के काटने से प्राप्त होता है। इसमें प्रोटीन हाइड्रोलाइजिंग एन्जाईम होता है। हाल के वर्षो में महाराष्ट्र व गुजरात दोनों हीं राज्यों में पपेन अत्यधिक होता है। इसी कारण पपेन अब व्यावसायिक स्तर पर उत्पादित किया जा रहा हैं। पपेन की उपज पपीते की प्रजाति, पौधे से पौधे की दूरी, पौधे की पोषकता, फलों की आयु आदि पर निर्भर करती है। परंतु एक उन्नतिशील प्रजाति के उचित प्रबंधन द्वारा प्रथम वर्ष में 200 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर की उपज प्राप्त की जा सकती है। तीन वर्ष बाद पपेन उत्पादन आर्थिक रूप से लाभप्रद नहीं रहता। लेटैक्स निकलने के बाद कटे पपीतों से पैक्टिन किया जा सकता है। एक हेक्टेयर क्षेत्र से 500 पैक्टिन उत्पन्न हो जाता है।

केलाः भारत में फलों के अंतर्गत क्षेत्र तथा उत्पादन में केले का अग्रणी स्थान है। भारत विश्व के कुल के उत्पादन में 26 प्रतिशत का योगदान देता है। भारत प्रतिवर्ष 15073 हजार टन केला उत्पादित करता है।1993-94 तक महाराष्ट्र केले का अग्रणी उत्पादक राज्य है, वर्तमान में तमिलनाडु 4405.5 हजार टन, महाराष्ट्र 455.6 हजार टन, कर्नाटक 2010.4 हजार टन तथा गुजरात 2010.4 हजार टन मुख्य केला उत्पादन में सर्वाधिक योगदान देता है। केला का विभिन्न रूप में प्रसंस्करण किया जा सकता है। केले के पैक्ड गूदे की विदेशों में काफी मांग है। केले के चिप्स भी बनाए जाते हैं। केले की प्यूरी डेरी उत्पादों, बेकरी, ब्रवेरेज व बच्चों के आहार के रूप में वे केले का आटा भी आज काफी लोकप्रिय है।

सेब

भारत ने गत दो दशकों में सेब के उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति की है। अब यह प्रतिवर्ष लगभग 12-13 लाख मेट्रिक टन सेब का उत्पादन करता है। यद्यपि विश्व के कुल सेब उत्पादन का 45.84 प्रतिशत एशिया, 29.66 प्रतिशत यूरोप तथा 19.55 प्रतिशत अमेरिका में उत्पादन होता है। महाद्वीप स्तर

पर चीन 58.2 प्रतिशत, टर्की 10.19 प्रतिशत, ईरान 8.18 प्रतिशत तथा भारत 6.06 प्रतिशत सेब उत्पादित करता है। विश्व के कुल सेब उत्पादन में भारत का अंश 2.46 प्रतिशत है। सेब का उत्पादन भारत में जम्मू व काश्मीर, 57.4 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश 28.5 प्रतिशत तथा उत्तरांचल 13.0 प्रतिशत में होता है। सेब के अंतर्गत सर्वाधिक क्षेत्र हिमाचल प्रदेश में है परंतु सर्वाधिक उत्पादन जम्मू के कश्मीर में होता है। सेब का उत्पादन भारत में 2.49 प्रतिशत की चक्रवृद्धि दर से बढ़ रहा है। सेब का जैम, मुरब्बा व रस के प्रमुख रूप में है जिनके लिए सेब का प्रसंस्करण किया जाता है।

संतरा

भारत प्रतिवर्ष 1674 हजार टन संतरे का उत्पादन करता हैं। इस प्रकार भारत 66212 हजार टन के वार्षिक विश्व उत्पादन में 2.52 प्रतिशत का योगदान देता है। भारत में संतरा मुख्यत: महाराष्ट्र का अग्रणी स्थान है जो देश के कुल संतरा उत्पादन में 66.5 प्रतिशत का योगदान देता है। विश्व भर में नागपुर के संतरे विख्यात हैं। वहाँ वृहद् क्षेत्र में इसकी खेती की जाती है। परंतु संतरे की उत्पादन की बहुत अल्प मात्रा ही प्रशोधित की जाती है। इस प्रकार संतरे के उत्पादन के बढ़ने से प्रसंस्करण उद्योग के विकास की अपार संभावनाएँ हैं।

लीची

इसकी फसल वर्ष 1998-99 में 56.2 हेक्टेयर में 7.63 टन प्रति हेक्टेयर की औसत उत्पादक से आई जा रही थी तथा 428.9 हजार टन लीची का उत्पादन हुआ था। बिहार लीची का प्रमुख उत्पादक राज्य है जहाँ प्रतिवर्ष 309.6 हजार टन लीची उत्पादित हो रही थी जो देश के कुल लीची उत्पादन का 72.9 प्रतिशत था। पश्चिम बंगाल में भी 36000 टन लीची का उत्पादन हुआ था जो राष्ट्र के कुल उत्पादन का 8.4 प्रतिशत था। लीची उत्तर प्रदेश में भी उत्पादित की जाती है। प्राय: इसका प्रशोधन स्क्वैश के लिए ही किया जाता है।

अंगूर

यह विश्व का सर्वाधिक लोकप्रिय फल है। विश्व को 80 लाख हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र में लगभग 560 लाख टन अंगूर उत्पादित होता है। इटली, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, टर्की, स्पेन, अर्जेन्टीना, ईरान तथा दक्षिणी अफ्रीका प्रमुख अंगूर उत्पादक राष्ट्र है जहाँ पर क्रमश: 8.4,16.0,8.8,6.3,8.4,3.5,4.0, तथा 22 प्रतिशत उत्पादन होता है। भारत में 42 हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र में अंगूर की खेती की जाती है तथा 254.20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर की औसत उत्पादकता के साथ 10827 हजार टन अंगूर पैदा होता है। महाराष्ट्र में अंगूर की खेती 24.7 हजार हेक्टेयर में की जाती है तथा 682.4 हजार टन अंगूर का प्रतिवर्ष उत्पादन होता है। कर्नाटक भी राष्ट्र के कुल अंगूर उत्पादन में 226.6 हजार टन अंगूर का योगदान करता है। इस प्रकार महाराष्ट्र तथा कर्नाटक राज्य देश के अंगूर उत्पादन में क्रमश: 63 तथा 21 प्रतिशत का योगदान देते है। भारत में अंगूर की प्रति व्यक्ति उपलब्धता लगभग 800 करोड़ रूपये हैं क्योंकि अंगूर विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कटाई के समय के कारण नवंबर तथा दिसंबर माह को छोड़कर वर्ष भर उपलब्ध रहता है। लगभग 80 प्रतिशत अंगूर ताजा ही उपभोग में लाया जाता है जिसका 25 प्रतिशत पश्च कटाई क्षति से प्रभावित होता है। प्राय: बाजार ताजे अंगूर से फरवरी से अप्रैल तक पटे रहते हैं। लगभग 5 प्रतिशत उत्पादन बीजरहित अंगूर

के उत्पादन का 12.5 प्रतिशत से 15000 टन किशमिश बनाई जाती है। इससे फरवरी से अप्रैल माह की अवधि में बाजार में भारी आवक की समस्या का भी हल हो जाता है। 10000 टन के अंगूर की मात्रा जो कुल उत्पादन का मात्र 5 प्रतिशत है, भारत द्वारा निर्यात किया जाता है जबकि भारत से किशमिश की निर्यात नहीं की जाती है।

वर्तमान अंगूर के कुल उत्पादन का लगभग 1 प्रतिशत रस बनाने में प्रयुक्त होता है। रस निकालने के लिए बंगलौर ब्लू प्रजाति का ही प्रयोग किया जाता है। इससे प्राप्त रस निम्न गुणवत्ता का होता हे। इसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यावसायिक प्रजाति रस निकालने के लिए उपयुक्त नहीं है। भारतीय बागवानी अनुसंधान संस्थान बंगलौर द्वारा विकसित प्रजाति अरका श्याम से उच्च गुणवत्ता का रस प्राप्त किया जा सकता है परंतु यह प्रजाति व्यावसायिक स्तर पर खेती के लिए अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी है। रस के उत्पादन को बढ़ाने के लिए उपयुक्त शोध रणनीति जैसे उपयुक्त प्रजाति का चयन, उसकी उचित उत्पादन तकनीक, रस निकालने की तकनीक का मानवीकरण जिससे रस का स्वाद रंग और सुगंध संरक्षित की जा सके, विकसित करनी चाहिए। रस के अतिरिक्त अंगूर से शराब भी बनाई जाती है। अंगूर के उत्पादन का 0.5 प्रतिशत शराब बनाने में प्रयुक्त किया जाता है। घरेलू स्तर पर बंगलौर प्रजाति से ही शराब बनाई जाती हैं। इस प्रकार बनाई गई शराब की गुणवत्ता अच्छी नहीं होती, भारत शराब का पर्याप्त बाजार नहीं है। भारत के शराब के निर्यात के लिए भारत के भी यूरोप व अमेरिका जैसी उच्च गुणवत्ता वाली शराब बनानी होगी। न तो भारत में शराब के लिए मानकीकृत प्रजाति को उगाने के लिए कोई उपयुक्त स्थान चिह्नित किया गया है और न तो उच्च गुणवत्ता की शराब बनाने के लिए कोई योजना ही चल रही है जो अंतर्राष्ट्रीय बाजार में उपलब्ध शराब से प्रतियोगिता कर सके, परंतु शराब बनाने के लिए अंगूर की अधिक मात्रा खपाने के लिए अंगूर की उपयुक्त प्रजाति का चयन, उसकी उचित उत्पादन तकनीक, रस निकालने की तकनीक का मानवीकरण करने जैसा शोध सहयोग प्रदान करना चाहिए। पुणे तथा बंगलौर के नजदीक कुछ निजी शराब कंपनियां फ्रांस के सहयोग से मानक प्रजातियों जैसे कैबरनेट, सैविंगनैन, मेरलोट, पाइनट, नौहर, रूबी जैउ, जिन्डोफैल इत्यादि से शराब बना रही है।

बेर

भारत के शुष्क क्षेत्रों के लिए बेर एक प्रमुख फसल है। देश के शुष्क क्षेत्रों, जिसमें दक्षिणी भारत सम्मिलित है, में बेर का उत्पादन किया जा रहा है, जहाँ पर पहले इसका क्षेत्र बहुत कम था। राजस्थान में वर्ष 1984-85 में बेर के अंतर्गत 243 हेक्टेयर क्षेत्र था जो 1994-95 में बढकर 370 हेक्टेयर हो गया है। हरियाणा में बेर के अंतर्गत वर्ष 1991-92 में 626 हेक्टेयर क्षेत्र था जो 1995-96 में बढ़कर 1432 हेक्टेयर हो गया। बेर से कैण्डी, मुरब्बा, डिहाइड्रेटेड बेर, बेर गुदा, जैम, जैली तथा पेय पदार्थ बनाये जाते हैं।

अनार

अनार के अंतर्गत वर्ष 1984-85 में राजस्थान में 92 हेक्टेयर क्षेत्र था जो वर्ष 1994-95 में बढकर 370 हेक्टेयर हो गया तथा कर्नाटक में 1980-81 में 1418 हेक्टेयर क्षेत्र अनार की फसल के अंतर्गत था, वह 1994-95 में बढ़कर 1746 हेक्टेयर हो गया। अनार से प्रायः अनारदाना बनाया जाता है जो दारू प्रजाति से बनाया जाता है। इस प्रजाति का उत्पादन जम्मू व हिमाचल प्रदेश की पहाड़ियों पर किया जाता है। फल के दाने बहुत अम्लीय होते हैं। अनार का रस बहुत स्वादिष्ट पेय

होता है। ताजे रस में 85 प्रतिशत जल, 10.7 प्रतिशत शर्करा, 1.4 प्रतिशत पैक्टिन, 0.19 प्रतिशत अम्लता तथा 0.05 प्रतिशत राख होती है। फल में टैनिन्स की अधिक मात्रा होने के कारण रस निकालने की ऐसी विधि विकसित करने की आवश्यकता है जो टैनिन्स की मात्रा कम कर सके। रस में टैनिन्स की अधिक मात्रा जिलैटिन द्वारा अवक्षेपित की जा सकती है। रस को फ्लैश पाश्चराईजर में 30 मिनट तक 79 से 82 डिग्री से० तक गर्म करके पैक्टीनेज एन्जाईम्स द्वारा ठंडा करके पुन: 24 घंटे तक रखकर निथारकर साफ किया जा सकता है। रस को गर्म करके या 600 पीपीएम सोडियम बेन्जोएट मिलाकर संरक्षित किया जा सकता हैं। रिन्द से तैयार किया गया सूखा चूर्ण दंत मंजन, दवाई तथा सौदर्य प्रसाधनों के उद्धेश्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

मौसम्बी

भारत में मौसम्बी आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा पंजाब तथा हरियाणा के कुछ भागों में उत्पादित की जाती हैं। आंध्र प्रदेश मौसम्बी उत्पादक राज्यों में अग्रणी है जहाँ देश के कुल क्षेत्र व उत्पादन का 48.2 तथा 55.4 प्रतिशत अंश है, जबकि महाराष्ट्र व कर्नाटक उत्पादन में क्रमश: 23.1 तथा 19.8 प्रतिशत का योगदान देते है। मौसम्बी का प्रसंस्करण रस के लिए ही किया जाता है।

नींबू

देश में नींबू के तहत वर्ष 1993-94 में 91.4 हेक्टेयर क्षेत्र था जो वर्ष 1998 में बढकर 139.5 हजार हेक्टैयर हो गया है। इसी प्रकार इसी अवधि में उत्पादन 927.7 हजार टन से बढ़कर 1259.8 हजार टन हो गया। नींबू की खेती आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में बहुत लोकप्रिय है। ये सभी राज्य मिलकर देश के नींबू के अंतर्गत कुल क्षेत्र व उत्पादन में क्रमश: 572 तथा 76.0 प्रतिशत का योगदान देते हैं। नींबू का प्रयोग रस, सैगमैन्टस, कन्सेन्ट्रेटस, अचार तथा टाटरी बनाने के लिए किया जाता है। इसका सूखा चुर्ण आयुर्वेदिक दवाईयों के बनाने में प्रयुक्त होता है।

अखरोट

एशिया, अमेरिका तथा यूरोप, अखरोट के मुख्य उत्पादक महाद्वीप हैं जहाँ पर विश्व के कुल उत्पादन का क्रमश: 49.68, 26.16 तथा 20.68 प्रतिशत उत्पादन होता है। विश्व परिदृश्य में चीन अखरोट उत्पादन में अग्रणी है जहाँ 190 हजार टन अखरोट उत्पादित होता है। इसके अलावा टर्की, ईरान, यूक्रेन, फ्रांस, रोमानिया, बुलगारिया, ग्रीस, भारत, पाकिस्तान तथा इटली में क्रमश:, 112,66,57,29,28,25.7,24.4,19.8,17.0, तथा 14.5 हजार टन अखरोट का वार्षिक उत्पादन होता है। एशिया में सर्वाधिक उत्पादन चीन में होता है, जहाँ महाद्वीप के कुल उत्पादन की 46 प्रतिशत मात्र उत्पादित होती है। यह सूखे मेवे के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

बादाम

अमेरिका तथा यूरोप बादाम उत्पादक महाद्वीपों में क्रमश: 4.76 तथा 4.09 लाख टन उत्पादित कर अग्रणी स्थान पर है जबकि एशिया तथा आस्ट्रेलिया में 2.34 तथा 0.09 लाख टन बादाम उत्पादित होता हैं । एशिया के कुल उत्पादन में 28.63 प्रतिशत का सर्वाधिक उत्पादन ईरान में होता है। विश्व में बादाम का सर्वाधिक उत्पादन स्पेन में होता हैं जहाँ 234 हजार टन बादाम उत्पादित होता है। भारत में भी बादाम काफी मात्रा में उत्पादित होता है। इसकी मांग तथा इसके तेल के रूप में ही बादाम को प्राय: प्रसंस्करण किया जाता है।

अनानास

भारत अनानास का प्रमुख उत्पादक राष्ट्र है। थाईलैण्ड, ब्राजील, फिलीपींस तथा भारत में कुल अनानास उत्पादन का क्रमशः 14.3, 13.3, 12.3 तथा 8.3 प्रतिशत उत्पादित होता है, भारत में अनानास लगभग 74 हजार हेक्टेयर क्षेत्र में उगाया जाता है, जिससे 13560 कि० ग्रा० प्रतिहेक्टेयर की औसत उत्पादकता के साथ प्रतिवर्ष 1006.4 हजार टन अनानास उत्पादित होता है। भारत में पश्चिमी बंगाल तथा आसाम प्रमुख अनानास उत्पादक राज्य है जहाँ देश के कुल उत्पादन का क्रमशः 28.2 एवं 20.8 प्रतिशत उत्पादित होता है। अनानास मेघालय तथा केरल में भी उगाया जाता है। इसको रस, फैन्ड स्लाईसेज, जैम तथा जेली के लिए प्रशोधित किया जाता है।

बेल

वर्ष 1994-95 में भारत में बल 38503 हेक्टेयर क्षेत्र में उगाया जाता था जिससे 1286 मीट्रिक टन प्रति हेक्टेयर की औसत उत्पादकता से 495022 मीट्रिक टन बेल का उत्पादन हुआ था, बेल के अंतर्गत सर्वाधिक क्षेत्र कर्नाटक में हैं, जहाँ देश के कुल बेल का 42.8 प्रतिशत उत्पादित होता है। इसी प्रकार कर्नाटक, गुजरात, महाराष्ट्र तथा आंध्रप्रदेश कुल उत्पादन में क्रमशः 58.9, 19.3, 6.2 तथा 10.7 प्रतिशत उत्पादन होता है। 1991-92 से 1994-95 की अवधि में देश के कुल बेल के अंतर्गत क्षेत्र 27248 से बढ़कर 38503 हेक्टेयर हो गया। इसी प्रकार इस अवधि में उत्पादन 396262 से बढ़कर 495022 मीट्रिक टन हो गया। बेल का उत्पादन यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में नहीं होता है। बेल की स्लाईसेज, जैम, गुदा तथा चूर्ण के लिए प्रसंस्करण किया जाता है।

आंवला व अन्य फल

आंवला ऐसा फसल है कि उसे समस्याग्रस्त भूमि में भी उगाया जा सकता हैं। यह देश के विभिन्न भागों में उगाया जाता हैं। आंवला मुख्यतः आयुर्वेदिक स्वास्थ्य टॉनिक च्यवनप्राश बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। सूखा चूर्ण कई दवाईयाँ बनाने तथा बाल धोने के काम आता है।

सब्जियाँ

भारत में 50 से अधिक सब्जियाँ उगाई जाती हैं। भारत में 60 लाख हेक्टेयर क्षेत्र से 875 लाख टन सब्जियाँ उगाई जाती हैं। चीन विश्व में सर्वाधिक सब्जी उत्पादक राष्ट्र है जो विश्व के कुल उत्पादन में 39.1 प्रतिशत का योगदान करता है। भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका, टर्की, इटली, जापान, ईरान, मिस्र, रूस तथा स्पेन क्रमशः 14.4, 5.8, 3.6, 2.4, 2.2, 2.1, 2.0, व 1.9 प्रतिशत का योगदान विश्व की कुल सब्जी उत्पादन में देते है। भारत की जलवायु कई सब्जियाँ जैसे प्याज, बैगन, आलू, भिंडी, फूलगोभी, बंदगोभी, टमाटर, मिर्च, खीरा, सेम मटर, राजमा, लोबिया की फलियाँ, लहसुन, मूली, गाजर, शलजम, खरबूजा, तरबूज व कई पत्तेदार, सब्जियों के उत्पादन हेतु उपयुक्त हैं। भारत में वर्ष 1987-88 सब्जियों के अंतर्गत 41.2 लाख हेक्टेयर क्षेत्र था जो वर्ष उत्पादन भी 489.3 लाख टन से बढकर 875. 4 लाख टन हो गया है। उत्पादकता भी बढ़कर 11.9 टन से 149 टन हेक्टेयर हो गई है। उत्तर प्रदेश सर्वाधिक सब्जी उत्पादक राज्य था परंतु अब उड़ीसा, बिहार, कर्नाटक, महाराष्ट्र मुख्य सब्जी उत्पादक राज्य है।

आलू

आलू विश्व की मुख्य सब्जी फसल है। धान, गेहूँ व कॉर्न के बाद आलू का ही महत्व है। चीन, रूस यूक्रेन, पोलैण्ड के बाद भारत मुख्य आलू उत्पादक राष्ट्र है। 1949-50 में आलू की फसल के अंतर्गत 2.34 लाख हेक्टेयर क्षेत्र था जो 1998 मे बढ़कर 17.9 लाख हेक्टेयर हो गया है। उत्पादन भी बढ़कर17.9 लाख टन से बढ़कर 295 लाख टन हो गया है। भारत में आलू की औसत उत्पादकता 176 टन प्रति हेक्टेयर है जो विश्व की औसत उत्पादकता 16.5 टन हेक्टेयर से अधिक है।

एक अनुमान के अनुसार आलू के वार्षिक उत्पादन का मात्र 0.3 प्रतिशत का प्रसंस्करण होता है। शहरी क्षेत्रों में प्रशोधित आलू उत्पादों की मांग लगातार बढ़ रही है। आलू प्राय: फ्लैक्स आलू पका या कच्चा लेकिन भाप लगाने या उबालने के बाद फ्रिज में रखा हुआ आलू सूखा लेकिन उसके बाद बगैर किसी प्रशोधन, आलू का आटा, आलू सिरका या एसीटीक अम्ल से संरक्षित लेकिन फ्रिज में रखा हुआ (फ्लैक्स) तथा आलू का स्टार्च ऐसे मुख्य उत्पाद हैं, जिनके लिए आलू का प्रसंस्करण होता है।

टमाटर

भारत के विभिन्न भागों मे वर्ष भर टमाटर उगाया जाता है। यंत्रीकरण द्वारा कटाई करने पर मात्र 30 प्रतिशत ही श्रमिकों का व्यय आता है परंतु उत्पादन का उचित मूल्य मिल जाता है तथा बाजार में सदा ही इसकी मांग रहती है। टमाटर की नई प्रजातियों के विकास तथा उन्नत उत्पादन तथा प्रसंस्करण तकनीकी से टमाटर के सभी प्रसंस्करण उत्पादों का अंतर्राष्ट्रीय बाजार में निर्यात संभव हो सकेगा। टमाटर को टमाटर प्यूरी, कैचअप, सॉस तथा पेस्ट बनाने के लिए प्रशोधित किया जाता है।

मीठा कॉर्न

इसकी खेती वर्ष भर दो विभिन्न राज्यों में की जाती है। यद्यपि यंत्रों द्वारा कटाई करने पर मात्र 20 प्रतिशत ही व्यय श्रमिकों पर आता है। इसका बाजार बहुत विस्तृत है। उच्च गुणवत्ता वाली नई प्रजातियों, उन्नतशील उत्पादन, पश्च कटाई वे फ्रीजिंग तकनीक के विकास से अंतर्राष्ट्रीय बाजार में प्रसंस्करण कॉर्न के भारत से निर्यात की अपार संभावनाएँ हैं। अब तो कई प्रकार की संकर बहुत मीठी प्रजातियां शीतोष्ण तथा अर्द्धशीतोष्ण क्षेत्र के लिए उपलब्ध हैं। इसका विभिन्न रूपों में प्रसंस्करण किया जाता है।

प्याज

क्षेत्र एवं उत्पादन में चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान है। वर्ष 1998 में चीन व भारत ने विश्व के कुल प्याज उत्पादन का 25.0 प्रतिशत तथा 13.6 प्रतिशत का योगदान दिया। चीन की औसत उत्पादकता (22.3टन/हेक्टेयर) भारत की उत्पादकता (11.4टन/हेक्टेयर) से काफी अधिक है। इसका गूदा तथा सूखी अवस्था हेतु प्रसंस्करण किया जाता है।

मटर

मटर उत्पादन में भारत का अग्रणी स्थान है। भारत विश्व को मटर के अंतर्गत क्षेत्र का उत्पादन में क्रमश: 34 तथा 33.3 प्रतिशत योगदान देता है। सूखी एवं डिहाईड्रेशन सब्जी हेतु मटर का प्रसंस्करण किया जाता है।

फूल गोभी

भारत का फूल गोभी उत्पादन में भी अग्रणी स्थान है। विश्व के कुल फूलगोभी उत्पादन का 35 प्रतिशत भारत में ही पैदा होता है। इसका डिहाईड्रेटेड सब्जी के रूप में प्रशोधित किया जाता है। इसका अचार भी बनता है।

इसके अतिरिक्त कई अन्य सब्जियों के प्रसंस्करण की अपार संभावनाएँ है। ब्रोकोली, ब्रूसेल्स, एस्परागस, सेलरी, पार्सल, कैप्सिकम, तथा बेबी कॉर्न जैसी गैरपरंपरागत सब्जियों का भी प्रसंस्करण किया जाता है।

बाधाएँ

यद्यपि भारत में फल एवं सब्जियों के प्रसंस्करण की अपार संभावनाएँ हैं, परंतु कुछ बाधाएँ अभी इस उद्योग की प्रगति में बाधक हैं।

तकनीकी बाधाएँ

1. **कम उत्पादकता तथा उन्नतिशील उत्पादक तकनीक का अभाव:** विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत में फल एवं सब्जियों की उत्पादकता बहुत कम है। फल एवं सब्जियों के उत्पादन की वर्तमान तकनीकी विभिन्न कृषि-परिस्थिति की क्षेत्र हेतु उपयुक्त नहीं है, क्योंकि फल एवं सब्जी की प्रत्येक प्रजाति का प्रसंस्करण नहीं किया जा सकता है। अत: आज समय की आवश्यकता है कि शोध प्रयासों से ऐसी प्रजातियाँ विकसित की जाएँ जिनमें अधिक गूदे के साथ ठोस अंश अधिक हो तथा एक साथ न पके बल्कि लंबे समय तक फलती रहे। इससे एक समय पर अति उत्पादन की समस्या से बचा जा सकता है।
2. **उच्च गुणवत्ता वाले फल एवं सब्जियों की अनुपलब्धता:** फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग के सामने उचित मूल्य पर उच्च गुणवत्ता वाले फल एवं सब्जियों की अनुपलब्धता प्रमुख समस्या रहती है। कृषकों में उचित परिपक्वता के बारे में जानकारी के अभाव में फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग को उचित परिपक्वता के उत्पाद नहीं मिल पाते। इसके अतिरिक्त अधिक गूदे के साथ ठोस अंश वाली प्रजातियों की संख्या सीमित है।
3. **अंतिम उत्पाद की निम्न गुणवत्ता:** कई प्रसंस्करण के लिए गैर मानक तकनीक अपनाती है। जिससे अंतिम उत्पाद की गुणवत्ता निम्न हो जाती है। यूरोपियन यूनियन द्वारा कई प्रसंस्करण उत्पादों का आयात स्वच्छता की कमी के कारण प्रतिबंधित कर दिया गया है।
4. **फल एवं सब्जी में मूल्य का जोखिम**
   (क) फल एवं सब्जियों के उत्पादन में अति उत्पादन, बाजार में आवक का पैटर्न तथा विपणन की ढांचागत सुविधाओं के अभाव के कारण उनके मूल्य में जोखिम बना रहता है।
   (ख) *ढाँचागत बाधाएँ:* कमजोर ढाँचागत सुविधाएँ भी भारतीय फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग को प्रभावित करती है। बुनियादी सुविधाओं के अभाव में फल एवं सब्जी उत्पाद का बड़ा अंश कटाई के बाद नष्ट हो जाता है।

1. *रेफ्रीजरेटेड यातायात तथा शीतगृह:* विकसित कोल्ड चेन, शीतगृहों, रेफ्रीजरेटेड कैबिनेटों के अभाव में कई प्रसंस्करण ईकाईयाँ बंद हो रही है अथवा ऑफ सीजन में बहुत कम क्षमता से चल रही हैं। भारत में रेफ्रीजरेटेड ट्रकों की संख्या काफी कम है। पहाड़ी क्षेत्रों में ट्रकों की अनुपलब्धता तथा ऊँची दरें बाधक होती हैं जबकि मैदानी क्षेत्रों में ट्रकों की उपलब्धता समस्या नहीं है, परन्तु यातायात की ऊँची दरें उत्पादकों के लिए चिंता का विषय बन जाती है। वह भी विकसित क्षेत्रों में केन्द्रित है। जबकि औद्योगिक फसलों विकास की पिछड़े क्षेत्रों में अपार संभावनाएँ हैं। परंतु वहाँ मूलभूत सुविधाओं जैसे सड़क, यातायात, पड़ोसी बाजार, शीतगृह, सिंचाई व बिजली का अभाव होता है, जो शीघ्र खराब हो जाने वाले फलों एवं सब्जियों की क्षति को रोकने के लिए परम आवश्यक है।
2. *पैकिंग:* पैंकिंग की वर्तमान तकनीक के कारण औद्योगिक फसलों में कटाई के बाद बहुत क्षति होती है। वहाँ कृषक तथा व्यापारी दोनों हीं स्तरों पर पैकिंग के सुधारने की अत्यंत आवश्यकता है। वर्तमान पैंकिंग सामग्री तथा उन्नत पैकिंग सामग्री जैसे कौरूगेटेड फाईबर बोर्ड के बक्शों की पारस्परिक लागतों के बारे में सूचना उपलब्ध नहीं है।
3. *ग्रेडिंग:* भारत सरकार के विपणन व निरीक्षण निदेशालय द्वारा आलू, प्याज तथा सेब जैस कुछ कृषि उत्पादों के अतिरिक्त कोई ग्रेड विकसित नहीं किए गए हैं।
4. *उच्च गुणवत्ता वाले बीजों का भंडारण:* सब्जियों के प्रमाणित बीजों की अत्यंत कमी रहती है। कृषकों को उच्च गुणवत्ता वाले बीज उपलब्ध कराने के लिए एक कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त संकर बीज महंगे होने के कारण आम कृषक की पहुँच के बाहर हो जाते हैं।

(ग) *संस्थागत बाधाएँ:* फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग के सामने आज कई संस्थागत बाधाएँ हैं। इसके कारण नया निवेशक इस उद्योग में नया निवेश करने से कतराता है। इस उद्योग में फैक्ट्री लगाने से लेकर गुणवत्ता नियंत्रण तब कई कानूनों के अंतर्गत कार्य करना होता है। उद्योग को कोई भी नया उत्पाद बाजार में लाने पर लगभग 20 कानूनों से गुजरना पड़ता है।

कृषि जोत संबंधी कानून प्रसंस्करण इकाईयों को अधिक जमीन खरीदकर स्वयं अपने द्वारा फल एवं सब्जियों का उत्पादन करने को हतोत्साहित करते हैं। ठेके पर खेती प्रसंस्करण इकाइयों को कच्चा माल की लगातार आपूर्ति सुनिश्चित करती है। पंजाब में पैप्सी द्वारा टमाटर तथा कर्नाटक में किसान द्वारा टमाटर की ठेके पर खेती इसके ज्वलंत उदाहरण है। दुर्भाग्यवश यह पद्धति कानूनी जामें की अनुपस्थिति के कारण प्रभावी नहीं हो सकी। भारत में प्रसंस्करण उत्पादों के घरेलू मूल्य अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों की तुलना में अधिक होते हैं। इसी कारण कुल उत्पादन लागत का 40 प्रतिशत व्यय पैकिंग पर हीं होता हैं, जबकि अन्य देशों में कर की दर लगभग नगण्य होती है। रेफ्रीजरेशन जो इस उद्योग के लिए परम आवश्यक है पर 20 से 30 प्रतिशत की उच्च सीमा और उत्पाद शुल्क दर है। यह भी देखा गया है कि ब्रांडेड उत्पादों पर बगैर ब्रान्डेड उत्पादों की अपेक्षा अधिक कर पड़ता है। फल

एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग मौसमी प्रकृति का उद्योग है क्योंकि प्रसंस्करण कार्य मौसम में ही किया जाता है। अत: इसको अबाधित विद्युत आपूर्ति की आवश्यकता होती है और बिजली की ऊँची दरें भी अंतिम उत्पाद की कीमत को महंगा कर देते हैं।

फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग का भविष्य

उपरोक्त बाधाओं के बावजूद भारत में फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग कम पूंजी से भी अधिक लोगों को रोजगार देने, स्थानीय स्रोतों का प्रयोग करने तथा विदेशी मुद्रा अर्जित करने के कारण बहुत महत्वपूर्ण है। इस उद्योग में इनक्रीमेंटल पूंजी श्रम अनुपात अन्य उद्योगों के 1.10 की तुलना में मात्रा 0.25 है।

यह उद्योग कम उपजाऊ भूमि में भी फल एवं सब्जी उत्पादन को प्रोत्साहन देकर 2 से 23 गुना अधिक रोजगार के अवसर प्रदान करता है। बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, पूर्व उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य भागों में जहाँ कृषि जातों का आकार बहुत छोटा है तथा बेराजगारी चरम सीमा पर है, के लिए फल एवं सब्जी उत्पादन जिसमें श्रम की प्रधानता रहती है, बहुत उपयुक्त है।

प्रसंस्कृत फल एवं सब्जी उत्पादों की मांग घरेलू तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजार दोनों हीं में है, यद्यपि भारतीयों में ताजे फल एवं सब्जियों में प्रसंस्करण उत्पादों की अपेक्षा कम रूचि होती है। परंतु लोगों की आहार आदतों में परिवर्तन तथा गृहिणियों के खाना पकाने के प्रति बदलते व्यवहार यंत्रों के बढ़ते प्रयोग, घरेलू नौकर, बावर्ची पर घटती निर्भरता, गैर परंपरागत खाद्य पदार्थ, आसान नाश्ता तैयार करने वाला खाद्य पदार्थ, स्वास्थ्य के प्रति बढती जागरूकता, बच्चों तथा युवाओं के आहार में हो रहे परिवर्तन, फुटकर एवं उच्च गुणवत्ता वाली खाद्य सामग्रियों में आई क्रांति, शिक्षा का बढ़ता स्तर, मीडिया द्वारा बढती जागरूकता एवं उदारीकरण से प्रसंस्करण उत्पादों की मांग का परिदृश्य तेजी से बदल रहा है। अत: फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग को और भी समृद्ध बनाने के लिए निम्नलिखित सुझावों पर अमल करना आवश्यक है। फल एवं सब्जियों की उच्च उत्पादकता वाली प्रजातियों पर शोध एवं विकास को समृद्ध करने की आवश्यकता है। कृषि जोत कानून को अधिक उद्यान विकसित करने के लिए संशोधित करना चाहिए तथा फल एवं सब्जियों की वृहद् स्तर पर खेती तथा प्रसंस्करण क्रियाओं को प्रोत्साहित करना चाहिए। फल एवं सब्जियों के अंतर्गत क्षेत्र को बढाने की विशेष संभावनाएँ न होने के कारण फल एवं सब्जियों को उन्नतिशील प्रजातियों उनके उत्पादन एवं संरक्षण तकनीक के विकास के द्वारा उत्पादकता बढ़ाने के प्रयास करना चाहिए।

गैर मौसमी सब्जियों का बाजार में मूल्य उचित मिलता है। अत: गैर मौसमी सब्जियों की खेती को प्रोत्साहित करना चाहिए। इससे सब्जी प्रसंस्करण उद्योग का वर्ष भर तक उनको पूरी क्षमता के साथ चलते रहने में सहायता मिलेगी। मूल्यों की जोखिम को समाप्त अथवा कम से कम करने के लिए कृषक संगठनों को विपणन प्रक्रिया में सम्मिलित करने के लिए महाराष्ट्र की ग्रेप्स ग्रोअर्स ऐसोशिएशन तथाा कर्नाटक में बंगलोर की हॉर्टीकल्चर प्रोड्यूस को ऑपरेटिव मार्केटिंग एंड प्रोसेसिंग लिमिटेड की भांति संगठन बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उत्पादों तथा प्रसंस्करण फैक्टरियों के बीच में सीधा संपर्क होना चाहिए जिससे कृषकों को उनके उत्पाद का उचित मूल्य मिल सके।

मूल्यों के जोखिम को कम करने हेतु प्रसंस्करण के लिए ठेके पर फल एवं सब्जियों के उत्पादन को प्रोत्साहित करना चाहिए। कुछ उत्पादों में ठेके पर खेती काफी लाभकारी पाई गई है। पश्च कटाई

क्षति को रोकने हेतु अधिक रेफ्रिजेरेटेड ट्रक उपलब्ध कराना चाहिए। सभी गाँव पक्की सड़कों से जुड़े होना चाहिए। यातायात की लागत कम करने के प्रयास करना चाहिए।

औद्योगिक फसलों के लिए शीत गृहों का होना बहुत बुनियादी एवं महत्वपूर्ण सुविधा है। अत: मांग का आकलन करके शीतगृहों का निर्माण करना चाहिए। कृषकों को उनके उत्पाद के विरूद्ध अग्रिम ऋण प्रदान करने की संभावनाओं का पता लगाना चाहिए। अभी अधिकांश शीतगृह निजी क्षेत्र में है। अत: सहकारी क्षेत्र तथा कृषक संगठन द्वारा भी शीतगृहों का निर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए। फलों एवं सब्जियों की पैकिंग के लिए कौरूगेटेड फाईबर बोर्ड बॉक्स के प्रयोग को प्रोत्साहित करना चाहिए। उन्नतिशील पैकिंग सामग्री की मांग व पूर्ति का अनुमान लगाकर इसकी पूर्ति का प्रयास करना चाहिए जिससे आजकल प्रयुक्त होने वाली पैकिंग सामग्री को बदला जा सके।

भारत सरकार के विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय द्वारा औद्योगिक उत्पादों का ग्रेड विकसित करना चाहिए। अधिक निवेश तथा लाभ व पूर्ण क्षमता को अनिश्चितता के कारण निजी एजेंसियां रेफ्रीजेरेटेड वैन्स, एकत्रित करने वाले केन्द्र ग्रेडिंग तथा पैकिंग हाउसेज तथा पश्च कटाई ट्रीटमेंट प्लान जैसी बुनियादी सुविधाओं में निवेश के लिए आगे नहीं आ सकती है। अत: इन मूलभूत सुविधाओं के विकास के लिए संयुक्त तथा सहकारी क्षेत्रों में विकास को प्रोत्साहन देना चाहिए। फल एवं सब्जियों की प्रकृति के कारण इनमें कटाई के बाद बहुत क्षति होती है परंतु कटाई के पहले तथा बाद की कुछ क्रियाओं को खेत में करने से इस क्षति को काफी सीमा तक रोका जा सकता है। फल एवं सब्जी प्रसंस्करण इकाईयों में निवेश करने वाले निवेशकों के लिए कानूनों मे शिथिलता बरतनी चाहिए। उत्पाद शुल्क में कमी लानी चाहिए तथा सरकार को फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग में निवेश को प्रोत्साहित करना चाहिए।

प्रसंस्करण उत्पादों की पैकेजिंग एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ सुधार की नितांत आवश्यकता है। उचित पैंकेजिंग से उत्पादों को उत्पादकों/उपभोक्ताओं तक पहुँचाने वाली क्षति को काफी सीमा तक रोका जा सकता है। उत्पादन क्षेत्रों में प्रसंस्करण इकाईयों की स्थापना से लाने-ले जाने की लागत कम करने में सहायता मिलेगी जिससे प्रसंस्करण उत्पादों के मूल्य भी सस्ते रहेंगे और इससे प्रशोधित उत्पाद घरेलू तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजार की प्रतियोगिता में ठहर सकते हैं। फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग को नए उत्पादों को बाजार में उतारना चाहिए, जैसे आजकल टमाटर, सॉस, मिर्च व इमली के साथ मिलाकर टमाटर मिर्च सॉस तथा टमाटर इमली सॉस जैसे नए उत्पादों को बाजार में उतारा गया है।

हाल के वर्षो में विभिन्न वर्गों के लिए लोगों स्वाद तथा प्राथमिकताओं में काफी परिवर्तन देखे गए हैं। अत: प्रसंस्करण उत्पादों की मांग पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन आवश्यक है। फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग की अधिकांश इकाईयाँ लघु तथा कुटीर स्तर पर ही चल रही है। भारत में शायद ऐसी एक भी कंपनी नहीं है जिसका टर्न ओभर 100 करोड़ रूपये से अधिक है। उदारीकरण औद्योगिक नीति के दौरे में सरकार को अधिकाधिक प्रसंस्करण इकाईयों की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए। विशेष गुणवत्ता से जुडे ब्रांड नाम के कारण ब्रांड वाले उत्पादों को उपभोक्ता प्राथमिकता देते हैं। अत: प्रसंस्करण उत्पादों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।

भारत से होने वाले निर्यात की संरचना में अधिक विविधता नहीं है तथा आम और प्याज का गुदा ही प्रमुख रूप से निर्यात होता है। अत: प्रसंस्करण उत्पादों को भी निर्यात की सूची में सम्मिलित

करने की योजना बनानी चाहिए। कुछ उत्पादों की अपेक्षा कई उत्पादों के निर्यात से वर्ष भर निर्यात में निरंतरता बनी रहेगी और विश्व बाजार में भारत की पकड़ भी बढ़ेगी।

प्रसंस्करण उत्पादों का निर्यात संवर्द्धन अभी कमजोर है। अत: निजी क्षेत्र को इस ओर प्रोत्साहित करना चाहिए। प्रतियोगात्मक बाजार के वातावरण में भारत को निर्यात संवर्द्धन के प्रयास करना चाहिए।

आज जब सभी औद्योगिक फसलों का उत्पादन लगातार बढ़ रहा है। यद्यपि व्यावसायिक रूप से प्रसंस्करण उत्पादों की मात्रा में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। भारत में प्रशिक्षित मानव श्रम उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त यातायात, संचार, वित्त, भंडारण तथा ऊर्जा जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी इस देश में उपलब्ध है। यद्यपि न मूलभूत सुविधाओं को विशेषतया उत्तर पूर्वी राज्यों में विस्तार करने की आवश्यकता है। उदारीकरण की सरकारी नीति के अंतर्गत फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योंग में भी भारी निवेश की प्रबल सभावनाएँ हैं परतु नीति निर्माताओं का यह उत्तरदायित्व है कि उचित प्रोत्साहन योजनाओं द्वारा व्यवसायियों तथा बेरोजगार युवकों को फल एवं सब्जियों के प्रमुख उत्पादक क्षेत्रों में फल एवं सब्जी प्रसंस्करण इकाईयाँ लगाने में सहायता करें। इससे इन क्षेत्रों में भी प्रसंस्करण की सुविधा उपलब्ध हो सकेगी। जहाँ पर फल एवं सब्जी का उत्पादन तो हो रहा है परंतु प्रसंस्करण इकाईयों के न होने से प्रसंस्करण का कार्य संभव नहीं हो पा रहा था। फल एवं सब्जी प्रसंस्करण इकाईयों के बढ़ने से भारत का फल एवं सब्जी रोजगार के अवसर मिलेंगे, व्यवसायियों के आय तथा लाभ बढ़ेगा तथा भारतीयों के रहन-सहन के स्तर में सुधार होगा।

सारणी-1: *भारत में वर्ष 1980-81 से 1998-99 की अवधि के दौरान फल एवं सब्जियों के अंतर्गत क्षेत्र एवं उत्पादन*

अवधि	क्षेत्र मिलियन हेक्टेयर	उत्पादन (करोड़ रूपये में)
1980-81	4.88	42.46
1985-86	5.77	59.14
1987-88	6.95	76.60
1988-89	124	
1990-91	6.48	87.16
1992-93	8.25	96.76
1993-94	8.06	103.04
1994-95	9.32	105.89
1995-96	8.69	113.10
1996-97	8.91	115.53
1997-98	9.31	115.94
1998-99	9.59	131.58

स्रोत: *इंडियन हॉर्टीकल्चर डाटा बेस 2000 नेशनल हॉर्टीकल्चर बोर्ड, पृ. 3-4*

सारणी-2: *भारत में फल एवं सब्जी प्रसंस्करण उद्योग की प्रगति*

वर्ष के अंत	खाद्य प्रसंस्करण इकाईयों की संख्या	प्रसंस्करण की कुल क्षमता 1000टन/वर्ष	प्रयुक्त क्षमता में (प्रतिशत)
1980	2026	275	25.3
1981	2394	275	32.7
1982	2611	300	45.5
1983	2809	330	36.3
1984	3006	379	34.6
1985	3100	405	40.8
1986	3343	447	36.1
1987	3498	556	33.5
1988	3413	600	35.5
1989	3629	708	33.9
1990	3846	894	29.0
1991	3925	950	37.9
1992	4047	1108	42.3
1993	4127	1260	44.3
1994	4270	1402	48.5
1995	4400	1650	48.4
1996	4700	1910	51.0

स्रोतः *खाद्य प्रसंस्करण उद्योग मंत्रालय, भारत सरकार*

सारणी–3: *फल एवं सब्जियों के उत्पादन की तुलना में फल एवं सब्जी प्रसंस्करण इकाईयों का राज्यवार विवरण*

राज्य	उत्पाद		फल एवं सब्जी		उत्पाद	सापेक्ष
	मात्रा	प्रतिशत	मात्रा	प्रतिशत	प्रसंस्करण अनुपात	इन्फ्रास्ट्रक्चर सूचकांक
आंध्र प्रदेश	87.9	7.54	252	6.10	0.81	96.1
असम	58.1	4.98	54	1.13	0.26	78.0
बिहार	151.1	12.96	53	1.28	0.10	81.1
गुजरात	55.8	4.79	224	5.24	1.13	122.4
हरियाणा	15.5	1.33	143	3.46	2.26	141.3
हिमाचल प्रदेश	10.7	.92	81	1.96	2.13	98.8
जम्मू कश्मीर	23.0	1.97	80	1.94	0.98	84.0
कर्नाटक	114.6	9.83	230	5.57	0.57	96.9
केरल	113.3	9.72	327	7.91	0.81	157.9
मध्य प्रदेश	54.9	4.71	93	2.25	0.48	75.3
उड़ीसा	94.9	8.14	22	0.53	0.07	97.0
पंजाब	33.4	2.86	175	4.24	1.48	191.4
राजस्थान	6.6	0.57	90	2.19	3.84	83.0
तमिलनाडु	84.4	7.24	385	9.32	1.29	144.0
उत्तर प्रदेश	95.6	8.20	415	10.04	1.22	103.3
पश्चिम बंगाल	72.5	6.22	260	6.29	1.01	94.2

संदर्भ सूची:

1. भारत का भूगोल – एम. प्रसाद
2. राष्ट्रीय सहारा
3. योजना
4. बी.पी.पाण्डेय, इकॉनोमिक बॉटनी
5. आधुनिक किसान डायरी
6. राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा, समस्तीपुर
7. आई०ई०डी०बी०, पटना
8. ग्रामीण विकास मंत्रालय रिपोर्ट

वाणिज्य

भाषाओं के आईने में भोजपुरी भाषा की लिपि कैथी लिपि की दशा एवं दिशा

डॉ० अरूप कुमार श्रीवास्तव

व्याख्याता, वाणिज्य विभाग,
डॉ० बी०एन०वाई० डिग्री कॉलेज, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

भारत के वासी दूसरे देश में भारतीय, अमेरिका के अमेरिकी तथा चीन के वासियों को चीनी कहा जाता है। इससे काफी गर्व होता है। वस्तुतः महात्मा गांधी ने विदेशों में जाकर काले-गोरे का भेद मिटाया परिणामस्वरूप भारतीयों के सम्मान में चार चाँद लगा।

भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक देश के अंदर अंतर्राज्यीय आवागमन पर राजनेता राजनीति करते नहीं थकते। बिहार में किसी भी राज्य के वासी चाहे वे महाराष्ट्र, पंजाब, कर्नाटक एवं तमिलनाड्डू के क्यों न हों, उन्हें सम्मान मिलता रहा है। फिर भी बिहार के वासी को दूसरे राज्य में सम्मान नहीं मिल पाता है। बिहार के लोग खुद को बिहारी कहने से डरते हैं। बिहारी जब दूसरे राज्य (अपने ही देश के अंदर) में नौकरी हेतु परीक्षा देने एवं नौकरी करने जाते हैं, तो उनके साथ सौतेलापन का व्यवहार होता है। जो नहीं होनी चाहिये, भारत की स्वतंत्रता संग्राम में महात्मा गांधी ने बिहार की धरती को ही कर्मभूमि बनाया। सच पूछा जाय, तो बिहारियों की भूमिका स्वतंत्रता संग्राम में किसी भी राज्य से कम नहीं अपितु अविस्मरणीय है।

बिहार दिवस मनाने का निर्णय बिहार सरकार द्वारा लिया गया तथा मनाया गया। इस पर अन्य राज्य वासियों को नागवार गुजरा। जो सर्वविदित है। भोजपुरी भाषा को बिहारी भाषा कहा जाता है, जो बिहारियो के लिए गर्व की बात है।

बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार ने भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में कैथी लिपि की भाषा भोजपुरी को सम्मिलित करने का प्रस्ताव किया, जिसे अभी तक आठवीं अनुसूची में अज्ञात कारणों से नहीं जोड़ा जा सका है। 6 सितम्बर 2013 को संसद मे हुए बहस बेकार साबित हुए जो बिहारियों के साथ अपमान का द्योतक है। कुछ लोगों का कहना है कि इससे हिन्दी भाषा कमजोर हो जाएगी। जबकि एक तरफ अंतर्राष्ट्रीय भोजपुरी सम्मेलन बिहारियों के सम्मान के लिए हो रहे हैं।

Recognition

Bhojpuri is a common language in states of Maharaja Bhoj ,especially in Bhojpur district(arah) and the surrounding area. It has its own scricpt known as kaithi script these days, Bhojpuri is a common language. Bhojpuri Academy chairperson Ravikant Dubey, in separate letters addressed to Lok Sabha (LS) Speaker Meira Kumar, leader

of Opposition in LS Sushma Swaraj, AICC general secretary and MP Rahul Gandhi, BJP MP Murli Manohar Joshi and several other MPs, seeking their support for inclusion of Bhojpuri language in the Eighth Schedule of the Constitution.

Ravikant Dubey is the person who is struggling from many year to recognition of bhojpuri language. Raghuvansh Prasad Singh put forth a strong case for Bhojpuri calling it the language which belonged to heroic revolutionaries of society.[1] Bhojpuri needs to be recognized in its own country first. For cultural reasons, it is usually seen as a dialect of Hindi. Magahi language which belongs to central part of Bihar has no backing due to the ignorance of its original speakers. If Bhojpuri is not recognized then it may face danger of extinction or misrepresentation in Art and culture of India which has linguistic diversities. Due to the persistent demand from media and Bhojpuri language activists to recognize it as an official language, P Chidambaram, Home Minister,Government of India announced to Lok Sabha speaker a few lines in Bhojpuri : "*hum rauwa sabke bhavna samjhatani* (I understand your feelings)", proposing that Bhojpuri will be included in 8 Schedule of the Constitution and accorded the official status. Parliamentarians hope that the good news comes soon.[2]

Bhojpuri Literature

The Bhojpuri-speaking region, due to its rich tradition of creating leaders for building post-independence India such as first President Dr. Rajendra Prasad followed by many eminent politicians and humanitarians like Dr. Krishna Dev Upadhyaya, was never devoid of intellectual prominence which is evident in its literature.

Bhojpuri became one of the bases of the development of the official language of independent India, Hindi, in the past century. Bhartendu Harishchandra, who is considered the father of literaryHindi, was greatly influenced by the tone and style of Bhojpuri in his native region. Further development of Hindi was taken by prominent laureates such as Mahavir Prasad Dwivedi and MunshiPremchand from the Bhojpuri-speaking region. Bisharam was an important writer in bhojpuri . he wrote a special kind of 'birahaa'.PARICHAY DAS is a post modern poet. a new kind of poetry starts from his writings.Bhikhari Thakur, known as the Shakespeare of Bhojpuri, has also given theatre plays including the classics of Bidesiya. Pioneer Dr.Krishna Dev Upadhyaya from Balliadistrict devoted 60 years to researching and cataloging Bhojpuri folklore. Dr. H. S. Upadhyaya wrote the book *Relationships of Hindu family as depicted in Bhojpuri folksongs* (1996). Together they have catalogued thousands of Bhojpuri folksongs, riddles and proverbs from the western part of state of Bihar, Purvanchal (U.P), and northwestern part of Jharkhand.

The Bhojpuri literature has always remained contemporary. It was more of a body of folklore with folk music and poems prevailing. Literature in the written form started in the early 20th century. During the British era, then known as the "Northern Frontier Province language", Bhojpuri adopted a patriotic tone and after independence it turned to community. In later periods, following the low economic development of the Bhojpuri-speaking region, the literary work is more skewed towards the human sentiments and struggles of life.

Bhojpuri over the course of time has been written in various scripts by various people. Bhojpuri until late 19th century was commonly written in Kaithi script as well as Nasta'liq (Persian) script.

Parichay Das is a well known Writer, Thinker, Editor in Bhojpuri literature. He is pioneer poet in contemporary Bhojpuri Poetry. Bhojpuri post modern poetry begins from his writings. 'Chaaruta', 'Ek Naya Vinyaas', 'Sansad Bhavan ki Chhat Per Khada Ho Ke', 'Prithivi Se Ras Le Ke', 'Yugpat Sameekaran Me', Akaksha Se Adhik Satvar', 'Dhoosar Kavita', 'Kavita Chaturthi', 'Lipi-Alipi'etc. are his poetry collections. He is editor of 'Parichhan'- Maithili-Bhojpuri Magazine Published from Maithili-Bhojpuri Academy, Delhi Govt. He is also Editor of 'Indra Prasth Bhaarti'- Hindi Magazine, Published from Hindi Academy, Delhi Govt. He is Secretary Maithili-Bhojpuri Academy, Delhi Govt. and Secretary Hindi Academy, Delhi Govt. His original name is dr.ravindra nath srivastava. His wife vandana srivastava is a well known artist and painter of bhojpuri and modern style. He was born in Rampur, Devlaaas Village (Mau district's Mohammadabad Tehseel in Uttar Pradesh, India).

Writing System

Bhojpuri was historically written in Devanagari and Kaithi,[3] with some claiming Nastaliq script being used. But after 1894, Devanagari has served as the primary script for writing purpose.

Kaithi script was used for administrative purposes in the Mughal era for writing Bhojpuri, Awadhi, Maithili, Urdu, Magahi and Hindi from at least 16th century up to the first decade of 20th century. Government gazetteers report that Kaithi was used in a few districts of Bihar through the 1960s. It is possible that Kaithi is still used today in very limited capacity in these districts and in rural areas of north India. The significance of Kaithi grew when the British governments of the Bengal Presidency (of which Bihar and some southern districts of Nepal was territory) and the Northwestern provinces and Oudh selected the script for use in administration and education. The first impetus of growth was the standardization of written Kaithi in 1875 by the government of NWP&O for the purpose of adapting the script for use in formal education.

The second was the selection of Kaithi by the government of Bihar as the official script of the courts and administrative offices of the Bihar districts in 1880. Thereafter; Kaithi replaced the Persian script as the writing system of record in the judicial courts of Bihar. Additionally, on account of the rate of literacy in Kaithi, the governments of Bihar and NWP&O advocated Kaithi as the medium of written instruction in their primary schools.

Dialects

Bhojpuri has three dialects identified in the literature as

1. Standard Bhojpuri (also referred to as Southern Standard)
2. Northern Bhojpuri,
3. Western Bhojpuri

Southern Standard Bhojpuri covers the areas of Bhojpur, Rohtas, Saran, Bhabua, Buxar, Siwan, Gopalganj in Bihar, and Ballia and eastern Ghazipur in Uttar Pradesh. One may also come across a local name 'Chaparahiya' in Saran.

Northern Bhojpuri covers the areas of Deoria, Gorakhpur and Basti in Uttar Pradesh and parts of Champaran in Bihar. Local names include 'Gorakhpuri' for the language in Deoria and eastern Gorakhpur, and 'Sarwariya' in western Gorakhpur and Basti. The variety spoken cast of Gandak river between Gorakhpuri Bhojpuri and Maithili in Champaran has a local name Pachhimahwa. Northern Bhojpuri has Maithili influence.

Western Bhojpuri includes the areas of Varanasi, Azamgarh, Ghazipur and Mirzapur in Uttar Pradesh 'Banarasi' is a local name for the Banaras Bhojpuri. There is a very popular general name "Purbi" or "Benarsi" for Western Bhojpuri.

Although all dialects of Bhojpuri are quite similar, Western Bhojpuri can be easily recognised because it has "vaaste/bade" for the term "for", whereas other dialects have "khaatir" for it.

Bhojpuri in Pakistan

After independence of Pakistan in 1947, many Bhojpuri speaking Muslims migrated to Pakistan and settled in Karachi. The Bhojpuri dialect is currently spoken by elderly while the younger generation now speak standard Urdu. The Bhojpuri dialect is also known as Bihari dialect in Pakistan.[4] There is also a weekly paper in Bhojpuri language, Parsa District Nepal.

संविधान की आठवीं अनुसूची के अनुसार निम्न भाषाओं को राजभाषा के रूप में मान्यता दिया गया है:-

1- असमिया	10- पंजाबी	19- मैथिली
2- बंगाली	11- संस्कृत	20- संथाली
3- गुजराती	12- सिंधी	21- डोंगरी
4- हिन्दी	13- तमिल	22- बोडो
5- कन्नड़	14- तेलगू	
6- कज़्मीरी	15- उर्दू	
7- मलयालम	16- कोंकड़ी	
8- मराठी	17- मणिपुरी	
9- उड़िया	18- नेपाली	

सन् 1967 ई. में संविधान के 21वें संशोधन में सिंधी 1992 में 71वें संशोधन के द्वारा मणिपुरी, कोंकणी एवं नेपाली 2003 में 92वें संशोधन से मैथिली संथाली बोडो भाषाओं को आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया। संविधान के अनुच्छेद-345 के अधीन प्रत्येक राज्य के विधानमंडल को यह अधिकार दिया गया[5] कि वह आठवी अनुसूची में अंतर्विष्ट भाषाओं में से किसी एक या अधिक को सरकारी कार्य हेतु राज्य की सरकारी भाषा के रूप में अंगीकार कर सकता है तो बिहार सरकार सरकारी कार्यों में भोजपुरी भाषा में कार्य क्यों नहीं करा सकती है? जबकि पहले होता था। (कैथी लिपि एवं देवनागरी लिपि में)

कैथी लिपि के संदर्भ में अधोलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं:-

Documents in Kaithi Script of Bhojpuri literature are traceable to at least the 16th century. The Kaithi script was widely used during the Mughal period in the 1880s, during British raj the script was recognized as the official script of the law court of Bihar.

Although in General Kaithi script was much more widely used than Deonagri in some areas, it later on last its popularity to the other officially recognized script.

As a matter of Fact language of Kaithi script was also used in Angika, Awadh, Bhojpuri, Magahi, Maithili, Urdu in time period c16th mid 20th century.

Kaithy also called Kayathi is the name of historical Script used widely in parts of north India. Primarily in the former North western provinces, Awadh and Bihar. It was used for writing legal administrative and private records.[6]

Kathi script derives its name from the word Kayastha, a social group of India that traditionally consists of administrators and accountants.[7]

The Kayastha community was closely associated with the Princely courts and clonial Govts. of north India, and were employed by them to write and maintain records of revenue transactions legal documents and title deeds, general correspondence and proceedings of the royel courts and related bodies.[8]

उपरोक्त प्रसंग में सरकार द्वारा निम्नांकित बातों को ध्यान में रखते हुए आवश्यक कदम उठाए जा सकते हैं:-

1. सरकारी कार्यों में भोजपुरी भाषा की लिपि कैथी लिपि का प्रयोग करना।
2. बिहार राज्य के भोजपुरी भाषा की शिक्षा प्रथम दर्जा से ही देना तथा अनिवार्य करना।
3. संस्कृत एवं उर्दू की भांति भोजपुरी शिक्षक की भी पृथक बहाली करना, जिससे रोजगार का सृजन हो सके।

बिहार के विश्वविद्यालयों में भोजपुरी भाषा से स्नातक प्रतिष्ठा, स्नातकोत्तर तथा शोध विषय की पढ़ाई शुरू की गयी है। परंतु खेद इस बात की है कि इसकी वर्णमाला के रूप में देवनागरी लिपि का प्रयोग ही लिखने पढ़ने में होता है। जिससे सहज कैथी लिपि है। यह मूलत: कैथी लिपि में होना चाहिये। इसमें व्याकरण कम होने के कारण गलती की संभावना कम है तथा कम समय मे अधिक बातें लिखी जा सकती है।

जिस भाषा में व्यक्ति रात-दिन वार्तालाप करते हैं उन्हें लिखने-बोलने में कठिनाई नहीं होती है। शोध से यह विषय स्पष्ट है, कि स्थानीय लोगो को क्षेत्रीय भाषा में लिखने-पढ़ने की आदत हो जाती है, तो वहाँ के विकास में तीव्रता आती है। जापानी, रूसी एवं चीनियों की भाषा में वैज्ञानिक ज्ञान ने अंग्रेजियत के गरूर को मेटियामेट कर दिया तो भोजपुरी भाषा की लिपि कैथी लिपि भी इस कार्य को करने में दुर्बल नहीं है। जरूरत है व्यक्तिगत, सामाजिक एवं सरकारी प्रबल इच्छा शक्ति की। मॉरीशस देश उदाहरण के रुप में खड़ा है।

कोई भी लिपि ध्वनि के स्वतंत्र अस्तित्व को स्पष्ट करती है, देवनागरी लिपि सूक्ष्म ध्वनि विश्लेषण पर आधृत होने के कारण सर्वाधिक वैज्ञानिक है। इसी लिपि में संस्कृत और हिंदी भाषा लिखी जाती है, कुछ हेर-फेर के साथ 'कैथीलिपि' भी देवनागरी लिपि से मेल खाती है।

यह लिपि सहज, बोधगम्य एवं अल्प अभ्यास से ग्राह्य है। सच पूछा जाय, तो कैथी लिपि में लिखने मे तीव्रता एंव शीघ्रता Shorthand Typewriting की तरह ही है। फिर भी आशुलिपि से तुलनीय नहीं है, क्योंकि आशुलिपि तो संकेत लिपि है। जो सबके द्वारा पढ़ी लिखी नहीं जा सकती है, जबकि थोड़े से रूचि या चाव होने पर कैथीलिपि में लिखे संलेख, अभिलेख, पत्रादि एवं संदेश आदि इस लिपि का ज्ञान रखने वाले प्रत्येक जानकार के लिये सहज पठनीय है। कैथीलिपि न तो देवनागरी लिपि की अनुकृति है ना ही आशुलिपि जैसा संकेत लिपि ही है। यह अपने आप में स्वतंत्र, अद्‌भुत लिपि है।

भोजपुरी भाषा की लिपि कैथी लिपि लुप्त प्राय न हो जाय। इसके लिये आवश्यक है, कि विद्यालयो/विश्वविद्यालयों में शिक्षा एवं सरकारी कार्यो में सम्मिलित कर अनिवार्य किए जाय। यह सभी बुद्धिजीवियों एवं बिहार वासियों का परम कर्त्तव्य है। कैथी लिपी के वर्णाक्षर निम्नलिखित है-

कैथीलिपि की विशेषताऐं निम्नलिखित हैं:-

1. यह राम गति देहु सुमति से शुरु होता है। केवल 12 शब्द ही कैथी लिपी के देवनागरी से भिन्न है। कैथीलिपि में ह्रस्व ''इ'' कार और दीर्घ ई कार की अलग-अलग मात्राएँ नहीं होती केवल दीर्घ ''ई'' कार की मात्रा का प्रयोग होता है यथा ''कि'' और ''की'' एक ही प्रकार से ''की'' रूप में लिखे जाते है।

   (अपवाद- कहीं-कहीं दोनों रूप भी देखने को लिए मिलता है। यह देवनागरी लिपि के प्रयोग के कारण होता है।)
2. ''उ'' कार और ''ऊ'' कार के लिए भी एक ही मात्र ''उ'' कार का प्रयोग होता है, जैसे ''कु'' और ''कू'' दोनों के लिए ''कु'' लिखा जाता है। (इसके भी अपवाद है)
3. इस लिपि में संयुक्ताक्षर नही होता है (यथा- क्ष, त्र, ज्ञ) और न कोई अक्षर आधा होता है जैसे- कल्पना और कलपना दोनों शब्द एक प्रकार से ''कलपना'' रूप में लिखे जाते हैं। पाठक स्थानिक प्रयोग अर्थ से शब्दों के उपर्युक्त अर्थ को ग्रहण कर लेते है। यथा-

   (क) यह आपकी ''कल्पना'' मात्र है।

   (ख) उसका ''कलपना'' दिल छू लेती है।

   दोनों वाक्यों में प्रयुक्त ''कलपना'' और ''कल्पना'' अर्थभेद से भिन्न अर्थ के धारक हैं, लेकिन कैथी लिपि में दोनों शब्द ''कलपना'' लिखे जाते है।

   अंग्रेजी भाज़ा में READ शब्द वर्त्तमान, भूत और भविष्यकाल तीनों में एक ही प्रकार से लिखा जाता है लेकिन इसका अर्थ वाक्य में प्रयुक्त स्थिति के अनुसार लगाने में कोई भ्रम

नहीं होता, पाठक सहज ही अर्थ उपर्युक्त भाव ग्रहण कर लेते है। कैथी लिपि में भी इसी प्रकार उपर्युक्त भाव ग्रहण कर लिया जाता है।

4. श, स और ष के लिए केवल एक ही अक्षर श, एवं न और ण के लिए न तथा ब के लिए व और व के लिए व का प्रयोग होता है।
5. माथे पर (अक्षरों के) देवनागरी लिपि की तरह टोपी नही लगायी जाती तथा अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के लिए केवल अनुस्वार का ही प्रयोग होता है। विसर्ग चिह्न लगाने की आवश्यकता नही होती।
6. इस लिपि में पूर्ण विराम, अल्पविराम, प्रश्नवाचक इत्यादि चिह्नों का प्रयोग नहीं होता है। एक शब्द के बाद दूसरा शब्द कुछ दूरी बनाकर लिखा जाता है तथा एक वाक्य की समाप्ति पर एक छोटा डैस लगाया जाता है। नाम मात्र का व्याकरण है जिससे लिखने में गलती कम होती है तथा क्षेत्रीय भाषा होने से सहज ही ग्राह्य है। उक्त बातें सारण जिले के हस्तलिखित लेखों के निष्कर्ष है।

जमींदारी प्रथा की समाप्ति तक ''कैथीलिपि'' को राजकीय लिपि का सम्मान प्राप्त था। जमीन क्रय-विक्रय संबंधी दस्तावेज तथा जमींदारी कार्यालय के अभिलेख यथा, खाता, खतियान, आदि 'कैथीलिपि' में ही लिखे जाते थे। जनसामान्य के बीच परस्पर पत्राचार की लिपि भी कैथीलिपि ही थी। आज भी कतिपय कार्यालय संबंधी अभिलेख कैथीलिपि में ही मौजूद है, जिसका पढ़ने-लिखने और समझने के लिये विशेषज्ञ की आवश्यकता एवं महत्व है। जमींदारी प्रथा के खात्में के साथ ही कैथी लिपि का सरकारी काम-काज के स्तर पर घोर अवमूल्यन हो गया है।

सरकार इतिहासकार तथा समाजसेवी द्वारा कैथी लिपि के महत्व की ओर ध्यान न दिए जाने पर इसके दुष्परिणाम भयंकर सामने आ सकते हैं। कैथी लिपि में लिखे अभिलेखों, दस्तावेजों को पढना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन हो रहा है जिससे रिश्वतखोरी को बढावा मिल रहा है। अभी निबंधन कार्यालय में जो कैथी लिपि के जानकार हैं वो 250-300 रू. में एक दस्तावेज का अनुवाद करते हैं। जिससे गरीब त्रस्त हैं तथा यह अंत में जमीनी विवाद का विषय हो जायेगा। बिहार की धरोहर रुपी ये पुराने अभिलेख किसी काम के न रह जायेंगे तथा विलुप्त हो जायेंगे।

आजतक में छपे विषय 'पिछले साल में भारत की 250 भाषाएँ हुई विलुप्त'[9] में भाषाविद् गणेश देवी के संस्थान भाषा रिसर्च पब्लिकेशन सेंटर द्वारा भारतीय भाषाओं के लोक सर्वेक्षण PLSI से जाहिर हो रही है। ऐसा लगता है जो भाषा रोजगार देगी, वही चलन में रहेगी अन्यथा विलुप्त हो जायेगी। अतएव भोजपुरी भाषा मे रोजगाार तलाशे जाएँ। 8/9/13 दैनिक जागरण में छपे विषय 'सम्मान के इंतजार में भोजपुरी' में बिहार भोजपुरी अकादमी के नये ब्रांड अम्बेसडर मालिनी अवस्थी ने भोजपुरी भाषा और संस्कृति को सही पहचान दिलाने की राह बतायी।[10] विधायक दिलीप वर्मा ने कहा कि भोजपुरी भाषा को बिहार राज्य में हिन्दी, मैथिली, उर्दू व संस्कृत के समान मान्यता प्राप्त हो, संविधान की 8वीं सूची मे भोजपुरी भाषा दर्ज हो।

कैथी लिपि में लिखी दो कहानियाँ निम्न हैं:-

Bhojpuri story written in Kaithi script, written by Babu Rama Smaran Lal in 1898.

Notes & References

1. "Recognition' of Bhojpuri sought". Jan 23, 2012. Retrieved July 20, 2012
2. "Chidambaram speaks a surprise". The Hindu. May 17, 2012. Retrieved June 5, 2012
3. Bhojpuri Ethnologue World Language
4. "Bhojpuri singer popular in Pakistan". Telegraphindia.com. 2011-06-16. Retrieved 2013-04-22.
5. Classvii btc hamari shasan vyavastha
6. King Christopher R.1995. One language, two scripts, The Hindi movement in 19th century North India New York, Oxford University Press.
7. Grierson, George A 1899. A Hand Book to the Kaithi Character, Calcutta. Thacker Spink and co.
8. Pandey Anshuman 2008 Proposel to Encode the Kaithi script in ISO/IEC 10646
9. Aaj tak 29aug2013 new delhi
10. Dainik jagran 8sep2013
11. Bhojpuri in Andrew Dalby Dictionary of Language (Ed recensalodinli Bloomsbury. 2004 ISEN0747576831).
12. Dharam dev Singh Bhojpuri –Lok sahitya Lokgiton Ki Samajik sanskritik sandarbh evam prishthbhumi varanashi : chukhamba sanskrit Bhavan2009.
13. UN Tiwary, The Originated Development of Bhojpuri Calcutta: Asiatic society1970.

अर्थशास्त्र

कृषि विविधिकरण एवं औषधीय पौधों की खेती

बिहार के विकास के लिए आवश्यक

मोहन कुमार लाल

सहायक प्रोफेसर, (अर्थशास्त्र विभाग), कमला राय कॉलेज, गोपालगंज

बिहार कृषि अर्थव्यवस्था पर आधारित राज्य है जहाँ 80 प्रतिशत लोगों की आजीविका का प्रमुख आधार कृषि है। वर्तमान में बिहार का कुल भौगोलिक क्षेत्र लगभग 93.6 लाख हे. है जिसमें केवल 56.03 लाख हे. पर ही वास्तव में खेती होती है। राज्य में 79.46 लाख हे. भूमि कृषि योग्य है, लेकिन सिंचाई 33.51 लाख हे. भूमि पर ही की जाती है।

15 नवम्बर 2000 को बिहार के विभाजन से खदानों, खनिजों एवं अधिकांश महत्वपूर्ण उद्योगों, जैसे टेल्को, एच.ई.सी., बोकारो स्टील प्लांट, उषा मार्टिन, बिहार एलॉय तथा पतरातु थर्मल पावर प्लांट आदि का नए प्रदेश झारखंड में चले जाने से बिहार को केवल कृषि योग्य उर्वर भूमि प्राप्त हुआ है।

बिहार राज्य में अभी भी 40 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करते हैं। बिहार में भूमिहीन किसानों एवं श्रमिकों की संख्या 45 प्रतिशत से भी अधिक है। बिहार श्रेष्ठ श्रम एवं श्रमिक पैदा करने वाला राज्य बना हुआ है, चूंकि श्रेष्ठ श्रम सस्ता उपलब्ध है, ऐसे में श्रमिकों के पलायन अधिकारिक आंकड़ों के अनुसार तीस लाख हैं, जबकि गैर सरकारी अनुमान के मुताबिक 50 लाख से भी अधिक है। महाराष्ट्र, असम, तमिलनाड्डु, झारखण्ड एवं पूर्वोत्तर राज्यों में बिहारियों पर हुई हिंसा, शोषण एवं दुर्व्यवहार के कारण ऐसे राज्यों में कार्य करना नामुमकिन हो गया है। इस समस्या का एक मात्र विकल्प है, बिहार का सर्वागीण विकास। मुख्य रूप से कृषि को अधिक लाभकारी बनाना होगा। एक उद्योग की भांति कृषि का विकास करना होगा। बिहार में कृषि वृद्धि दर 3 प्रतिशत से भी कम है, फलस्वरूप आय एवं उपभोग का स्तर कम है।

कृषि विविधिकरण

बिहार में कृषि समुचित विकास एवं कृषि भूमि के बेहतर उपयोग के लिए बाजार को ध्यान में रखते हुए कृषि विविधिकरण अपनाना अति आवश्यक हो गया है। कृषि विविधिकरण के अंतर्गत एक प्रकार के फसल के साथ-साथ अन्य फसलों व तंत्रों को समावेश किया जाता है। कुछ ही फसलों के लगातार उगाये जाने से होने वाले हानि से बचाव हो तथा कृषि क्षेत्र में जोखिम कम हो सके।

वर्तमान में बिहार में फसल पद्धति का लगभग 85 प्रतिशत भाग खाद्यान्न फसलों, जैसे–धान, गेहूँ, मक्का इत्यादि का उत्पादन होता है। इस पद्धति से कुछ नये कुप्रभावों का सामना करना पड़ रहा है, जैसे–उत्पादकता का घटना, जल एवं भूमि संसाधनों का कम होना, भू-जल सतह का नीचे गिरना, वातावरण में प्रदूषण बढ़ना आदि। अधिक रासायनिक खाद्य के उपयोग से भूमि की उर्वरता घटी है। लगातार एक ही भूमि पर असंतुलित नाईट्रोजन उर्वरक के प्रयोग के साथ एक ही फसल उगाने से फासफोरस, पोटाश एवं सलफर का दोहन हुआ है तथा अनेक उपयोगी सूक्ष्म तत्वों की कमी हुई है। अत: औषधीय पौधे एवं नकदी फसलों तथा जड़ी बूटियों को खेती में शामिल कर अधिक उत्पादन और आय प्राप्त किया जा सकता है।

विविधिकरण से लाभ

- कृषि विविधिकरण अपनाकर एक साल में कई फसलों को उत्पन्न कर सकते हैं जिससे किसान अपनी आमदनी कई गुणा बढ़ा सकते हैं।
- एक फसल से होने वाली क्षति को दूसरी फसल से पूरा किया जा सकता है।
- इससे साल भर रोजगार उपलब्ध रहता है तथा युवा पीढ़ी को शहरों की तरफ पलायन करने से रोका जा सकता है।
- कृषि विविधिकरण बाजार की कीमतों के उतार-चढ़ाव को वहन करने में अधिक सक्षम होता है तथा परिवार के लिए स्थायी कमाई को पूर्ण करता है।
- विभिन्न फसलों के उत्पादन में विविधिता आती हैं तथा संतुलित भोजन प्राप्त होता है। मात्रात्मक पहलू के साथ गुणात्मक रूप से भी कृषि विविधिकरण के उत्पाद अधिक उपयोगी हैं। निर्यात उन्मुखी फसलों का प्रचार अधिक होता है जो वार्षिक आय को बढ़ाता है।

कृषि विविधिकरण के लिए आवश्यकताएँ

जहाँ कृषि विविधिकरण समय की मांग एवं देश की आवश्यकता बन रही है, वहीं इसको अपनाते समय हमें कुछ सावधानियाँ भी रखनी होगी। जैसे–

- अन्य खाद्यान्नों का उत्पादन तो बढ़े, परन्तु हमारे मुख्य खाद्यान्नों के उत्पादन पर इसका कुप्रभाव ना पड़े।
- फल सब्जियों का उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्नत किस्म के बीज का उत्पादन एवं उन्हें किसानों तक पहुंचाया जाए।
- उत्पादन के बाद उन्हें नष्ट होने से बचाया जा सके, ऐसे तरीकों की खोज करनी होगी। अत: कृषि प्रसंस्करण को बढ़ावा देना चाहिए।
- किसानों को ऋण की सुलभ सुविधा हो तथा उनके उत्पादन का पूरा मूल्य मिले, इसे सुनश्चित किया जा सके।
- गांव एवं शहरों के बीच की सड़कें मजबूत हो तथा यातायात के सुगम एवं सुलभ साधनों की व्यवस्था के प्रयास भी करने होगें।
- किसानों को सिंचाई एवं अन्य तकनीकी सुविधा उपलब्ध करानी चाहिए।

आज कृषि क्षेत्र को फिर बदलाव की आवश्यकता है जो कृषि विविधिकरण के रूप में हो सकती है। यह कोई नया परिवर्तन नहीं है, इसे नये ढ़ंग से अपनाने की आवश्यकता है। कृषि विविधिकरण से किसानों की गरीबी को दूर किया जा सकता है तथा बाजार में नये एवं विविध उत्पाद प्राप्त किये जा सकते हैं। कृषि विविधिकरण सतत् कृषि के लिए महत्वपूर्ण तकनीक हो सकता है। घरेलू एवं अंतर्राष्ट्रीय मांग को देखते हुए कृषि विविधिकरण रोजगार की तकनीक सिद्ध हो सकता है। यदि खाद्य सुरक्षा को कायम रखना है तो कृषि विविधिकरण का विकास एवं प्रचार-प्रसार कर प्राकृतिक संतुलन को बनाते हुए हम अपने लक्ष्य को पा सकते हैं।

औषधीय पौधों की खेती

मनुष्य और वनस्पति का पारस्परिक संबंध बहुत पुराना है। अपने दैनिक जीवन में तो हमने निरन्तर पौधों का उपयोग करते हैं। लेकिन पौधों से बनने वाली अनेक दवाईयों से हम अनजान ही रहते हैं। भारत में चिकित्सा के लिए जड़ी-बूटियों का इस्तेमाल करने की परम्परा लगभग 4000 वर्ष पुरानी है। अभी भी देश में लाखों लोग इस परम्परा पर निर्भर हैं। लगभग 800 से 900 औषधीय जड़ी बूटियाँ ऐसी हैं जिनका राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार होता है। इनमें से लगभग 700 वनों से प्राप्त है। औषधीय प्रजातियों की कुल आवश्यकता का केवल 25 प्रतिशत ही कृषि द्वारा उत्पादित किया जाता है और शेष को प्राकृतिक स्रोतों, जैसे–पहाड़ो, वनों, चारागाहों, परती भूमियों एवं खेत के खड़-पतवारों से ही एकत्रित किया जाता है। प्राकृतिक स्थानों में इन वनस्पतियों की संभावना देश के शुष्क एवं अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में सर्वाधिक हैं।

आजकल लोगों में औषधीय जड़ी-बूटियों एवं सुगन्धित पौधों की खेती के प्रति रुझान बढ़ा है। लेकिन इसकी खेती के प्रति बिहार में जागृति लानी होगी। आर्थिक दृष्टि से अन्य उपयोगी, कंकरीली, पथरीली, ढालू एवं अपेक्षाकृत कम उपजाऊ भूमि पर भी इसकी खेती की जा सकती है। इसमें छोटे पौधे, छोटी झाड़ी तथा लता वाले औषधीय पौधों को लगा सकते हैं। दुनिया में हर्बल पौधों एवं जड़ी बूटियों की बढ़ती मांग और आर्थिक दृष्टि से इस क्षेत्र में आय की अच्छी संभावना को देखते हुए यह स्वरोजगार का एक अच्छा विकल्प है।

भारत में औषधीय एवं हर्बल पौधों में निर्यात की संभावना

भारतीय उपमहाद्वीप में जड़ी बूटियों की लगभग 4000 से अधिक ऐसी प्रजातियां पाई जाती हैं जिन्हें विश्व में अनेक प्रकार की दवाईयां बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। विश्व में प्रतिवर्ष लगभग 80 बिलियन डॉलर मूल्य की जड़ी बूटियों का व्यापार होता है। लेकिन भारत में जड़ी-बूटियों का यह व्यापार 18 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से लगातार बढ़ रहा है। पिछले एक दशक में भारत से औषधीय पौधों का निर्यात तीन गुणा हो गया है। इसके बावजूद चीन का हर्बल का निर्यात भारत से छः गुणा अधिक है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अभी तक हर्बल क्षेत्र में राज्य में राज्य स्तर पर संगठित प्रयास नहीं किए गए हैं। हाल के वर्षों में राज्य स्तर पर हर्बल बोर्ड का गठन किया गया है जो औषधीय जड़ी-बूटियों को सुरक्षित रखने एवं खेती की दिशा में प्रयास कर सके। हर्बल बोर्ड की मदद से जड़ी-बूटियों के संवर्धन के लिए 450 परियोजनाएं चलाई जा रही है।

बिहार में आर्टिमिसिया अन्नुआ की खेती

मलेरिया की दवा बनाने के काम आने वाले पौधों का उत्पादन बिहार में शुरू होने की उम्मीद है। इससे जानलेवा सेरेब्रल मलेरिया से लेकर सभी तरह के मलेरिया एवं अन्य घातक बीमारियों का इलाज आसान व सस्ता हो जाएगा। दरअसल बिना किसी दुष्प्रभाव के जल्दी प्रभाव दिखाने वाली तथा रक्त की तत्काल सफाई करने वाली दवा के लिए आर्टिमिसिनिन रसायन की आवश्यकता होती है और यह चीन में प्राप्त होने वाला आर्टिमिसिया अन्नुआ के पौधे से प्राप्त होता है। बिहार ने इस पौधों का शत-प्रतिशत जर्मीनेशन के साथ तैयार कर लिया है। अब इस दवा के लिए चीन का मुहताज नहीं होना पड़ेगा। इन पौधों को पिछले कई वर्षों से भारत में लगाए जाने की कोशिश हो रही है। लेकिन इसमें सफलता नहीं मिल रही थी। अब बिहार में चार जगहों पर काफी सावधानी और देख-रेख के साथ इसकी नर्सरी तैयार की गई। बिहार में पिछले कई वर्षों से बड़े पैमाने पर बंजर भूमि पर मेडिसिनल प्लांट की खेती के सूत्रधार बने श्री संजीव श्रीवास्तव ने दावा किया है कि फिलहाल इसकी नर्सरी, बॉका जिले के रजौन में 50 एकड़, जमुई में 35 एकड़, सारण के बनियापुर में 200 एकड़ तथा सीवान के नवीगंज में 25 एकड़ में तैयार की गई है। यह भी संभावना है कि इस वर्ष 2000 एकड़ पर इसकी खेती शुरू हो जाएगी। संस्थान किसानों को मुफ्त में पौधों और अन्य तकनीकी सुविधाएं उपलब्ध कराएगी और इसकी पत्तियां 26 रु. प्रतिकिलो की दर से किसानों से खरीदी जाएगी। देश में मलेरिया की दवाओं के सबसे बड़े निर्माता कम्पनी इपिका लैब ने बिहार में पैदा होने वाले आर्टिमिसिया अन्नुआ से तैयार होने वाले आर्टिमिसिनिन खरीदने के लिए श्री संजीव के स्वामित्व वाले कौटिल्या ग्रुप से एक अनुबन्ध भी किया है।

बिहार में पपीता की खेती

बिहार में पपीता की खेती की जाती है। आज यह अत्यन्त लोकप्रिय फल है। पौष्टिक होने के साथ ही पाचक फलों में इसका प्रमुख स्थान है। महत्वपूर्ण रोग निवारक तत्वों का भंडार होने के कारण कई रोगों में इसका उपयोग औषधि के रूप में कर सकते हैं।

रासायनिक विश्लेषण

पपीते में पेप्सिन नामक पदार्थ की मौजूदगी के कारण यह पाचन शक्ति में बृद्धि कराने तथा मदाग्नि को दूर करने की क्षमता रखता है। विटामिन ए एवं सी अधिक होते हैं।

पाये जाने वाले तत्व

जल–89.6 प्रतिशत, वसा–0.1 प्रतिशत, कार्बोहाड्रेट–9.5 प्रतिशत, प्रोटीन–0.5 प्रतिशत, खनिज–0.04 प्रतिशत।

महत्वपूर्ण रोग निवारक तत्वों का भंडार होने के कारण कई रोगों में इसका उपयोग औषधि के रूप में की जा सकती है। इसके उत्पादन से अधिक आय की प्राप्ति होती है।

औषधीय पौधों की खेती की संभावना

बिहार में अनेक औषधीय पौधों की खेती की संभावना है। आवश्यकता है कि यह अध्ययन किया जाय कि किस क्षेत्र में कौन से पौधे उगाये जाये ताकि उसके लिए मौसम अनुकूल हो। इन पौधों की खेती से वातावरण पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है तथा प्रदूषण भी घटता है।

स्टीविया (चीनी तुलसी) की खेती

एक महत्वपूर्ण वनस्पति चीनी तुलसी (स्टीविया) है, जो मधुमेह से पीड़ित लोगों के लिए शर्करा का उत्तम स्रोत है तथा वरदान साबित हुआ है। स्टीविया मूलरूप से दक्षित अमेरिका के पेरूग्वे देश का पौधा है। स्टीविया की लगभग 80 प्रतिशत खेती चीन में होती है। जापान इसके लिए विश्व का सबसे बड़ा बाजार है। वर्तमान में देश के विभिन्न राज्यों, जैसे–कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ तथा उत्तरांचल के विभिन्न भागों में इसकी खेती आरम्भ हो चुकी है। भारत में स्टीविया की खेती को लोकप्रिय बनाने की दिशा में हिमालय जैव सम्पदा प्रौद्योगिक संस्थान पालमपुर, हिमाचल प्रदेश एवं केन्द्रीय औषधीय एवं संगंध पौधा संस्थान, लखनऊ महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। सरकारी संस्थानों के साथ-साथ निजी कम्पनियां, जैसे सन फ्रुट्स लिमिटेड, पुणा, जिसे स्टीविया के उन्नतशील प्रजातियां विकसित करने का श्रेय प्राप्त है। बिहार प्रदेश में भी इसकी खेती की संभावना है। इस पौधे के लिए बिहार में वातावरण अनुकूल है। स्टीविया की नर्सरी लगाकर शोध किये जायें ताकि किस क्षेत्र में आसानी से उगाया जा सकता है, कि लाभकारी हो सके। यह वनस्पति अत्यन्त उपयोगी एवं आय-वर्द्धक है। इसकी मांग भारत ही नहीं बल्कि विश्व के देशों में होती है। अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ. हेविट जी फ्लेचर ने सर्वप्रथम स्टीविया की पत्तियों से स्टीवियो साइड नामक यौगिक निकाला एवं जापानियों ने इस यौगिक की उपयोगिता को संसार के सामने रखा। यह यौगिक पोनिक्रियाज की बीटा कोशिकाओं पर अपना प्रभाव डालकर उन्हें इन्सुलिन तैयार करने में मदद करता है। इसी वजह से यह मधुमेह रोगियों के लिए रामबाण सिद्ध हो रहा है।

औषधीय पौधों की खेती से लाभ

1. कृषि उत्पादन में वृद्धि।
2. कृषि विविधिकरण लाने में आसान व सहायक।
3. मिट्टी की उर्वरा शक्ति का नाश होने से बचाव।
4. अत्यन्त गुणकारी एवं उपयोगी होने के कारण कीमती होना।
5. स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद।
6. अधिक आय की प्राप्ति।
7. मेडिसीन उद्योग की स्थापना में कच्चेमाल के रूप में उपयोगी।
8. अंतर्राष्ट्रीय बाजार में इन वनस्पतियों की मांग के कारण निर्यात की संभावना।
9. स्वरोजगार के लिए उपयोगी।
10. वातावरण के अनुकूल।
11. कम उपयोगी एवं बंजर भूमि पर वनस्पतियों का उत्पादन संभव।
12. इन पौधों के अधिक उत्पादन से दवाईयों की कीमत कम करने में सहायक।
13. क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय मांग के कारण अधिक कीमत किसानों को प्राप्त होना।
14. ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन।
15. राजकीय आय बढ़ाने में सक्षम।

सुझाव एवं निष्कर्ष

बिहार के कृषि विश्वविद्यालयों एवं कृषि संस्थानों द्वारा औषधीय, हर्बल एवं सुगंधित पौधों की खेती के लिए निरंतर शोध किए जाएँ ताकि बिहार के विभिन्न क्षेत्रों में वातवरण के अनुकूल इन पौधों के संबंध में खेती की जानकारी किसानों को दी जा सके। जो भूमि बंजर, पथरीली, अनुपयोगी असमतल हैं, उन भूमियों पर इन वनस्पतियों की खेती आसानी से की जा सकती है तथा किसानों को आय एवं उत्पादन बढ़ाने में लाभप्रद हो सकता है। कृषि क्षेत्र को लाभकारी उद्योग के रूप में इन वनस्पतियों द्वारा विकास किया जा सकता है। तथा कृषि जोखिम को कम किया जा सकता है। हम जानते हैं कि बिहार राज्य में लगभग 60 प्रतिशत ग्रामीण लोगों की आजीविका कृषि से चलती है लेकिन कृषि बृद्धि दर 2 से 3 के बीच है। अत: इन वनस्पतियों की खेती से कृषि बृद्धि दर बढ़ाया जा सकता है तथा आय का महत्वपूर्ण स्रोत बन सकता है और स्वरोजगार के लिए आवश्यक सिद्ध होगा। साथ ही दवाई उद्योग की स्थापना को बल मिलेगा, कारण कि कच्चे माल के रूप में इन वनस्पतियों का प्रयोग होगा। इसके लिए इसमें निवेश बढ़ाने एवं प्रोत्साहन की जरूरत है।

बिहार राज्य हर्बल पादप बोर्ड औषधीय पौधों की खेती को प्रोत्साहन देने में अधिक महत्वपूर्ण होगा। भूमिका निभा सकता है। यदि गांव के 60-70 प्रतिशत लोगों की आय बढ़ाने में वनस्पतियों की भूमिका अहम होती है तो विकसित राज्य बनने में सहायक सिद्ध होगा। अत: बिहार राज्य में औषधीय एवं हर्बल पौधों की खेती पर संगठित और सुचारू रूप से प्रयास करने की जरूरत है। इससे न केवल ग्रामीण विकास को बल मिलेगा बल्कि अखिल भारतीय स्तर पर इन औषधीय वनस्पतियों के निर्यात में चीन की बराबरी करने का अवसर प्रदान करेगा।

संदर्भ स्त्रोत

1. कुरुक्षेत्र एवं योजना
2. बिहार की अर्थव्यवस्था, डॉ. पी.सी. वर्मा
3. बिहार दिग्दर्शिका, दैनिक पत्र हिन्दुस्तान एवं दैनिक जागरण।

कन्या भ्रूण हत्या पर व्यक्तित्व के बहिर्मुखी–अन्तर्मुखी चर का प्रभाव
एक अध्ययन

मधु कुमारी

शोध छात्रा, मनोविज्ञान, जे०पी० विश्वविद्यालय, छपरा

भूमिका

कन्या भ्रूण–हत्या एक समस्या है। आज सम्पूर्ण विश्व के सभी हिस्सों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। भरतवर्ष के भी सभी प्रान्तों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। यह समस्या सामाजिक आर्थिक और मानसिक इन तीनों ही स्तरों पर जारी है। परिणामस्वरूप कन्या भ्रूणहत्या जारी है। भ्रूण हत्या को रोकने में नारियों को अहम भूमिका निभानी पड़ेगी। यह भी सत्य है कि विश्व की जनसंख्या का आधा भाग नारियों की जनसंख्या है। नारी–पुरूष के सम–विभाजन के बावजूद भी समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं के समाधान का सारा दायित्व पुरूषों के कंधो पर ही रहता आया है। इससे समाज अपने आधे हिस्से से लाभान्वित नहीं होता आ रहा है। इस अभाव की पूर्ति किसी भी तरह से नहीं की जा सकती है।

इस समस्या से सम्बन्धित इसका पहलू यह है कि पुरूषों के द्वारा नारियों पर किसी भी समस्या के उत्पन्न होने पर दबाब बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। नारियों को प्राचीनकाल से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पढ़ने–लिखने के अधिकार में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। लेकिन यह सभी वर्ग के नारियों में नहीं देखा जा सकता है। आज भी हमारे समाज में कुछ वर्ग ऐसे हैं जहाँ साक्षरता दर नगन्य है। वैसी स्थिति में भ्रूण–हत्या पर इसका सीधा प्रभाव देखा जा कसता है। कन्या भ्रूण हत्या में परिवार के पुरूष सदस्यों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है जिसे महिलाओं के द्वारा न चाहकर भी स्वीकार करना पड़ता है।

भारतवर्ष के इतिहास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि नारियों में जागरूकता आयी है, उन्हें पुरूषों के समकक्ष होने का गौरव भी प्राप्त हुआ है। महात्मा गाँधी, नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल जैसे राष्ट्र निर्माताओं ने नारियों को राष्ट्रीय स्तर के कार्यक्रमों में हिस्सा निभाने को प्रोत्साहित किया जिसके परिणामस्वरूप नारियों के सम्बन्ध में पुरूषों का भी दृष्टिकोण बदलता गया और माता–पिता के सोच में परिवर्त्तन आया। पुत्रियों के समुचित शिक्षा–दीक्षा के प्रति उन्मुख हुए।

नारी शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि वे सभी प्रकार की सरकारी, गैर-सरकारी संस्थाओं में कार्य करने लगे। अपनी आजीविका के लिए उनमें स्वयं नौकरी करके वेतन प्राप्त करने की जिज्ञासा बढ़ी। स्वयं उपार्जन के कारण उनमें आत्मविश्वास बढ़ा। पुरूषों पर निर्भरता की भावना क्रमशः समाप्त होती गई। आज हर शिक्षित महिलाओं में, जो किसी भी संस्थान में काम करके वेतन प्राप्त करती है, पुरुषों जैसी भूमिका अदा करते आये हैं। नारियों की इस प्रगतिशीलता के दो स्पष्ट परिणाम हुए। एक ओर जहाँ उनमें बहुआयामी जागृति आयी, वहीं दूसरी ओर उनमें अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करने की भावना भी विकसित हुई। युग-युग से पुरूषों के द्वारा किये जाने वाले शोषण से उत्पन्न मानसिक गुलामी से मुक्ति पाने की फरफराहट उनमें बढ़ने वाली यही बेचैनी किसी समस्या के प्रति अभिव्यक्त होती है। कन्या भ्रूण-हत्या भी एक सामाजिक समस्या है। कन्या भ्रूण की जब हत्या ही कर दी जायेगी तो वह नारी रूप में कैसे देखने को मिलेगी। महिलाओं को अन्य समस्याओं की तरह इस समस्या को भी गंभीरता के साथ लेना होगा। लड़का-लड़की के बीच उत्पन्न मतभेद को समाप्त करना होगा। ऐसा नहीं होने पर सामाजिक संतुलन बिगने की संभावना बढ़ती जा रही है।

उपर्युक्त व्याख्या का यह अर्थ नहीं है कि सभी स्त्रियाँ इस कन्या भ्रूण-हत्या से समान रूप सें सहमत या असहमत हैं। एक ओर जहाँ नारियाँ इस दृष्टिकोण का समर्थण करती है, वहीं इसकी ओर एक तहुत बड़ी संख्या इसके विपक्ष में भी अपनी दृष्टिकोण रखती हैं। दृष्टिकोणों का यह अन्तर अनेकानेक कारणों से निर्धारित होता है जिसमें सामाजिक, आर्थक एवं व्यक्तित्व तत्व का प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के बीच एक नई विचारधारा विकसित हो रही है जिसके आधार पर जीवन के सभी व्यवहारों एवं दृष्टिकोणों पर व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व अपना प्रभाव डालता है। नारियों में कन्या भ्रूण-हत्या की प्रवृत्ति अगर पायी जाती है तो यह अकारण नहीं पायी जाती है बल्कि अनेकानेक तत्त्व इस पर अपना प्रभाव डालता है जिसके कारण कन्या भ्रूण-हत्या पायी जाती है। इस पृष्ठभूमि में यह प्राक्कल्पना स्थापित किया जाता है कि अर्न्तमुखी महिलाओं में बहिर्मुखी महिलाओं की अपेक्षा कन्या भ्रूण-हत्या के प्रति अधिक अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

क्षेत्र – मुजफ्फरपुर एवं अगल-बगल के गाँवों से तीन सौ (300) महिलाओं का चयन किया गया।

प्रतिदर्श – सभी वर्गों से तीन सौ महिलाओं का चयन प्रतिदर्श के रूप में किया गया है।

संमग एवं मापनी – व्यक्तित्व के बहिर्मुखता-अन्तर्मुखता चर को मापने के लिए आइजेंक 1959 के द्वारा निर्मित ई०पी०आई० (आइजेंक व्यक्तित्व मापनी) के हिन्दी रूपान्तर मनोवैज्ञानिक शोध एवं सेवा संस्थान पटना विश्वविद्यालय आइजेंक व्यक्तित्व अन्वेषिका का चालन किया गया। यह अन्वेषिका अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता के अतिरिक्त व्यक्तित्व के अन्य आयामों की भी जाँच करता है। इस प्रश्नावली के चौबीस प्रश्नों के आधार पर अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता का मापन किया जा सकता है। यह प्रश्नावली एक (हाँ, नहीं) प्रकार की दो बिन्दु प्रश्नावली है जिसमें कुछ प्रश्न सकारात्मक एवं कुछ प्रश्न नकारात्मक है। इस प्रश्नावली के आधार पर अधिकतम प्राप्तांक चौबीस तथा निम्नतम प्राप्तांक शून्य की संभावना है।

इस मापनी के प्रति उच्च अंक प्राप्त करने वालों को बहिर्मुखी तथा निम्न अंक प्राप्त करने वालों को अन्तर्मुखी माना जाता है। पचीस प्रतिशत उच्चत्तम अंक प्राप्त करने वाले पूर्ण बहिर्मुखी तथा पचीस प्रतिशत निम्नतम अंक प्राप्त करने वाले को पूर्ण अन्तर्मुखी माना जाता है तथा मध्य में रहने वाले को तदनुकूल कहा जाता है।

आइजेंक 1959 के द्वारा निर्मित ई०पी०आई० के इस हिन्दी अनुवाद के प्रयोग को इसलिए उचित माना गया है कि मूल भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति मापनी का निर्माण भी हिन्दी में किया गया है। अत: समानता के दृष्टिकोण से श्रेयस्कर माना गया।

परिणाम – अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता तथा भ्रूण-हत्या मानेवृत्ति मापनी के सम्बन्ध में यह प्राक् कल्पना किया गया था कि अन्तर्मुखी महिलाओं में कन्या भ्रूण-हत्या के प्रति बर्हिमुखी महिलाओं की अपेक्षा अधिक अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी। तीन सौ महिलाओं के प्रतिदर्श पर अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता प्रश्नावली का प्रयोग किया गया है। प्रतिदर्श के आधार पर प्रथम चतुर्थांश से ऊपर बहिर्मुखी तथा तृतीय चतुर्थांश से नीचे अन्तर्मुखी समूह बनाया गया। इन दोनों ही समूहों में सांख्यिकीय गणना के आधार पर प्रयोजणों की संख्या क्रमश: अन्तर्मुखी 72 तथा बहिर्मुखी 68 निर्धारित हुई। इस मापनी के आधार पर निम्नतम प्राप्तांक शून्य तथा अधिकतम प्राप्तांक चौबीस की संभावना है जिसमें वर्तमान प्रदर्शिका निम्नतम प्राप्तांक तीन तथा उच्चत्तम प्राप्तांक बीस प्राप्त हुआ है। इस प्रतिदर्श की प्रथम चतुर्थांश 7.74 तथा तृतीय चतुर्थांश 11.85 पाया गया है। इन दोनों ही समूहों बहिर्मुखी अर्न्तमुखी के कन्या भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के वितरण के मध्यमान, प्रामाणिक विचलन एवं टी० अनुपात की तुलनात्मक व्याख्या सारिणी संख्या एक में वर्णित है।

अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता समूहों के भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांको का तुलनात्मक अध्ययन –

सारिणी संख्या :- 01

Lkeg	Lk[;k	e/;eku	lkk fo0	Ek/;eku dh =fV	e/;ekuksa dk vurj	e/;ekuksa dk vUrj dh i0 =fV	Vh0 vuqikr	lkFkdrk Lrj
vUrehZ[kh	68	196-96	22-20	2-20				
ofgehZ[kh	72	185-67	18-67	2-09	11-92	3-34	3-58	01

उपर्युक्त सारिणी में दोनों ही समूहों के भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति के सांख्यिकीय प्राप्तांकों के तुलनात्मक व्याख्या से स्पष्ट होता है कि अन्तर्मुखी समूह का कन्या भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 196.96 तथा बहिर्मुखी समूह के कन्या भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 185.15 प्राप्त हुआ है। दोनों ही समूहों का टी० अनुपात .58 जो 138 डी० एफ० के लिए 01 स्तर पर सत्यापित हो रहा है। अत: यह निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि ऊपर वर्णित प्राक् कल्पना सत्यापित हो रहा है। प्रतिदर्श के अन्तर्मुखी-बर्हिमुखी प्राप्तांक तीन सौ तथा भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के बीच प्रोडक्ट मोमेन्ट सह सम्बन्ध विधि के द्वारा देखा गया। इस जाँच के आधार पर दानों ही चरों के बीच 46 सह सम्बन्ध गुणांक पाया गया है जो 298 डी० एफ० के लिए 01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। यह सह-सम्बन्ध गुणांक दोनों ही चरों के बीच धनात्मक घनिष्ठ सम्बन्ध को दर्शाता है।

निष्कर्ष – व्यक्तित्व के अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता चर के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्षो के आधार पर प्राक्कल्पना से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुआ है।

(क) अर्न्तमुखी महिलाओं में वर्हिमुखी महिलाओं की अपेक्षा कन्या भ्रूण–हत्या मनोवष्टति के प्रति अधिाक अनुकूलता पायी जाती है।

(ख) अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता तथा भ्रूण–हत्या मनोवृत्ति के बीच अत्यन्त एवं सार्थक सह–सम्बन्ध पाया गया है।

(ग) व्यक्तित्व के अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता चर का जनसंख्या में सामान्य वितरण प्रमाणित होता है।

(घ) अन्तर्मुखता–बहिर्मुखता चर एवं भ्रूण–हत्या से सम्बन्धित प्राक्कल्पना सत–प्रतिशत अनुकूल दिशा में प्रमाणित हो रही है।

Reference

(1) Eysenck H (1959): The Manual of the maudsley personalityinrentory london, university of London Press.

(2) Garrette H.E. (1955): Satisfaction in Psychology and Education (FaurtherEdition) long man, green and co. New York.

(3) Thakur L.& Sinha
Abla Rani (2007): Attitude towards Foeticide scale, J.B.S.D. college Bakuchi & Vaishali Mahila college Hajipur, B.R.A.B.U. Muzaffarpur, 2007.

(4) Giniraj R (2004): Changing attitnde to Female infanticide in salem, Journal souial welfare, vol. 50, No. 11

(5) Desai.N.(1988): Born to dlie, The Indian Post 7th October 1988 Bombay.

(6) Karbe Dr. D.D.(1963): The Universities and public in india Minerva vol. No. 3.

(7) Majumdar and Madan(1962): An introdnction do souial anthrokrology P. 76.

(8) Pakrasi K.B (1970): Female infanticide in india, editions Indian Calcutta.

(9) Rai U. (1992): Female infanticide rampart in salem india express July 1992.

प्राचीन भारतीय आहार, पोषण का आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता

नीलम कुमारी

शोधार्थी, गृह-विज्ञान विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

मानव जीवन में भोजन का स्थान सर्वोपरि रहा है। जिस प्रकार यंत्रों को क्रियाशील बनाये रखने के लिए ईंधन की आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार शरीर को सुचारू रूप से कार्य करने के लिए आहार एवं पोषण की आवश्यकता होती है। क्योंकि मानव शरीर एक यंत्र के समान है, जिसके विभिन्न अंग यांत्रिक कल-पुर्जो के समान सदैव क्रियाशील रहते हैं। एक विदेशी विद्वान् टर्नर साहब ने 'हैण्ड बुक ऑफ डाइट थैरेपी' नामक अपनी पुस्तक में पोषण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा भी है कि "पोषण इन प्रक्रियाओं का संयोजन है, जिनके द्वारा जीवित प्राणी अपनी क्रियाशीलता को बनाये रखने के लिए तथा अपने अंगों की वृद्धि एवम् उनके पुनर्निर्माण हेतु आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करता है व उनका उपभोग करता है।" इस प्रकार हमारे शरीर को आहार एवं पोषण से ऊर्जा की प्राप्ति होती है।

भारत में प्रारंभिक सभ्यता के युग से अब तक आहार शास्त्र का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। हमारे प्राचीन ग्रंथों जैसे -वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं आयुर्वेद शास्त्र में भी आहार एवं पोषण का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रायः सभी धर्मों के ग्रंथों में आहार के महत्त्व को दर्शाया गया है।

वेदों में आहार को 'पिता' कहा गया है, क्योंकि यह पिता के समान पोषण, संरक्षण तथा स्नेह प्रदान करने वाला होता है। हमारे पूर्वजों की अवधारणा थी कि पारलौकिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए तथा लौकिक दायित्वों के निर्वहण के लिए स्वस्थ शरीर एवं सुन्दर विचार की नितान्त आवश्यकता है। जीवन के प्रति इसी दृष्टिकोण के कारण वे शुद्ध, सात्विक तथा पौष्टिक आहार के पक्षधर थे, क्योंकि स्वस्थ शरीर ही धर्म, नीति एवं कर्त्तव्य पालन से व्यक्ति श्रमादि में सक्षम हो सकता है।

प्राचीन काल में आहार व्यक्ति के प्रकृति एवं कार्यों के अनुरूप होते थे। ऋषि-मुनि जो तपस्या करते थे, मन-कर्म एवं वचन की सात्विकता को बनाये रखने के लिए तथा आत्मा की पवित्रता के लिए सात्विक भोजन करते थे, जो अन्न, फल, शाक-सब्जी, कंद, मूल, दूध, घी, मट्ठा, मधु तथा ईख रस पर आधारित था जो सुपाच्य होता था तथा पोषक तत्त्व ये युक्त होता था।

भगवद्गीता में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने आहार को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है-

(1) सात्विक आहार- यह आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करने वाला अर्थात् सरल, सादा एवं सुपाच्य आहार है।

(2) राजसी आहार- यह भौतिक सुख देने वाला अर्थात् पौष्टिक एवं गरिष्ट आहार है एवं

(3) तामसी आहार- यह निम्न गुणों को उत्पन्न करने वाला (मिर्च, मसाले एवं तेल युक्त चटपटा आहार) है।

'चरक' तथा 'सुश्रुत' जैसे पौराणिक आर्युवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया था कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य आहार पर ही निर्भर होता है। उत्तम स्वस्थ्य जीवन के चारों पहलुओं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने के लिए स्वस्थ्य शरीर आवश्यक है।

वैदिक काल से ही कार्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ ग्रहण किये जाते रहे हैं। समाज में प्राय: तीन प्रकार के कार्य करने वाले लोग निवास करते थे - शारीरिक श्रम करने वाले श्रमिक वर्ग, सामान्य श्रम करने वाले गृहस्थ वर्ग तथा बुद्धिजीवी वर्ग। छात्रों को राजसी तथा तामसी भोजन से परहेज रखकर शक्ति तथा समय को विद्याध्ययन में लगाने का परामर्श दिया जाता था। छात्रों को भिक्षाटन से उपलब्ध आहार उन्हें नम्रता की शिक्षा देता था। प्राचीन ग्रंथों में छात्रों के लिए भोजन की मात्रा निर्धारित नहीं की गई है। कौटिल्य ने स्त्रियों तथा नौकरों के लिए भी आहार की मात्रा सुनिश्चित की थी, जैसे -स्त्रियों को पुरुषों के भोजन का 3/4 भाग रखना चाहिए। प्राचीन काल में नौकरों को अन्य लोगों की अपेक्षा कम खाने की सलाह दी जाती थी।

संस्कृत साहित्य के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत का समय उन्नति और विकास का था। गुप्त काल तक आते-आते यह विकास मात्र अपनी पूर्णता के शीर्ष बिन्दु को स्पर्श कर गई थी। अनाजों की कई जातियाँ उपजाई जाने लगी थी। यद्यपि समाज के बहुत से लोग शाकाहारी हो गये थे परन्तु मांस व्यजंन भी विविध विधियों द्वारा बनाया जाता था।

हमारा आहार, पोषण मानवीयता के गुणों से ओत-प्रोत रहा है। देश, काल और क्षेत्र के अनुसार भले ही कुछ पारंपरिकता हमारे ऊपर हावी रहे हों, किन्तु हम किसी न किसी रूप में प्रगतिशीलता की ओर बढ़ते रहे हैं। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि मानवीय गुणों के विकास में भोज्य पदार्थ, आहार एवं पोषक तत्त्वों का ज्ञान हमें प्रारंभ से ही रहा है। इसके साधन स्रोत जहाँ प्राचीन साहित्य हैं वहीं परंपरा एवं किंवदंतियों में आज भी देखने को मिलते हैं। विदेशियों ने भी यहाँ के आहार, पोषक तत्त्वों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पाश्चात्य लोगों के लेख का सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि "प्राचीन भारतीय लोग विशेषकर बिहार के प्राचीन निवासी चिकित्सीय ज्ञान से परिपूर्ण थे और संतुलित आहार लेते थे जो औषधि सदृश्य काम करता था। प्राकृतिक दृष्टिकोण से क्षेत्रीय भिन्नताएँ थी, किन्तु उन सामग्रियों के आहार एवं पोषण में प्रचुरता होती थी जो सरल एवं सुलभ रूप से क्षेत्र में उपलब्ध हों। न जाने क्यों ऐसा लगता है कि भारत के प्राचीन कालीन आहार एवं पोषक तत्त्व आज भी प्रासंगिक हैं और उनकी निरंतरता दिखती है।

हाल ही में भारत में जो आहार सर्वेक्षण किए गए हैं, उनसे पता चलता है कि अधिकांश लोगों के भोजन का संगठन निम्न स्तर का है और वे कुपोषित हैं। उनके आहार में अनाज की मात्रा बहुत अधिक रहती है तथा दाल, तरकारियाँ, दूध, दही, फल आदि की मात्रा बहुत कम रहती है। उनके आगे पोषक तत्त्वों पर सोचना उतना जरूरी नहीं है, वनस्पति की पेट भर लेना। उनके आहार में मंहगे,

पौष्टिक भोज्य पदार्थ, मांस, मछली, अंडा नहीं के बराबर रहते हैं। ऐसी जनाबादी में कुपोषण का विकराल प्रभाव, बच्चों तथा गर्भवती और धात्री अवस्था की महिलाओं पर औरों की अपेक्षा और अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। शिशुओं और छोटे बच्चों में प्रोटीन-कैलोरी कुपोषण, विटामिनों, रिबोफ्लोबिन, आयरन आदि की कमी से होने वाले रोगों के केस बहुत सर्वेक्षणों में अधिक देखने को मिले। गर्भवती स्त्रियों में और धनी महिलाओं में, आयरन और फोलिक एसिड की कमी से एनीमिया रोग के केस अधिक संख्या में पाए गए। हमारे देश का आहार उत्पादन उतना नहीं है, जितनी की संख्या बढ़ गई है। पशुजन्य प्रोटीन बहुल भोज्य पदार्थ बहुत कम हैं और अत्यधिक मंहगे भी हैं। निम्न आर्थिक वर्ग की जनता इन्हें खरीदने और उपभोग करने में असमर्थ है। वर्त्तमान जन-आबादी को पोषण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में, उच्च पोषण स्तर का आहार उपलब्ध नहीं है।

हम सभी जानते हैं और स्वीकार भी करते हैं, साथ ही यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जनसमुदाय के पोषण स्तर में सुधार लाने के लिए, धन की जरूरत है। जब तक कि लोगों का आर्थिक और सामाजिक स्तर ऊँचा नहीं किया जा सकेगा, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि लोग पौष्टिक भोजन के प्रति जागरूक रहें और पौष्टिक और संतुलित भोजन हीं ग्रहण करें। प्रायः देखा जाता है कि गरीब जनता को जो कुछ भोजन स्थानीय रूप से पैदावार में मिलता है, उसी से पेट भरती है। जो कुछ पास में, सस्ता और सहज ढंग से मिलता है, उसी से पूरे परिवार का पेट भरा जाता है। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण, वे कुछ अधिक मूल्य लगाकर या कुछ दूरी से लाकर अपने परिवार को पौष्टिक आहार नहीं दे पाते हैं। शिक्षा की कमी भी इसका एक कारण है और वे जानते भी नहीं हैं कि पौष्टिक भोजन का क्या महत्व है। अज्ञानता सामान्य जनता का पोषक स्तर ऊँचा उठाने में आड़े आती है, क्योंकि यह भी संभव है कि स्थानीय रूप से उपलब्ध सस्ते खाद्य पदार्थों में भी, पौष्टिक व्यजंन बनाये जा सकने के बारे में वे जानते हीं नहीं हैं। उदाहरण के लिए यदि पोषण सम्बन्धी जानकारी होती हो, तो आर्थिक रूप से कमजोर महिलाएं, यह बहाना कभी नहीं बना सकती हैं कि उनके पास पैसे हीं नहीं हैं कि वे अपने बच्चों को ताकत की चीजें खिला सकें। जबकि वे मामूली सी हरी पत्ती वाली तरकारियों के द्वारा पालक के थोड़े से रस से, सस्ते फलों से हीं बच्चों की पोषण सम्बन्धी जरूरतों को पूरा कर सकती हैं। उनहें रोगों से बचा सकती हैं और ताकतवर बना सकती हैं। इसी बात से यह स्पष्ट है कि पोषण सम्बन्धी शिक्षा का प्रयास किया जाये, जिससे जन सामान्य उसके महत्त्व को समझे और फिर उसके नियमों को अपनी जीवन शैली में अपनाए।

संदर्भ-सूचीः

1. पोषण एवं आहार विज्ञान - डॉ. जी. पी. शैरी
2. आहार विज्ञान - प्रो. (श्रीमती) सुधा नारायणम्
3. बाल विकास परियोजना पदाधिकारी- बिहार लोक सेवा आयोग, पटना।
4. आहार एवं पोषण विज्ञान - डॉ. प्रमिला वर्मा एवं डॉ. कांति पांडेय
5. आहार एवं पोषण विज्ञान - उषा टण्डन

छापा चित्रकला (ग्राफिक्स) में निहित हैं असीम सम्भावनाएं

संजीव किशोर गौतम

असि. प्राफेसर, छापा कला विशेषज्ञ, चित्र कला विभाग,
दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आज जब हम भारतीय कला की बात करते है तो हमें ज्ञात होता है कि हमारी भारतीय कला में अनेको विभिन्नतायें निहित हैं। अनेकानेक शैलियों में काम हुआ है। भारतीय कला का इतिहास प्रचलित परम्परागत कला शैलियों के साथ जुड़ा हुआ है और मानव के साथ-साथ भी इसका ही विकास हुआ है। गुफाओं और कन्दराओं में आदि मानव के पंजे का छापा दुनिया का प्रथम रिलिफ प्रिन्ट माना जा सकता है। भारत में मैकेनिकल प्रिन्ट का प्रारम्भ सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। घटका पुर (मुम्बई) में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा रवि वर्मा ने लिथों छापा का प्रेस लगवाया था, ताकि अपने चित्रों की अनेक प्रतिलिपियाँ बनवा कर घर-घर तक पहुँचाया जा सके। ग्राफिक्स में नये प्रयोग का दौर 1960 के बाद प्रारम्भ हुआ। नई-नई दिशाएं तलाशी जाने लगी, जिसमें आत्माभिव्यक्ति पर जोर दिया गया। छापा कला के प्रमुख पारम्परिक तकनिक निम्न प्रकार है-

1. रिलिफ पद्धति- लिनोकट, उडकट, उड इन्ग्रेविंग।
2. इन्टोग्लियों पद्धति- ड्राई प्वाइंट, एचिंग एण्ड एक्टवाटीन्ट , विस्को सीटी, कोलोग्राफ इत्यादि।
3. प्लेनोग्राफी पद्धति- स्टोन लिथोग्राफी, आफॅसेट प्लेट लिथोग्राफी
4. स्टेन्सील पद्धति- सिल्क स्क्रीन प्रिन्ट स्टेन्सील प्रिन्ट एवं आधुनिक तकनीक के रूप में
5. डिजिटल प्रिन्ट पद्धति- कम्प्यूटर ग्राफिक्स

आज आधुनिक भारतीय छापा कला को देखते हैं तो पाते हैं कि इसका कितना विकास हो चुका है। आधुनिक युग में अनेक कला संस्थान खुल चुके हैं जिससे कि दिन-प्रतिदिन छापा कला के क्षेत्र में विकास होता जा रहा है। भारत के सभी प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में छापा कला विभाग के रूप में एवं कहीं-कहीं प्रमुख विषय के रूप में अनुभवी एवं विख्यात छापा कलाकारों द्वारा शिक्षा प्रदान किया जा रहा है जिसमें प्रमुख रूप से- एम० एस० यूनिवर्सिटी वरौदा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के दृश्य कला संकाय, विश्व भारती शान्ति निकेतन (पश्चिमी बंगाल), इन्दिरा कला एवं संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़), सर जे०जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स (मुम्बई), जयपुर आर्ट्स कॉलेज (राजस्थान), चेन्नई आर्ट्स कॉलेज, बंगलोर, आर्ट्स कॉलेज, केरला आर्ट्स कॉलेज (साउथ इण्डिया), आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट कॉलेज पटना, आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट कॉलेज लखनऊ, वनस्थली विद्यापीठ वनस्थली, ललित कला संस्थान आगरा इत्यादि के अलावा भारत के करीब-करीब सभी

प्रमुख शहरों में डिग्री कॉलेजों में या प्राइवेट स्टूडियों में छापा कला के प्रयोगों से युक्त कलाकृतियों का निर्माण हो रहा है जिन्हें भारत के साथ-साथ विदेशों के सभी प्रतिष्ठित कला दीर्घा में अच्छी कीमतों पर खरीदी जाती है।

आधुनिक युग भौतिकवाद का युग है। यहाँ समस्त कलायें आवश्यकता पूर्ति के लिए ही काम करती है। संस्कारों व लोक-कलाओं की प्रति खरीदने और बेचने का फैशन समाज में विकसित हो गया है। आज युवा पीढ़ी आधुनिकता की ओर बढ़ रही है। उसकी सोच और समाज के परिवेश को देखते हुए हमें ऐसा करना होगा जिसमें शिक्षा और समाज को अलग-अलग न देखकर एक संयुक्त विचार के संदर्भ में चित्रण करना आवश्यक हो गया है। उन माध्यमों को भी अपनायें जिसकी समाज को अत्यधिक आवश्यकता है। छापा चित्रकला (ग्राफिक्स प्रिन्ट मेंकिग) भी एक ऐसा माध्यम है जो समाज को पुरातन काल से ही सशक्त मार्गदर्शन का कार्य कर रहा है। छपाई माध्यम के विकास के साथ ही दुनिया में विचारों का एक जगह से दूसरी जगह (किताबों इत्यादि के माध्यम से) तक विस्तार हुआ। भारत में इस कला का आरम्भ सही मायने मे 19वीं शताब्दी के मध्य में कला विद्यालयों को खोले जाने से होता है, जहाँ छापा कला की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। हालांकि इस शिक्षा का ध्येय अंग्रेजों के प्रचार माध्यम के लिए विद्यार्थी तैयार करना था, परन्तु आज पूरी दुनिया के साथ-साथ आधुनिक भारत में इस कला को एक महत्वपूर्ण ऊँचाई प्राप्त है, जिसकी शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी अत्यन्त ही प्रयोगशील कलाकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहें है तो वहीं इस कला के माध्यम से अनेक व्यावहारिक पक्ष व्यापार हेतु रास्ते भी खुले पाते हैं। शिक्षा क्षेत्र के अलावा अनेक सरकारी व गैर सरकारी नौकरियों में छापा चित्रकारी को वरीयता दी जाती हैं। भारतीय रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया जैसी संस्था में नोट मुद्रण हेतु हो या सभी प्रिन्ट मीडिया से सम्बन्धित क्षेत्र हों, नौकरी हेतु छापा चित्रकारों को विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता हैं। इसके अलावा पूरे देश में भी प्रिन्ट मीडिया में छापा चित्रकारों के तकनीकी कुशलता हेतु सम्मानित स्थान एवं अच्छी नौकरियाँ सहज उपलब्ध होती हैं। आज डिजिटल युग में छापा कला से शिक्षित विद्यार्थियों के लिए स्वर्णिम अवसर भरे-पड़े हैं। सरकारी एवं गैर सरकारी सभी कला संस्थानों में प्रोफेसर से लेकर केन्द्रीय विद्यालय एवं नवोदय विद्यालयों में भी छापा कला से शिक्षित विद्यार्थियों को वरीयता दी जाती है। देश एवं विदेश में सभी छापा कला स्टूडियों में तकनीकि विशेषज्ञ के रूप में नौकरी प्राप्त कर छापा चित्र कलाकार अपनी जीविका के साथ-साथ अपनी कलाधर्मिता का भी निर्वहन सहज ही कर लेते है।

भारत में आजादी के बाद भारत सरकार द्वारा इस कला के विस्तार हेतु अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये गये, जिसमें भारत में अनेक स्थानों पर क्षेत्रीय कला सेन्टर की स्थापना की गयी, जहाँ छापा चित्रकार रहकर कार्य कर सके। जैसे- गढ़ी स्टूडियो दिल्ली, राष्ट्रीय ललित कला अकादमी, क्षेत्रीय केन्द्र लखनऊ, भुनेश्वर, चेन्नई इत्यादि। बाद में जे० स्वामीनाथन द्वारा भारत भवन भोपाल में भी ग्राफिक्स स्टूडियो की स्थापना ने देश के कलाकारों को छापा कला में अनेकानेक प्रयोगी सृजन कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। समय-समय पर अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय छापा कला शिविरों का आयोजन होने लगा तथा भारत एवं अन्य देशों में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मुख्य रूप से छापा कला हेतु कला प्रदर्शनियों का आयोजन होता रहता है, जिसमें कुछ विशिष्ट छापा कृतियों को पुरस्कृत भी किया जाता है। इसी प्रकार अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी राज्यस्तरीय अखिल भारतीय एवं राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियों में छापा चित्रकला को चयनित एवं पुरस्कृत किया जाता है। इस क्षेत्र में कुशल कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिए सरकार द्वारा अनेक छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की जाती हैं, जिसमें राष्ट्रीय छात्रवृत्ति मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली, ललितकला अकादमी

छात्रवृत्ति, नई दिल्ली, इन्लैक्स फाउण्डेशन छात्रवृत्ति प्रमुख हैं। भारतीय छापा कला आज एक परिपक्व विधा के रूप में हमारे समक्ष है। वैश्वीकरण के होते कम्प्यूटर द्वारा ताजा जानकारी अब मिनटों का खेल है। छापा कला के सभी पहलुओं एवं सभी शाखाओं पर भारतीय कलाकारों का अच्छी पकड़ है। इसका प्रमाण नीदरलैण्ड, जापान, कोरिया, जर्मनी, मिश्र, स्पेन, इटली, अमेरिका, नार्वे, चाइना इत्यादि देशों में आयोजित प्रिन्ट इण्टरनेशनल प्रदर्शनियों में भारतीय छापा कलाकारो का प्रतिनिधित्व एवं पुरस्कृत होता है। 2002 में मुझे भी ललित कला अकादमी राष्ट्रीय पुरस्कार एंव नोकिया में नेशनल अवार्ड के साथ-साथ थाईलैण्ड (बैंकाक) में आयोजित नोकिया अन्तर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी में मेरे छापा चित्र शीर्षक एक्सीडेन्ट एचिंग माध्यम के लिए पुरस्कृत किया जा चुका है। तब मैं शायद भारत का पहला व्यक्ति था जो महज 25 वर्ष की उम्र में इस सम्मान को प्राप्त किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार स्वरूप रूपये 5 लाख नगद के साथ-साथ कोरिया द्वारा बनाये गये क्रिश्टल ग्लास ट्राफी के अलावा अनेक सुन्दर उपहार प्राप्त हुए तथा अन्तर्राष्ट्रीय कलाकारों के साथ कला शिविर में कार्य करने का अवसर भी प्राप्त हुआ। बाद में सिंगापुर में मेरे पुरस्कृत छापा चित्र को 1 लाख रूपये में खरीदा गया। छापा चित्रकला में तकनीकी प्रवीणता एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। एक कुशल छापा चित्रकार माध्यम के कुशल प्रयोग द्वारा विस्मयकारी परिणाम अपने चित्रों में ला सकता है। इस कारण छापा कला की आरम्भिक आवश्यकता तकनीकी कुशलता प्राप्त करना होता है। स्वतंत्रता के उपरान्त विदेशों में जाकर तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के अनेक द्वारा खुल चुके हैं। देश सांस्कृतिक आदान-प्रदान योजना के अन्तर्गत छात्रवृत्ति एवं शोधवृत्ति उपलब्ध होने से भारतीय छापा चित्रकारों के लिए विदेश में शिक्षा प्राप्त करना सम्भव हो गया है। तकनीकि कुशलता के लिए भी यह आवश्यक पहलू है। प्रत्येक वर्ष भारत के अनेक छापा चित्रकारों की बड़ी संख्या विदेश के कई देशों में छापा कला के नवीनतम छात्रवृत्ति एवं शोध वृत्ति प्राप्त कर कार्य करते है।

वैसे तो भारतीय कला परिदृश्य में अनेकों छापा चित्रकार विख्यात हैं जिन्होंने अपने मूल सृजन कार्य एवं प्रयोगात्मक क्षमता के लिए देश-विदेश में जाने जाते हैं। यहाँ मैं कुछ ही प्रमुख भारतीय छापा चित्रकारों के नाम अंकित कर रहा हूँ जिन्होंने भारतीय छापाकला को एक अविस्मरणीय उँचाई प्रदान किया है- सोमनाथ होर, हरेनदास (बंगाल), जगमोहन चोपड़ा, शान्ति दवे, अनुपम सुद, कविता नायर (नई दिल्ली), लक्ष्मा गौड़, राम पल्ल्नी अप्पन, अजीत दूबे (साउथ इण्डिया), पी.डी. घुमाल, रिनी धुमाल, विजय वागोड़ी, जयराम पटेल (बरौदा), हनुमान प्रसाद (गोवा), वी, नागदास (खैरागढ़) ब्रम्हप्रकाश (चण्डीगढ़), एल.एम. सेन, जयकृष्ण अग्रवाल, सावित्रीपाल, संदीप भाटिया, सरोज सिंह (लखनऊ), सुखविन्द्र सिंह, (गाजियाबाद), पूर्व बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रो० दीपक बनर्जी, प्रो० अंजन चक्रवर्ती, डॉ० डी०पी० मोहन्ती तथा वर्तमान में संजीव किशोर गौतम एवं वेद प्रकाश मिश्रा तथा वनिता पालिटेक्निक की प्राचार्या शशिकला सिंह (वाराणसी), एवं पटना के श्याम शर्मा जैसे अनेक कलाकारों ने निरन्तर छापा कला में अपनी कला धर्मिता का बखूबी निर्वहन किया है। इन सभी कलाकारों की कार्यशैली भिन्न-भिन्न होते हुए भी उद्देश्य एक-सा प्रतीत होता है कि छापा कला का उत्थान एवं कला शिक्षा द्वारा छापा कला को समाज को उस वर्ग तक पहुँचाना, जो हमेशा से ही कला संस्कृति के इस विधा की सुंगन्धित खुशबू से अछूते रहे हैं।

संगीत

लोक–साहित्य एवं लोकगीतों की परम्परा

डॉ० किरण कुमारी

संगीत विभाग, लोक महाविद्यालय, हाफिजपुर

साहित्यांगों में कविता की विशिष्ट महत्ता है। शुरू से ही कविता अपनी रागात्मक एवं भावानात्मक शक्ति की प्रबलता के कारण अन्य साहित्यक विधाओं की तुलना में अधिक लोकप्रिय रही है। किसी भी देश के काव्य–साहित्य का मूल स्रोत उस देश के लोक–जीवन की शीतल गंगा धारा में खोजा जा सकता है। बने संवरे और काटे–तरासे कला गीत तो बहुत बाद में रचे गए हैं। लोकगीत हृदय की अनुभूतियों के शब्द–चित्र हैं जो सीधे हृदय से निकले हैं। इनकी रचना में मस्तिष्क का योगदान बहुत कम है या उतना ही है जितना कमरे को सजाने में किसी कोमल मति बालक का हो सकता है।

हृदय से जो भाव सरल रूप से उत्पन्न हुए वे अपने–आप शब्द बनकर उतर गए और तब हमें मिला लोक साहित्य। लोक साहित्य का कमल अनादिकाल से लोकमन के पोखर में खिलता रहा है जिसमें अनगिनत परम्पराओं की सुरभि स्वत: आ–आ कर मिलती रही है। इसी सुरभि का नाम लोकगीत के कमल पर कभी उदासी छा गई है, कभी थकावट की पर्त जम गई, कभी आशा उल्लास ने उसे भोर की अंगरा दी है। कभी वियोगिनी की पीड़ा ने उसे बादलों जैसा गीला कर दिया है। कभी मिलन के त्यौहार ने उसका शृंगार कर डाला है, कभी गंभीर प्रेम ने उसे सागर की गंभीरता प्रदान कर दी है तो कभी वह विद्रोह की चिंगारी बन गया है। आम आदमी ने, लोक–मन ने, समय के दबाव को जिस रूप में महसूस किया है, उसी का नाम है लोक साहित्य। इस साहित्य का विस्तार क्रमश: लोकगीत, लोक–संस्कृति, लोकभाषा, लोक–नाटक, लोक कला तथा लोक वार्ता आदि के रूप में होता गया है। आधुनिक विद्वानों ने इसके महत्व को समझा है और माना है कि ''जब–जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब–तब उसे सजीव चेतना–प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन–तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।''[1]

इस प्रकार सभ्य समाज के जटिल जीवन–विधान की रक्षा करने में एवं उसके मूलरूप के अभिरक्षण में तथा उसके पोषण में लोकगीतों ने अपने को सदियों से नियोजित कर रखा है। लोक साहित्य की समस्त विधाएँ लोक–संस्कृति के अंतर्गत गिनी जाती हैं। लोकगीत, अलोकनाटक, लोक कथा, सुभाषित, कहावत, मुहावरे, पहेलियाँ– सब मिलकर लोक संस्कृति का पूर्ण अध्ययन करती है। यही नहीं, बच्चों की लोरी, खेले के गीत, ऋतु संबंधी उक्तियाँ– सब लोक संस्कृति के अंग हैं। यदि लोक संस्कृति एक विशाल वट–वृक्ष है तो लोक साहित्य उसकी एक शाखा मात्र है।

भारतवर्ष में लोक–साहित्य मूलत: गाँवों से जुड़ा रहा है, कृषक–संस्कृति से जुड़ा रहा है। निरक्षर किसान–समाज से प्राय: हर आदमी गाता है और कभी–कभी तो काफी अच्छा गाता है। औद्योगिक–ताकतों

के चतुर्दिक प्रहारों के बावजूद लोक-संस्कृति का यह गीत-तत्व आज भी संदेह उपस्थित है। पुरुषों के गीत, स्त्रियों के गीत, बालकों के गीत सब अलग-अलग हैं। तथापि उनमें कुछ अंश उच्च साहित्यिक गुणों से लबालब हैं। गाँव के हर आदमी के पास कहानी है, पहेलियाँ हैं, गीत हैं, सटीक कहावत हैं और कुछ नहीं तो रामायण-गीता-महाभारत की मार्मिक घटनाओं ने ही रसिक कथा-काव्य का रूप ले लिया है। गाँव के निरक्षर आदमी को मालूम होता है कि कौन गीत गाने से कौन देवता-पितर प्रसन्न होते हैं और कौन सा गीत किस मौसम में गाया जाता है। सावन में चैता सुनने के लिये निवेदन करने पर भी एक लोकनायक चैता नहीं गाएगा। उधर होली के एक माह पहले वसंत पंचमी से ही होली और ढ़ोलक की थाप सुनाई पड़ने लगती है। कार्तिक शुरू होते ही छठी मईया का गीत महिलाएँ गुनगुनाने लगती हैं और विवाह तय होते ही तिलक और कन्या की विदाई के गीत घर में गूँजने लगते हैं और घर की स्त्रियाँ कई महीना पहले ही कन्या की विदाई की कल्पना करते हुए गीत गाते रोने-सुबकने लगती हैं। वास्तव में हमेशा से जन जीवन में लोकगीतों का प्रचार रहा है। ये गीत भावुक और संवेदनशील जनता के हृदय के स्वाभाविक उद्‌गार होते हैं। इसलिए विभिन्न भाषाओं के लोकगीतों में भावों की समानता पाई जाती है।

इन लोकगीतों में छंद का नहीं, वरन् लय का माधुर्य होता है। जो आनंद इन गीतों को सुनने में आता हैं वह उनको पढ़ने में नहीं आता। इनमें बात कहने की, समझने और समझाने की अपनी खास भंगिमा होती है और विचारों में भी विलक्षणता होती है। अपने क्षेत्र की संपूर्ण सभ्यता, संस्कृति ओर परम्परा लोकगीतों में व्यक्त होती है। ये गीत जिन परिस्थितियों में गाए जाते हैं, उनके साथ मिल जाने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इतने मधुर एवं प्रतिभाशाली गीत अन्यत्र नहीं मिल सकते। कलात्मक गीतों में तो कदापि नहीं। इनमें भारतीय लोक का हृदय स्पंदित होता है और लोक मन को ये पता नहीं कब से रस-सिक्त करते रहे हैं।

जैसे सामाधिस्थ चित्त पंचतत्वों और पच्चीस प्रकृतियों से ऊपर उठ जाता है, भव सागर के मोह माया, सुख-दु:ख तथा विभिन्न तनावों-चिन्ताओं से सहज मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार लोकगीतों के प्रभाव से भी, अस्थायी रूप से ही सही, चित्त समाधिा की स्थिति में पहुँच जाता है। ये गीत पवित्र भाव-भूमि एवं वातावरण का निर्माण करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म के भजन, विनय, कीर्तन, स्रोत एवं पराती आदि को प्रमुख स्थान मिलता रहा है।

लोकगीत लोक को समेकिन-सामूहिक रूप से ग्रहण करते हैं तथा जीवन की विविध सरणियों एवं भाव दशाओं को मूर्त करते हैं। लोक जीवन में छठी मइया की बहंगी लेकर शिवजी घाट पर जाते हैं और दुर्गा जी प्यासी होकर गाँव की गरीब मालिन से पानी मांगती हैं। कहीं उर्मिला चक्की चलाती है तो कहीं बांझ स्त्री की व्यथा-कथा पूछने गंगाजी सदेह उपस्थित हो जाती हैं। कहीं जंगल में राम-लक्ष्मण किसी पेड़ के नीचे वर्षा में भींगते हैं तो कहीं निर्वासित सीता अपनी वेदना वनस्पितियों को सुनाती है, मगर अवध नरेश राम के पास स्वाभिमानपूर्वक नहीं जाती। लोक गीतों में नदी गाती है, पेड़ बोलते हैं, हवा सवाक् हो उठती है, पहाड़ों के कंठ फूट पड़ते हैं, वन देवियाँ दु:ख-सुख पूछने आ जाती हैं, पशु-पक्षी मानव की पीड़ा के सहभोगी हो जाते हैं और जीवन के उच्च मूल्यों का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। ऐसा देखा जाता है कि लोक-गीतों के गायक या प्रेमी-श्रोता व्यक्तिगत जीवन में क्रूरकर्मा एवं व्यवहार में कठोर नहीं होते। वे मानवता के आग्रही और सदय होते

हैं। इस प्रकार अनादिकाल से लोकगीतों ने व्यक्ति-मन को समाज-मन से जोड़ने का काम किया है। इनमें गतिशील एवं जीवंत प्रकृति उपस्थित हैं, ऐतिहासिक परम्पराएँ उपस्थित हैं और सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के विविध धरातल उपस्थित हैं। एक कदम आगे बढकर कह सकते हैं कि लोकगीत ग्राम्य-जीवन का सामाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

भारतवासियों का जीवन सदा से संगीतमय रहा है। शायद ही विश्व में कोई दूसरी जाति होगी जिसके जीवन पर संगीत का इतना प्रचुर प्रभाव रहा हो। हमारे देश में ''वैदिक काल से ही सात स्वरों का विभाजन किया गया था यद्यपि उनके नाम ठीक वही नहीं थे जो परवर्ती काल में प्रचलित हो गए।''[2]

वैदिक युग में पर्वों एवं उत्सवों के अवसर पर गाथाओं के गाने का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि रामायण में राम-जन्म के अवसर पर गीत-गाने का उल्लेख मिलता है। श्री मद्भागवत (दशम स्कंध) में भी कृष्ण जन्म के अवसर पर स्त्रियों के एकत्र गाने का उल्लेख है।'' रघुवंशम्'' में रघु के जन्म के अवसर पर वेश्याओं द्वारा गीत गाने तथा मांगलिक वाद्य बजाने का उल्लेख हुआ है। (रघुवंशम् 3/16) मतंग नामक आचार्य का वृहद्देशी ग्रंथ प्रथम बार 'राग' का उल्लेख करता है। इस ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है कि मतंग के समक्ष देशी राग अनेक थे। उन्हौंने देशी संगीत की परिभाषा इस प्रकार की है– स्त्रियाँ, बालक, गोपाल और क्षितिपाल अपनी इच्छा से जिन गानों का गायन करते हैं अर्थात् किसी प्रकान की शास्त्रीय शिक्षा के बिना ही आनंदोल्लासपूर्वक गाते हैं, वे देशी कहलाते हैं।''[3] मतंग चौथी–पांचवीं सदी में हुए थे। वैदिक गाथाओं की परंपरा महाभारतकाल, बौद्ध-काल, राजा हाल या शालिवाहन कृत ''गाथा–सप्त'' से होती सम्पूर्ण अपभ्रंश काल तक चलती रही है और क्षेत्रीय भाषाओं के जन्म से आज तक बिना रुके चलती रही है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में लिखा है– ''लोकगीतों की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खंडिताएँ और धाराएँ निछावर की जा सकती है क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होने पर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नहीं है और अपने आप में परिपूर्ण हैं।''[4]

लोकगीतों की रचना कब हुई, कैसे हुई, किसने की, कहना कठिन है। विद्वानों का अनुमान है कि लोकगीतों की रचना स्त्रियों ने ही की होगी। यही बात स्वीकार करते हुए लोकगीतों के पुरोधा श्रीरामनरेश त्रिपाठी ने कहा है– ''लोकगीतों में हमें स्त्रियों के मस्तिष्क की महिमा देखन को मिलेगी, जिनको हमने मूर्ख समझा है उनके मुख से ऐसे-ऐसे कवित्वपूर्ण गीत निकले हैं कि उन पर हिन्दी के कितने ही कवियों की रचनाएँ न्यौछावर की जा सकती है।''[5]

लोकगीतों की लंबी परम्परा में चूंकि सब कुछ सामूहिक है, उसका कोई इतिहास न बना है, न बन सकता। जिस प्रकार ताजमहल का इतिहास शाहजहाँ के संरक्षण एवं शिल्प-प्रेम का इतिहास है, न कि किसी खास शिल्पी का। कहना कठिन है कि किस शिल्पी ने कौन-सा तोरणद्वार रचना, किस शिल्पी ने गुंबद रचा, किस शिल्पी ने अंगूठे गँवा कर पच्चीकारी-कलाकारी की, किस शिल्पी ने पत्थरों को ऊपर पहुँचाया– ये सब व्यक्तिहीन इतिहास है। यही बात लोकगीतों पर भी लागू होती है।

द्वितीय उत्थान का विषय प्रवर्तन करते समय आचार्य शुक्ल ने एक बहुत महत्वपूर्ण बात कही है– ''भारतीय हृदय का सामान्य रूप पहचानने के लिए पुराने परिचित ग्राम गीतों की ओर भी ध्यान देने

की आवश्यक्ता है, केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परम्परा का अनुशीलन ही अहम नहीं है। पंडितों की बँधी प्रणाली पर चलने वाली काव्यधारा के साथ-साथ सामान्य अनपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छन्द और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रही है, ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य धारा के साथ-साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रही है।''[6]

''लोकगीतों का जन्म नेरी गाथाओं के प्रभाव से, गाथा सप्तशती से, अमीर खुशरो के लोकगीतों से (सन् 1243) होते सम्पूर्ण मध्य युग में हुआ होगा, क्योंकि मध्य युग में ही स्त्रियों पर ज्यादा अत्याचार हुए और अधिकांश लोकगीतों में नारी की ही पीड़ा व्यक्त हुई है।'' लोकगीतों में वर्णित ये वे नारियाँ हैं जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों में पड़कर भी अपने 'सत' और 'पत' पर आँच नहीं आने दी।'' विभिन्न जातियों के गीतों (अहिरों के गीत, चमारों के गीत, कहारों के गीत, धोबियों के गीत, गरेड़ियों के गीत, तेली के गीत, कुरमी-कोईरी के गीत, डोम के गीत, नट-नटिन के गीत) सब का प्रारंभ इसी युग से अनुमानित होता है।

लोकगीतों की संपूर्ण परम्परा पर विचार करते हुए मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने इसे निम्न वर्गों में श्रेणीबद्ध किया है–

1. संस्कार संबंधी गीत
2. ऋतु संबंधी गीत
3. व्रत संबंधी गीत
4. जातियों के गीत
5. श्रम संबंधी गीत
6. विविध गीत

लोकगीतों के व्याकरण की खोज शास्त्रीय औजारों से नहीं की जा सकती। शास्त्रीयता का अर्थ है संस्कार और कौशल। इनके विपरित लोकगीतों के उन्मुक्त स्वरों में लोकचेतना अपने समूचे उल्लास एवं अवसाद के साथ उमड़ती है। वह किसी बनावट को स्वीकार नहीं करती। अत: लोकगीतों के शास्त्र की खोज कुछ दूसरे साधनों से करनी होगी और वे साधन स्वयं इन गीतों में उपस्थित हैं। लोकशिल्पकार जैसे पहले ताने-बाने को फैलाता है और फिर उनमें विविध पैटर्नों की बुनावट करता है, यही शिल्प लोक गीतों का भी है। लंबे कथा गीतों में भी एकाधिक मोटिफ भराव का काम करते हैं। स्वर के ताने-बाने पर गीत की कड़ियाँ जुड़ती चली जाती है। लय का सीधा संबंध स्वरों के आरोह-अवरोह से होता है। शब्दों की मात्रिक या वर्णिक गणना का कोई अर्थ नहीं होता।

सच तो यह है कि मात्रा और तर्क का गणित लोकगीतों में चलता नहीं। बस, कभी-कभी धुन बैठाने के लिए शब्दों को थोड़ा तराश दिया जाता है। यही कारण है कि लोकगीतों के रचयिताओं के नाम नहीं हैं, उनके क्रमिक विकास का कोई इतिहास नहीं है। वे तो बस किसी वन-प्रांत में अकस्मात् फूट पड़ने वाले निर्झर की तरह अनवरत झड़ते रहे हैं और लोकमन उनमें सदियों से भींगता और शीतलता महसूस करता रहा है।

सारांश

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य के सभी अंगों-उपांगों में भी कविता को अनादिकाल से अधिक महत्व दिया जाता रहा है। 'कविता' या 'काव्य' से विद्वानों द्वारा रचित कलागीतों का बोध होता है। जबकि 'लोकगीत' कहने से लोककंठ में दीर्घ परम्परा से चले आ रहे उन गीतों का बोध होता है जिनके रचयिता का कुछ भी पता नहीं है और जिसमें संपूर्ण समाज के उल्लास एवं शोक के क्षणों को अभिव्यक्ति मिलती रही है। किसी भी देश के काव्य एवं साहित्य का मूल स्रोत वहाँ के लोकगीतों की काव्यधारा में सहज ही देखा जा सकता है। लोकगीत आदिम मानव के उल्लासमय संगीत हैं। लोकगीत भी अपनी परम्परा से पूरी तरह जुड़े रहने के बावजूद नये-नये परिवर्तनों के अनुरूप बदलता रहता है।

'लोक' शब्द अत्यंत प्राचीन है जिसकी व्युत्पत्ति और व्याख्या विभिन्न ढंग से की गई है। लोक गीत में 'लोक' शब्द 'आमजन' को व्यंजित करता है जिसे फॉकसोंग कहा जाता है। लोकगीत बुद्धि का कौतूहल नहीं है, सरल हृदय की वाणी है, जिससे शिष्ट एवं पांडित्यपूर्ण साहित्य भी जीवन-रस लेता है। जब हम लोक संस्कृति, लोक साहित्य और लोकगीतों की बात करते हैं तो प्रकारान्तर से ग्राम्य संस्कृति या ग्राम-गीत उपस्थित हो जाते हैं। इनमें एक समूह विशेष के ज्ञान, विश्वास, कला, कानून, जीवन-शैली, चरित्र संबंधी नियम, विश्वास, अंधविश्वास, सुख-दुख एवं अन्य सब कुछ समाहित हो जाते हैं। लोकगीत जातीय स्मृतियों के प्रामाणिक साक्ष्य हैं।

भारत की सभी भाषाओं में लोकगीत मिलते हैं। बिहार की धरती भी लोकगीतों की अकूत सम्पदा से भरी है। यहाँ के लोकगीतों में पूरा भारतीय ग्राम-जीवन मुखर हुआ है। संस्कारगीत, श्रमगीत, ऋतुगीत, व्रत त्यौहार गीत, प्रेम-शृंगार के गीत आदि इसके कई वर्ग किये गये हैं।

महेन्द्र मिश्र, भिखारी ठाकुर, फागु पाण्डेय, बसुनायक, मास्टर अजीज जैसे चेतना सम्पन्न लोगों ने लोकगीत-सर्जन एवं गायन की परम्परा को आगे बढ़ाया है। उनके गीत लोकगीतों की दीर्घ परम्परा की ओर संकेत करते हैं।

संदर्भ-सूची

1. रामचंद्र शुल्क–हिन्दी साहित्य का इतिहासः सत्रहवाँ पुनमुद्रण, सं. 2011 पृ. 407 प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा
2. डॉ. कृष्णदेव उपाध्यायः भोजपुरी लोकगीत, ''जनपद'' वर्ष–1 अंक 1 पृ. 34, सं.– बनारसी दास चतुर्वेदी
3. ह. प्र. द्विवेदीः ''प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद–ग्रंथावली–7, सं. डॉ. मुकुन्द द्विवेदी पृ. 476–राजकमल प्रकाशन
4. हजारी प्रसाद द्विवेदीः हिन्दी साहित्य की भूमिका–पृ. 137
5. रामनरेश त्रिपाठीः ग्रामगीतः भूमिका पृ. 5
6. रामचंद्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहासः पृ. 418

स्वतंत्रतोत्तर भारत में महिला शिक्षा की समस्या

कनक चर्तुवेदी

एसोशिएट प्रोफेसर, शिक्षा विभाग,
एन.आई.ई.सी., बी.बी.डी., लखनऊ

लैंगिक असमानता का अर्थ है, नारियों के साथ पुरुषों के समान विभिन्न क्षेत्रों में एक जैसा बर्ताव न करना। उन्हें विभिन्न पदों पर नियुक्ति के लिए योग्य न समझना। उनको समान अवसर न देना। उन्हें समान कार्य के लिए वेतन आदि न देना। उन्हें एक प्रकार से 'भार' समझना। पुत्र की उत्पत्ति में प्रसन्नता दिखाना आदि।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि संसार में हर क्षेत्र में महिलाएं तथा लड़कियां संसाधनों, अवसरों, प्रशासनिक तथा राजनैतिक सत्ता पाने के समान अवसरों से वंचित हैं। महिलाओं और लड़कियों में भेदभाव के प्रमुख तरीके इस प्रकार हैं:

(i) लड़कियों के स्थान पर लड़कों को प्राथमिकता देना।

(ii) महिलाओं और लड़कियों के लिए सीमित व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक विकल्प।

(iii) आधारभूत मानव अधिकारों से वंचित रखना।

(iv) महिलाओं तथा लड़कियों से मार पीट।

(v) दहेज संबंधी मांगें।

(vi) भ्रूण गर्भपात आदि।

यहां पर संक्षेप में लिंग असमानता के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:

1. संसार में विकसित, प्रगतिशील तथा जनतांत्रिक देश अमरीका में राष्ट्रपति पद कभी किसी नारी को प्राप्त नहीं हुआ। समानता का दावा करने वाले रूस में भी यही स्थिति रही है। यूरोप के लगभग सभी देशों में भी इसी प्रकार की स्थिति है।
2. अमरीका में महिलाओं को मताधिकार 1920 1920 में, फ्रांस में 1945, इटली में 1948 तथा स्विट्जरलैंड में 1973 में दिया गया।

संसार में प्रशासन, संसद तथा अन्य क्षेत्रों में महिलाएं

(i)	संसद में महिलाएं	17%
(ii)	महिला मंत्री	14%
(iii)	महिला शासनाध्यक्ष	6%

तालिका: विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय संसदों में महिलाओं की भागीदारी

क्षेत्र	सभी सांसदों के : के रूप में महिला सांसद	
	जनवरी 1997	मई 2000
(1) नॉर्डिक देश	36	40
(2) उत्तर व दक्षिण अमरीका	13	21
(3) यूरोप (नॉर्डिक देशों को छोड़कर)	14	19
(4) उपसहारीय अफ्रीका	10	17
(5) एशिया	13	16
(6) प्रशान्त	10	12
(7) अरब देश	3	8

देशों की संख्या	खेती के अलावा पुरुषों के वेतन से महिलाओं के वेतन
1. मध्य पूर्व और उत्तर अफ्रीका में 4 देश	81
2. पूर्व एशिया व प्रशांत में 6 देश	80
3. 22 औद्योगिक देश	80
4. संक्रमणकालीन 10 देश	76
5. लैटिन अमरीका व कैरेबियन में 8 देश	73
6. उपसहारीय अफ्रीका में 4 देश	70

	महिला साक्षरता दर
1. अल्पतम विकसित देश	68
2. विकासशील देश	83
3. सीईई/सीआईएस	96
4. लैटिन अमरीका व कैरेबियन	99
5. पूर्व एशिया व प्रशांत	92
6. दक्षिण एशिया	66
7. मध्य पूर्व व उत्तर अफ्रीका	77
8. पश्चिम व मध्य अफ्रीका	69
9. पूर्वी व दक्षिणी अफ्रीका	74

स्रोत: *दुनिया में बच्चों की स्थिति 2008, यूनिसेफ*

संसार में नोबेल पुरस्कार विजेता: नारियों का प्रतिशत: 4.5, पुरुषों का प्रतिशत: 95.5

क्र.सं.	पद	पुरुष	महिला
1.	राष्ट्रपति (कार्यवाहक सहित)	14 (2007 में) श्रीमती प्रतिभा पाटिल	1
2.	उपराष्ट्रपति	12	–
3.	प्रधानमंत्री	18	1
4.	भारत के मुख्य न्यायधीश	36	–
5.	भारत के मुख्य निर्वाचन आयुक्त	13	1
6.	संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष	24	–
7.	थल सेना अध्यक्ष	22	–
8.	नौसेना अध्यक्ष	21	–
9.	वायुसेना अध्यक्ष	20	–
10.	लोक सभा अध्यक्ष	19	–
11.	संसद में सदस्य	92.7%	8.3%
12.	भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS)	90%	10%
13.	जनसंख्या (2001) का औसत 1000 के पीछे	933	

धार्मिक क्षेत्र में लैंगिक भेदभाव

1. हिन्दुओं के सभी शंकराचार्य पुरुष हैं।
2. ईसाईयों में पोप का स्थान पुरुषों के पास रहा है।
3. मुसलमानों में प्राय: सभी धार्मिक नेता पुरुष हैं।
4. अन्य धर्मों की लगभग यही स्थिति है।
5. सभी धर्मों के प्रवर्तक पुरुष रहे हैं।

वेदों में नारी का गौरवपूर्ण स्थान

वेदों में नारी की शिक्षा, शील, गुण, कर्त्तव्य और अधिकारोंका विशद वर्णन है। इस प्रकार का वर्णन संभवत: संसार के किसी भी धर्मग्रंथ में नहीं है। चारों वेदों में सैकड़ों नारी विषयक मंत्र दिए गए हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में नारी का समाज में विशेष स्थान था तथा पुरुषों की भांति उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में बराबर का स्थान प्राप्त था। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के समाज में नारियोंको बहुत गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। स्त्रियां राजनीतिक, सामाजिक तथा प्रशासनात्मक कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं।

ऋग्वेद में 24 और अथर्ववेद में 5 वैदिक विदुषियों का उल्लेख है। ऋग्वेद में इनके 422 मंत्र हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं–सूर्यासावित्री (47 मंत्र), घोषाकाक्षीवती (28 मंत्र), सिकता निवावरी

(20 मंत्र), इंद्राणी (17 मंत्र), यमी वैवस्वती (11 मंत्र), दक्षिणा प्रजापात्या (11 मंत्र), अदिति (10 मंत्र), वाक आम्मृणी (8 मंत्र), अपाला आत्रेयी (7 मंत्र), अगस्त्यस्वसा (6 मंत्र), विश्ववारा आत्रेयी (6 मंत्र), उववीं (6 मंत्र), सरमा देवशुनी (6 मंत्र), देवजामयः इंद्रमातरः (5 मंत्र), श्रद्धा कामायनी (5 मंत्र), नदी (4 मंत्र), सर्पराज्ञी (3 मंत्र), गोधा (22 मंत्र), शश्वती आंगिरसी (23 मंत्र), वसुक्रपत्नी (24 मंत्र), रोमशा ब्रह्मवादिनी (5 मंत्र)।

अथर्ववेद में इनके नाम इस प्रकार हैं–सूर्यासावित्री (139 मंत्र), मातृनामा (40 मंत्र), इंद्राणी (11 मंत्र), देवजामयः (5 मंत्र) तथा सर्पराज्ञी (3 मंत्र)।

अथर्ववेद में इनके नाम इस प्रकार हैं–सूर्यासावित्री (139 मंत्र), मातृनामा (40 मंत्र), इंद्राणी (11 मंत्र), देवजामयः (5 मंत्र), रोमशा ब्रह्मवादिनी (5 मंत्र)।

वेदों में नारी के गौरव का अनेक वर्णन है। नारी को ज्ञान-विज्ञान में निपुण होने के कारण ब्रह्मा बताया गया है। वेदों में कहा गया है–

गृहिणी ही गृह है।	(ऋग्वेद, 3-53-46)
सुशील पत्नी गृहलक्ष्मी है।	(ऋग्वेद, 10-3-5)
नारी कुलपालक है।	(अथर्ववेद, 1-14-3)
नारी कुटुंब की पालक है।	(यजुर्वेद, 14-2)
नारी परिवार की स्वामिनी है।	(ऋग्वेद, 10-85-46; अथर्ववेद, 14-1-11)
नारी समाज में अग्रणी है।	(ऋग्वेद, 10-159-2)
नारी अबला नहीं, सबला है।	(अथर्ववेद 20-16-9)
नारी सरस्वती के तुल्य प्रतिष्ठित हो।	(अथर्ववेद, 14-2-15)
नारी शील, राष्ट्रीय रक्षा तथा कर्त्तव्य की खान है।	(अथर्ववदे, 5-17-3)

ब्राह्मण ग्रंथों में नारी का गौरवः नारी को ब्राह्मण

ग्रंथों में सावित्री कहा गया है।	(जैमिनीय उप. ब्राह्मण, 27-10-17)
पत्नी के बिना जीवन अधूरा है।	(शतपथब्राह्मण 5-2-1-11)
स्त्रियों का अपमान निंदनीय है।	(शपपथब्राह्मण, 11-4-3-2)
पत्नी गृहलक्ष्मी है साक्षात् श्री है।	(तैत्तिरीयब्राह्मण, 3-9-4-7)

यत्र नार्यस्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तजाफलाः क्रियाः।।

''जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवताओं का निवास होता है। जहां इनका आदर नहीं होता या इनका अपमान होता है, वहां सारे धर्म-कर्म निष्फल हो जाते हैं।''

(मनुस्मृति, 3-56)

जो अपने परिवार का कल्याण चाहते हैं, वे स्त्रियों का सदा सम्मान करें।

(मनुस्मृति, 3-56)

यजुर्वेद (36-2) में कहा गया है कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का पूरा अधिकार है। अथर्ववेद (11-16-3-18) में उल्लेख है कि लड़कियां लड़कों के समान ब्रह्मचर्य को धारण करके शिक्षा ग्रहण करें।

ऋग्वेद (2-19-17) में वर्णित है कि स्त्रियों पर ही जीवन आधारित है और वे शिक्षा प्रदान करती हैं।

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म ने भी स्त्री शिक्षा का समर्थन किया है।

प्राचीन काल नारी शिक्षा की दृष्टि से समृद्ध युग था।

भारतीय संविधान में नारी समानता संबंधी प्रावधान

(1) अनुच्छेद 14 के द्वारा महिलाओं को पुरुषों के समान ही कानून के समक्ष समानता तथा कानून के अनुसार संरक्षण का अधिकार दिया गया है।

(2) अनुच्छेद 15(1) के अनुसार लिंग के आधार पर राज्य किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं करेगा। अर्थात् महिलाओं के साथ भेद-भाव नहीं करेगा। इसके साथ ही अनुच्छेद 16 के अधीन रोजगार और नियुक्तियों में महिलाओं को भी बिना भेदभाव के समान अवसर प्रदान किये गये हैं।

(3) अनुच्छेद 15(3) महिलाओं के विकास के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण संवैधानिक प्रावधान है। इसके अनुसार राज्य को यह शक्ति दी गई है कि वह स्त्रियों व बालकों के लिए विशेष कानून बना सके। महिलाओं के लिए विभेदकारी कानून बनाने की शक्ति राज्य को इसलिए दी गई है जिससे वे मातृत्व रूपी प्राकृतिक दायित्व को निभा सकें तथा सदियों से पुरुष प्रधान समाज के कारण उन पर हो रहे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक व सामाजिक शोषण का सामना कर सकें।

(4) धारा 39(ख) के अनुसार पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन।

पंचायती राज में महिला-आरक्षण: इस संबंध में निम्न अनुच्छेदों का उल्लेख करना आवश्यक है:

(a) *पंचायती संस्थाओं में आरक्षित पद:* अनुच्छेद 243घ(4) के अनुसार पंचायती संस्थाओं के प्रत्येक स्तर पर अध्यक्षों के कम से कम एक तिहाई (1/3) पद महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे।

(b) अनुच्छेद 243न(4) के द्वारा व्यवस्था की गई है कि नगरपालिका संस्थाओं में अध्यक्षों के पदों की कुल संख्या के कम से कम (1/3) पद महिलाओं के लिए आरक्षित रहें।

सभी राज्यों ने 73वें और 74वें संविधान संशोधनों के अनुसार अपने-अपने राज्यों में कानून बनाकर महिलाओं को आरक्षण की व्यवस्था की है।

लड़कियों/नारी शिक्षा का महत्व

(1) वेदों में नारी शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया गया है तथा इस पर बहुत जोर दिया गया है।

(2) स्वामी दयानन्दजी ने जोरदार शब्दों में कहा था कि राष्ट्र, समाज, प्रशासन तथा परिवार के क्रिया-कलाप तब तक उचित ढंग से नहीं किए जा सकते, जब तक स्त्रियों को शिक्षा न मिले।

(3) स्वामी विवेकानन्द का कहना था कि वही देश उन्नति कर सकते हैं, जहां स्त्रियों को उचित स्थान दिया जाता है तथा उनकी शिक्षा का भी उचित प्रबंध किया जाता है।

(4) गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि स्त्रियों को वही शैक्षिक सुविधाएं दी जाएं जो पुरुषों के लिए हों। यदि हो सके तो उन्हें विशेष सुविधाएं मिलनी चाहिए।

(5) पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था कि लड़के की शिक्षा केवल एक व्यक्ति की शिक्षा है। किन्तु एक लड़की की शिक्षा सारे परिवार की शिक्षा है।

(6) विश्वविद्यालय आयोग (1948-49) ने स्त्री शिक्षा का महत्व इस प्रकार बताया है: 'स्त्री शिक्षा के बिना लोग शिक्षित नहीं हो सकते। यदि शिक्षा को पुरुषों अथवा स्त्रियों के लिए सीमित करने का प्रश्न हो तो यह अवसर स्त्रियों को दिया जाए; कयोंकि उनके द्वारा ही भावी संतान को शिक्षा दी जा सकती है।'

(7) श्रीमती हंसा मेहता समिति (1962) का कथन है कि यदि नए समाज का निर्माण ठोस आधार पर करना है तो स्त्रियों को वास्तविक और प्रभावपूर्ण ढंग से पुरुषों के समान अवसर देने होंगे।

(8) शिक्षा आयोग (1964-66) ने लिखा है–'स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों की शिक्षा से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। लड़कियों की शिक्षा पर जितना भी जोर दिया जाए, उतना थोड़ा है।'

इस शिक्षा आयोग ने स्त्रियों की शिक्षा पर निम्नलिखित कारणों से बल दिया है:

1. स्त्री शिक्षा का हमारे मानवीय संसाधनों के पूर्ण विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान है।
2. स्त्री शिक्षा से घरों का सुधार होता है।
3. स्त्रियों की शिक्षा का शैशव के सर्वाधिक संस्कारमय वर्षों में चरित्र के निर्माण में अपना विशेष स्थान है।
4. स्त्रियों की शिक्षा प्रसवन-दर को घटाने में काफी सहायता कर सकती है।
5. घर की चारदीवारी के बाहर स्त्रियों का कार्य आज देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है और आगामी वर्षों में वह और भी बड़ा आकार ग्रहण कर लेगा, जिसका प्रभाव अधिकतर स्त्रियों पर पड़ने लगेगा।

(9) 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि महिलाओं को शैक्षिक तथा सामाजिक दृष्टि से समान स्तर पर लाने के लिए विशेष कार्य-कलापों की आवश्यकता है। राष्ट्र-निर्माण के कार्य में सुशिक्षित महिलाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। लड़कियों तथा महिलाओं की शिक्षा योजना विशेष रूप से तैयार करने की आवश्यकता है और इस कार्य के लिए वित्तीय साधनों की व्यवस्था करनी होगी।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) की लड़कियों की शिक्षा के बारे में संतुतियां

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र एवं उनकी शिक्षा

संसार प्रबहजशील है, अत: स्त्रियों के कार्यक्षेत्र में भी प्रगतिशीलता है। अब वह समय नहीं रहा, जबकि स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बंद रखा जाए। इस संबंध में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं–

'घर की देखभाल करना स्त्रियों का मुख्य कार्य है और आगे भी रहेगा। फिर भी उनका संबंध सीमित नहीं रहना चाहिए। विभिन्न परिस्थितियों के कारण उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की ऐसी रूपरेखा बनाएं जो उनका जीवन सफल बनाने में सहायक हो। एक शिक्षक ने लिखा कि स्त्री शिक्षा तो एक घटना मात्र थी। इसके लिए किसी ने योजना नहीं बनाई थी।

आयोग ने निम्नलिखित संतुतियां कीं:

1. कॉलेज में जीवन की जो सुविधाएं प्रारंभ में लड़कों को दी गई थीं, वे लड़कियोंको भी उपलब्ध कराई जाएं, भले ही वे कॉलेज पहले लड़कों के लिए खोले गए हों।

2. स्त्री शिक्षा मेंकमी न की जाए, बल्कि इसे बढ़ावा दिया जाए।

3. स्त्रियों को उनकी शिक्षा की वास्तविक अभिरुचियों से अवगत कराने के लिए उचित शिक्षा निर्देशन का कार्य योग्य व्यक्ति करें, जिससे वे पुरुषों का अनुकरण न करें; बल्कि पुरुषों की भांति अच्छी शिक्षा प्राप्त करें और अपना ध्येय बनाएं। स्त्रियों और पुरुषों में कुछ समानता होनी चाहिए, परंतु वह एक-सी न हो, जैसी कि आज है।

4. छात्राओं की इस प्रकार साधारणतया सहायता करनी चाहिए कि वे सामान्य समाज में अपना स्थान सभ्य नागरिक के रूप में पहचान लें और अपने को इसके अनुरूप बना सकें। कॉलेज की शिक्षा इस प्रकार की हो कि यह लक्ष्य प्राप्त हो सके।

5. शिक्षा निर्देशन कार्य इस प्रकार किया जाए कि लड़कियां गृहविज्ञान के अध्ययन के प्रति उदासीन न रहें।

6. सहशिक्षा वाले कॉलेजों में पुरुषों पर इस बात का दबाव डाला जाए कि वे शालीनता रखें और सामाजिक जिम्मेदारी का अनुभव करें।

7. जहां लड़के-लड़कियों के लिए नए कॉलेज बनाए जाएं।

8. समान कार्य के लिए स्त्री और पुरुष अध्यापकों को समान वेतन दिए जाएं।

तेरह से अठारह वर्ष की आयु तक के लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूल

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का विचार था कि आम राय ऐसी मालूम होती है कि तेरह या चौदह वर्ष की आयु से लगभग अठारह वर्ष की आयु तक लड़के-लड़कियों के विद्यालय अलग-अलग हों। आयोग ने अनुभव किया कि यह स्पष्ट नहीं होता कि इस विचारधारा का आधार रीति-रिवाज हैं अथवा अनुभव।

कॉलेज में सहशिक्षा

आयोग की सिफारिशों के अनुसार कॉलेज में प्रवेश की आयु लगभग अठारह वर्ष होगी। अत: कॉलेज में सहशिक्षा हो सकती है, जैसा कि आज तक मैडिकल कॉलेजों में है। इस स्तर पर अलग-अलग कॉलेजों के बनाने में आवश्यक रूप से व्यय की वृद्धि होगी। लड़के-लड़कियोंके लिए अलग-अलग कॉलेज बनाने से दोहरे उपकरणों की आवश्यकता होगी, जो अभी पर्याप्त नहीं हैं और इनका भार हमारे सीमित साधनों पर पड़ेगा। लड़कियों के अलग कॉलेजों में साधारणतया निम्न कोटि के उपकरण, अपेक्षाकृत कम योग्यता वाले अध्यापक और अनुपयुक्त विद्यालय भवन होते हैं। यथासंभव कॉलेज स्तर पर सहशिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाए।

References

Aluede, O. O., Adomeh, I. O. C., & Afen-Akpaida, J. E.: *Education*, Winter, 2004.

Betz, N.: *Handbook of Counseling Psychology*, Wiley, NY, 2008.

Brigman, G., & Early, B.: *Group Counseling for School Counselors: A Practical Guide*, Walch, Portland, ME, 2001.

Carr, W. & Kemmis, S. : *Becoming Critical: Education, Knowledge and Action Research*, London, Falmer, 1986.

Donaldson, Gordon A. : *Cultivating Leadership in Schools*, New York, College Press, 2001.

Elliott, J. : *Action Research for Educational Change*, Milton Keynes, Open University, 1991.

Giroux, H. : *Critical Theory and Educational Practice*, Geelong, Australia, Deakin University, 1983.

Henderson, D. A. & Thompson, C. L.: *Counseling Children*, Brooks/Cole/Cengage, New York, 2010.

Lovett, T. : *Adult Education, Community Development and the Working Class*, London, Ward Lock, 1975.

McConnell, C. : *Community Education: The Making of an Empowering Profession*, Edinburgh, Scottish Community Education Council, 1996.

Stone, C. B., & Dahir, C. A.: *School Counselor Accountability: A MEASURE of Student Success*, Pearson, Boston, MA, 2011.

Thomas, A. : *Educating Children at Home*, London, Cassell, 1998.

Williams G. : *Paying for Education beyond Eighteen: An Examination of Issues and Options*, Council for I0ndustry in Higher Education, London, 1996.